अपभ्रंश भाषा और साहित्य

डॉ॰ देवेन्द्रकुमार जैन

*

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–१५२
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 152
APABHRAMŚA BHĀṢĀ AUR
SĀHITYA
(Thesis)
Dr. Devendra kumar Jain
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1965
Price Rs. 10.00

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६५
मूल्य १०.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

श्रद्धेय डॉ० हीरालाल जैनको,

जिनका जीवन, अपभ्रंशकी खोज-खबरकी कहानी है,

जिनकी स्वरलहरी, अपभ्रंशके काव्य-सौन्दर्यकी रंगभूमि है,

और जिनका चरित्र, साधुताका प्रतीक है।

प्रास्ताविक

जिस भाषा और साहित्यकी चर्चा आगे की गयी है, उसकी खोज-खबरकी कहानी पचास साल पुरानी है। वैसे सन् १८७७ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशल, हेमचन्द्रके 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के प्राकृत अंशका सम्पादन कर चुके थे, फिर भी अपभ्रंशपर शोध-कार्यका प्रारम्भ उस समयसे होता है जब सन् १९०२ में पिशल महोदयने अपना 'मारेरी अलिएन सुर केण्टिनस डेस अपभ्रंश' लेख प्रकाशित किया। तबसे अबतक जो शोध कार्य हुआ, उसकी कुल तीन भूमिकाएँ हैं—पहली भूमिकापर तर्क और तथ्य इस बातपर केन्द्रित रहे कि क्या अपभ्रंश लोकभाषा थी। दूसरी भूमिकापर आकर इसके साहित्यकी सम्पादन-प्रकाशन-परम्परा प्रारम्भ होती है। पिशल, जैकोबी, आल्सफोर्ड, दलाल (चमनलाल डाह्याभाई), डॉ० गुणे, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० पी० एल० वैद्य, मुनि जिनविजय, डॉ० उपाध्ये, डॉ० वेलणकर, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र, और डॉ० भायाणीके नाम इस दिशामें उल्लेखनीय हैं। हिन्दी साहित्यके सन्दर्भमें इस साहित्यको परखनेवाले पण्डितोंमें स्व० प्रेमीजी, राहुल सांकृत्यायन, स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका नाम आता है। तीसरी भूमिकापर आकर दो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुए—एक डॉ० हरवंश कोछड़का 'अपभ्रंश साहित्य' और दूसरा, डॉ० रामसिंह तोमरका 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दीपर प्रभाव।' प्रस्तुत कृतिका शीर्षक, डॉ० कोछड़की कृतिसे मिलता-जुलता है, परन्तु पाठक देखेंगे कि मेरे अध्ययनका लक्ष्य, मानदण्ड और सीमाएँ भिन्न हैं। मेरा प्रबन्ध सन् १९५६ मे पूरा हो चुका था, और १९५७ मे उसपर पी-एच० डी० मिल चुकी थी, परन्तु नाना कारणोंसे वह इस रूपमे अब प्रकाशमें आ रहा है।

इस प्रबन्धकी रूपरेखा, स्व० आचार्य केशवप्रसादजी मिश्रके निर्देशनमे (सन् १९५१) तैयार हुई थी और प्रबन्धकी समाप्ति (सन् १९५६) में डॉ० हीरालालजीके निर्देशनमे। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता

प्रकट करता हूँ। इस अवसरपर मैं आदरणीय दलसुख भाई और भाई लखमीचन्द्रजीको नहीं भूल सकता, जिनकी आत्मीयता, मेरे अस्तित्वका आधार है।

—देवेन्द्रकुमार जैन

११ नवम्बर १९६५
हिन्दी विभाग,
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर।

सांकेतिकी

अ० का० त्र०	अपभ्रंश काव्यत्रयी
उप० र० रा०	उपदेश रसायन रास
कर० च०	करकंड चरिउ
का० स्व० कु०	काल स्वरूप कुलकम्
जस० च०	जसहर चरिउ
प० च०	पउम चरिउ
प० सि० च०	पउम सिरि चरिउ
पा० दो०	पाहुड़ दोहा
पर० प्र०	परमात्मप्रकाश
पिंगल	प्राकृत पैंगलम्
पु० हिं०	पुरानी हिन्दी
बौ० गा० दो०	बौद्धगान दोहा
भवि० क०	भविसयत्तकहा
सा० ध० दो०	सावयधम्म दोहा
सं० रा०	सन्देश रासक
णा० कु० च०	णायकुमार चरिउ
यो० सा०	योग सार
हिस्० सं० लि०	हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर
हिस्० ग्रा० अप०	हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ़ अपभ्रंश
हिं० सा० आ० का०	हिन्दी साहित्यका आदिकाल
हिं० सा० इति०	हिन्दी साहित्यका इतिहास
हिं० सा०	हिन्दी साहित्य
ह० सां० अ०	हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
जैन० सा० इति०	जैन साहित्य और इतिहास
जैन० सि० भा०	जैन सिद्धान्त भास्कर
जैन० हिस्० इं० लि०	जैन हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर
का० सू०	काम सूत्र
का० मी०	काव्यमीमांसा

काव्या० सू० १	काव्यालंकार सूत्राणि
काव्या० शा०	काव्यानुशासन
कवि० र०	कवित्त रत्नाकर
काव्या० सा० स०	काव्यालंकार सार सर्वस्व
छं० अ०	छन्दोनुशासन
छं० को०	छन्द कोश
गा० ल०	गाथा लक्षण
सं० सा० इति०	संस्कृत साहित्यका इतिहास
सिं० अ०	सिद्धान्त और अध्ययन
सा० द०	साहित्य दर्पण
स्व० छं०	स्वयंभू छन्द
चिं० म०	चिन्तामणि
चौ० कु०	चौलुक्य कुमारपाल
अर्थशा०	अर्थशास्त्र
अने०	अनेकान्त
अलं० स०	अलंकार सर्वस्व
आ० क० म०	आधुनिक कवि महादेवी वर्मा
आ० क० सु०	आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्त
वि० लो० को०	विश्वलोचन कोश
वि० ध० द०	विश्वधर्म दर्शन
वृ० जा० स०	वृत्त जाति समुच्चय
नाथ सं०	नाथ सम्प्रदाय
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
प्रा० भा०	प्राकृत भाषा
प्रा० व्या०	प्राकत व्याकरण
पिंगल	प्राकृत पैंगलम्
भा० आ० भा० हि०	भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी
भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० जा० भे०	भारतवर्षमें जाति भेद
राम० च० मा०	रामचरित मानस
री० का० भू०	रीतिकालकी भूमिका
भा० आ० भा०	भारतीय आर्य भाषा

म० भा० आ० भा०	मध्य भारतीय आर्य भाषा
आ० का०	आदिकाल
म० म०	महामहोपाध्याय
अ० का०	अयोध्याकाण्ड
वि० का०	विद्याधर काण्ड
सं०	संख्या

लेखक

डॉ० विंटर०	विंटरनित्स,
डॉ० पण्डित	डॉ० प्रबोध पण्डित
डॉ० द्विवेदी	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
आ० शुक्ल	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
डॉ० अग्रवाल	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
डॉ० चाटुर्ज्या	डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी
डॉ० तिवारी	डॉ० उदयनारायण तिवारी
जैकोबी	हरमन जैकोबी
उपाध्याय	बलदेव उपाध्याय
डॉ० उपाध्ये	डॉ० ए० एन० उपाध्ये
प्रेमी	श्री नाथूराम प्रेमी
डॉ० भायाणी	डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी
डॉ० कोलते	डॉ० विष्णु भिका कोलते
सांवलिया वर्मा	सांवलिया विहारीलाल वर्मा
निराला	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
देवी वर्मा	महादेवी वर्मा
कवि पन्त	सुमित्रानन्दन पन्त
जायसी	मलिक मुहम्मद जायसी
व्यास	लक्ष्मीशंकर व्यास, एम० ए०
डॉ० हान्दिकी	डॉ० कृष्णकान्त हान्दिकी
डॉ० कीथ	डॉ० वेरिडेल कीथ
डॉ० तगारे	डॉ० गजानन वासुदेव तगारे
शास्त्री	के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री

●

अनुक्रम

•

अपभ्रंश भाषा और साहित्य

●

अपभ्रंश भाषा

प्राकृत और अपभ्रंश

अपभ्रंश मध्यकालीन प्राकृतकी अन्तिम अवस्था है। नव्य भारतीय आर्य भाषाओंको समझनेके लिए इस अवस्थाका अध्ययन उतना ही आवश्यक है जितना इसे समझनेके लिए पुरानी आर्य भाषाका। अपभ्रंशके अध्ययनका महत्त्व इस बातसे भी कूता जा सकता है कि वह प्राचीन आर्य भाषा और नव्य भारतीय आर्य भाषाओंके बीचकी एक मात्र कड़ी है। इसकी उपेक्षा करना नव्य भारतीय आर्य भाषाओंके विकासको समझनेका महत्त्वपूर्ण सूत्र खो देना है। भाषा एक भूमिकाको पार करके ही दूसरे रूपको ग्रहण करती है। यह धारावाहिकता भाषाके इतिहासमें बहुत महत्त्व रखती है। अपभ्रंशको बीचकी भूमिका मान लेनेपर उससे पहलेकी भूमिकाको जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक है। भाषाविदोंका मत है कि अपभ्रंश प्राकृतकी अन्तिम अवस्था है, परन्तु स्वयं प्राकृत क्या है, यह भी एक समस्या है। डॉ० प्रबोध पण्डितके अनुसार प्राकृत भाषा भारतमें आयी हुई आर्य भाषाके विकासकी एक अवस्था है और इसलिए प्राकृत भाषाएँ भारतके भाषा-इतिहासकी अत्यन्त आवश्यक भूमिका हैं। (प्रा० भा० पृ० १)। दूसरे शब्दों में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं और प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा (देवभाषा), इन दो स्वरूपोंके बीच, जो भारतीय भाषा-इतिहासकी अवस्था है उसीको हम प्राकृत नाम दे सकते हैं।

भाषाविषयक इतिहासकी दृष्टिसे आर्य भाषाकी तीन भूमिकाएँ हैं : पहली भूमिका वह है, जब आर्य भाषाको इस देशमें फैली दूसरी भाषाओंसे मुक़ाबला करना पड़ा, धीरे-धीरे वह अपनी जड़ जमानेमें सफल हुई। उसमें साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों तक यह भूमिका देखी जा सकती है। संस्कृत इसीका अन्तिम आदर्श रूप है, यद्यपि इसपर अनार्य प्रभाव भी काफ़ी है।

दूसरी भूमिकामें आकर आर्य भाषा स्थल और समयके आधारपर नाना रूपोंमें गतिशील हुई। आर्येतर प्रजाओंने भी उसे अपनाना शुरू कर

दिया। इससे देश और कालके भेदके कारण, नाना प्राकृतोंकी सम्भावना हुई। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश, ये उसके तीन मोटे विभाग माने जा सकते हैं।

तीसरी भूमिकामें आकर यह बढ़ाव एकोन्मुख न होकर बहुमुखी हो उठा, वियोगावस्थाके कारण भाषाओंकी गठन प्रकृति प्रत्यय आदिकी व्यवस्थामें अनेकरूपता आ गयी और उससे हरेक भाषाने अपना अलग व्यक्तित्व बना लिया।

इयुभाषा—ये भारतीय आर्य भाषाकी भूमिकाएँ हैं। समूची आर्य भाषाका विकास, इससे भी पुराना और अज्ञात है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि पहले-पहल आर्य भाषाका प्रवेश कब हुआ। विकासवाद, तुलनात्मक पद्धति आदि आधुनिक नाना विचार-शैलियोंसे प्रभावित होकर भाषाओंकी जो तुलनात्मक समीक्षा हुई, उससे ये तथ्य निश्चित किये गये हैं . १. विश्वकी भाषाएँ कई कुलोंमें विभक्त हैं। २. इनमें भारोपीय कुल सबसे बड़ा है। ३. इस कुलकी भाषाओंकी कोई मूल भाषा थी। ४. यह मूल भाषा 'इयु' भाषा कही जाती है। ५. इसकी बोलियाँ तो हैं पर इसका प्राचीन रूप विद्यमान नहीं। इसलिए इसके प्राचीन स्वरूपकी पुनर्घटना (हाइपोथेटिकल रिकस्ट्रक्शन्स) की जाती है। 'इयु'[1] भाषाकी तरह उसकी प्रजाके बारेमे बहुत थोड़ा ज्ञात है। पण्डितोंका अनुमान है कि मेसोपोटेमिया होकर यह प्रजा भारत आयी। कोई दो हजार वर्ष पहले उसकी यात्रा प्रारम्भ हुई। पाँच-सौ वर्ष बाद यह उस ठिकाने आ चुकी थी जिसे हम भारोपीय केन्द्र कहते हैं। सर्वसाधारण शब्दोंकी तुलनाके द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इयु प्रजाका आदि निवास लिथूनियासे लेकर दक्षिण रूसके बीच कहीं था[2]। 'इयु'को आर्य भी कहते हैं। इस दूसरे केन्द्रसे भारोपीय गणके लोग कई भागोंमे बँट गये। इस गणकी पूर्वी बोली, 'भारत ईरानी' का हमारे लिए विशेष महत्त्व है। भारतकी प्राचीन आर्य भाषा और ईरानकी पुरानी भाषा-वैदिक भाषा और अवेस्तामें सबसे अधिक समानता है। इयुकी ध्वनियोंका भारोपीय अवस्थामे जो परिवर्तन प्रारम्भ हुआ था, वह इस कालमें और भी बढ़ गया। उदाहरणके लिए इयुके तीन

---

१. इयुके लिए दूसरा शब्द 'Veros' गढ़ा गया है, जो इयु ही है, इसका संस्कृत शब्द 'वीरः' होता है।

२. प्रा० भा० पृ० ८-९।

स्वर ह्रस्व, दीर्घ 'अ, ए, ओ' का भेद भारत ईरानीमें आकर लुप्त हो गया। दीर्घ काल तक एक जगह रहनेके बाद ये प्रजाएँ भिन्न हुईं। इससे उनकी भाषा और विकास-धारा भी अलग-अलग हो गयी। भारतमें आये हुए आर्योंका प्राचीनतम साहित्य वेद है, यही पुरानी भारतीय आर्य भाषा है। इस साहित्यमें जिस समाज और संस्कृतिका वर्णन है, उसपर भारत ईरानी अवस्थाकी छाप अवश्य है। ऋग्वेद एक व्यक्ति या एक कालका साहित्य नहीं है। वह प्रजाकी रचना न होकर पुरोहित साहित्य है। ब्लूम फ़ील्डने बताया है कि ऋग्वेदके १।५ पादकी १५ बार पुनरावृत्ति है। इससे यह फलित होता है कि खास तरहके वाक्य और शब्दप्रयोग, विप्रगणोंमें प्रचलित थे। पद्यरचनामें इन्हीं प्रचलित शब्दोंका व्यवहार किया जाता था। ऋग्वेदका कवि बार-बार यह दोहराता है 'जैसे कोई सूथार, रथके विभिन्न अंगोंको इकट्ठा करके रथ बनाता है, वैसे मैं भी काव्यको बनाता हूँ।' फिर भी अथर्ववेद तक आते-आते उसमें भी परिवर्तन होने लगा। जैसे ऋग्वेदका 'चर' ∠ IE⋆K"e' जो 'ईरानीमे Chraiti होता है अथर्वमें 'चल' हो गया। ध्वनियोमें ही नहीं रूपोंमे भी यह प्रभाव लक्षित होता है। यह एक विचित्र बात है कि प्राचीन भारतीय भाषाका रूप विद्यमान है। पर उससे विकसित बोलियोंका रूप नहीं मिलता। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाका केन्द्र उत्तर मध्यदेश था। आर्योंके इस केन्द्रकी भाषा शिष्ट मानी गयी। पाणिनिने उसका व्याकरण लिखा। इस प्रकार संस्कृतके विकासमें विप्र और शिष्ट प्रभाव है। लेकिन इस केन्द्रके आस-पास प्राकृत बोलियोंका स्वाभाविक विकास होता रहा। ई० पूर्व पाँचवीं शतीमें इनमें नया जीवन आया, यहींसे भारतीय आर्य भाषाकी दूसरी भूमिका शुरू हुई।

आर्य भाषा और प्राकृत

बुद्ध और महावीरके नवीन आन्दोलनोंसे भारतीय भाषाओंमें नवीन प्रभाव आया। इनमें वैदिक भाषाकी अपेक्षा अनार्य प्रभाव अधिक है।[1] इसका एक कारण यह भी है कि ये महापुरुष पूर्वमें उत्पन्न हुए। अतः वहाँकी जनतामें प्रचार करनेके लिए इन्हें अधिक प्रयत्न करना पड़ा। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि बोलियाँ भी धर्म और साहित्यका माध्यम बनने लगीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि संस्कृत लुप्त हो गयी; प्रत्युत वह अधिक गतिशील हो उठी। अब यह यज्ञ-अनुष्ठान और तत्त्व

१. भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ३३–३६।

चिन्तन तक सीमित न रहकर, दैनिक विषयों और जन-जीवनकी ओर मुड़ी। मानो उसे भी प्राकृतोंकी तरह लोकप्रिय बनना पड़ा। उसका क्षेत्र और साहित्य विकसित हुआ। इस युगमें कई साहित्य-स्वरूप ऐसे हैं जो बाहर-से संस्कृत हैं, अर्थात् जिनपर संस्कृतका आवरण है किन्तु नीचे-नीचे प्राकृत प्रवाह है। इस सम्बन्धमें डॉ० हेमचन्द्र जोशी कहते हैं, "इनका (प्राकृतों-का) ठीक वही हिसाब है जो संस्कृतका है, जो शिक्षित भारतीयकी सामान्य बोलचालकी भाषा नहीं है और न इसमें बोलचालकी भाषाका पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनताके द्वारा बोली गयी किसी भाषाके आधारपर बनी थी, और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास-की परम्पराके कारण यह भारतकी सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृतोंको संस्कृतकी भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाये। केवल संस्कृतको ही मूल समझना जैसा कि कुछ विद्वान् (होएफर लास्सन, भण्डारकर और याकोबी) समझते हैं, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओं और वैदिक व्याकरण और शब्दोंका नाना स्थलोंमें साम्य है, और ये बातें संस्कृतमें नहीं पायी जातीं। जैसे :

१. सन्धिके नियम भिन्न हैं।
२. स्वरोंके बीच ड ढ को ळ और ळ्ह होता है।
३. प्राकृत त्तण वैदिक त्वन है।
४. स्त्रीलिंग षष्ठी एकवचनका आए वैदिक आयै के समान है।
५. एहिं का वैदिक एभिः से साम्य है।
६. प्राकृत ता जा एत्थ वैदिक तात यात इत्था से मिलते हैं।
७. प्राकृत अम्हे वैदिक अस्मे।
८. प्राकृत पासो (आँख) वैदिक पश।
९. अपभ्रंश दिवे दिवे वैदिक दिवे दिवे
,, माइं ,, माकीम्
,, वाइं ,, नाकीम् इत्यादि।[1]

प्राकृतका, ग्रामीण और नगर प्रजामें समन्वय करानेका यह प्रयत्न बहुत सफल रहा। महाभारतकी रचना इसी सफलताका प्रतीक है। लेकिन उत्तरकालीन संस्कृत, एकदम रूढ़ और क्लिष्ट हो गयी। डॉ० चाटुर्ज्याके अनुसार भाषाओंकी दृष्टिसे बुद्धके समय देशके तीन भाग थे :

---

१. प्रा० भाषाओंका व्याकरण पृ० ६।

उदीच्य, मध्य देशी और प्राच्य। इनमें उदीच्य भाषा अब भी वैदिक भाषाके निकट थी; पर प्राच्य बोलियाँ काफ़ी दूर होती जा रही थीं। इस प्रकार भाषाका एक रूप छान्दस या आर्ष था। यह भारतीय आर्य भाषाका प्राचीनतम साहित्यिक रूप है। दूसरा रूप मध्य देशका था। यह व्यवहारका माध्यम था। यह अपेक्षाकृत नया रूप था जिसमें मध्य देश और पूर्वी प्रादेशिक भाषाओंका यथेष्ट प्रभाव था। यह भाषा शिक्षण, धार्मिक कर्मकाण्ड और दार्शनिक चिन्तनके लिए प्रयुक्त होती थी। इससे पूर्वकी भाषा कितनी दूर थी, यह इसीसे समझा जा सकता है कि जब बुद्धसे उनके दो प्रमुख शिष्योंने उनकी वाणीका संस्कृतमें अनुवाद करनेकी अनुमति माँगी तो उन्होंने साफ़ इनकार कर दिया। फलतः प्राकृतोंमें ही उनके प्रवचनोंको निबद्ध किया गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये भाषाएँ बोलचालकी प्राकृतोंका प्रतिनिधित्व करती हैं, ये भी यथार्थमें संस्कृतकी तरह शिष्ट प्राकृतें हैं। डॉ० जोशी कहते हैं, "स्वयं अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंमें भाषाको व्याकरणसम्मत बनानेके प्रयत्नमें लेखकोंने साहित्यिक भाषाका रूप देकर उसे इतना सँवारा कि साधु और प्रचलित दो भिन्न भाषाएँ बन गयीं, जिनमें बहुत कम साम्य रह गया। इसपर भी प्राकृत तथा अपभ्रंशमें हिन्दीके व्याकरणका इतिहास स्पष्ट रूपसे मिलता है, और विशुद्ध हिन्दी शब्दोंकी व्युत्पत्ति उसमें मिलती है, क्योंकि जो शब्द वैदिक रूपमें तथा संस्कृतसे घिसते-मँजते प्राकृत यानी जनताकी बोलीमें काम आने लगे उनका रूप बहुत बदल गया और कुछका रूप ऐसा हो गया कि पता नहीं लगता कि ये देशज थे या संस्कृत।" इनका शोध संस्कृत-द्वारा नहीं, प्राकृतोंके अध्ययन और ज्ञानसे सरल हो जाता है।[1]

बुद्धके निर्वाणके बाद, दो सौ छत्तीस वर्षोंके भीतर तीन बौद्ध संगीतियाँ बैठीं। जिनमें परम्पराके आधारपर बुद्धवचनोंका संकलन किया गया। यह होनेपर भी उसमें प्राकृतोंका प्राचीन रूप लक्षित नहीं रह सका। इसके निम्न कारण थे :

१. बुद्धवचन अनेक प्रान्तों और मठोंके भिक्षुओंकी स्मृतिमें संचित थे।

२. दूसरी वाचनामें मूल उपदेशकी भाषापर पश्चिमी प्रभाव पड़ा।

३. शिष्ट मागधीमें ही भिक्षुओंने उसे सुरक्षित रखा।

४. वह बहुत बादमें लिपिबद्ध हुआ। कुछ तो अशोकके समय लिपि-

---

१. प्रा० भाषाओंका अध्ययन पृ० ४५।

बद्ध हुआ और कुछ सिंहलमें। अशोकपुत्र पहले उज्जैनमें रहा, फिर सिंहल गया। इन तथ्योंको हम पालिके भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे विचार करते हुए भुला नहीं सकते।

५. अतः पालि किसी खास प्रदेशकी भाषा नहीं है, पण्डित लोग उसे मिश्रित भाषा कहनेके पक्षमे हैं, किन्तु इसके मूलमें किस भाषाका प्रभाव है यह बताना कठिन है।

इस प्रकार, ब्राह्मणोंके उत्तरकालकी प्राकृत भाषाको समझनेका आधार जैनोंका अंग साहित्य हो सकता था। क्योंकि यद्यपि महावीर उत्तर मगधके थे, पर अनेक कारणोंसे इसकी भी प्राचीन मौलिकता सुरक्षित नहीं रह सकी। ई० पूर्व ४थी सदीके लगभग पाटलिपुत्रमें आगम-साहित्यकी व्यवस्था हुई, पर उसके बाद आठ सौ साल तक यह साहित्य अछूता ही रहा। छठीं सदीमे भिन्न-भिन्न प्रतियोंको मिलानेकी प्रवृत्ति चली। उसमें शुद्ध पाठकी अपेक्षा मिश्रित पाठ-परम्परा खड़ी होती है। यद्यपि महावीर-के आगमोंकी भाषा मागधी है परन्तु उसकी साहित्यिक संघटना एक हज़ार वर्ष बाद हुई। दोनोंमे अन्तर होना स्वाभाविक है। फिर भी पालिकी अपेक्षा उसमे कुछ प्राचीनता और तारतम्य है। डॉ० पण्डितके अनुसार इसके तीन कारण है : १. इस भाषाका प्रचार कम था। २. जैन विहारमठ कम थे और ३. बहुतेरा आगम साहित्य नष्ट हो गया। जो बचा वह उतना मिश्रित नहीं है। अशोकके शिलालेखोंकी प्राकृतमें (२७०–२५० ई० पूर्व तक) क्षेत्रोंकी दृष्टिमे चार बोलियाँ मिलती है : १. उत्तर-पश्चिमके लेख, २. गिरनारके लेख, ३. गंगा-जमुना और महानदीके बीच तक पाये जानेवाले लेख, और ४. दक्षिणके लेख। इनमे कुछ अपवाद छोड़ देनेपर प्रायः पूर्वी प्राकृतका साहित्यिक रूप मिलता है। डॉ० पण्डितने इन तीन रूपोंको लेकर, बुद्ध और महावीरके समयकी प्राकृतोंपर विचार-करनेका सुझाव दिया है। भारतके बाहर भी कुछ प्राकृत-साहित्य उपलब्ध हुआ है। गोश्रृंगकी गुफासे फ्रेंच यात्री 'दु त्र्य द हा' को खरोष्ठी लिपिमें जो धम्मपद मिला है वह प्राकृत धम्मपदके नामसे प्रसिद्ध है, यह ई०की दूसरी सदीका माना जाता है। इसमे अशोकके लेखोंकी कतिपय विशेषताएँ मिलती है। और कुछ ईरानी बोलियोंकी विशिष्टताएँ भी है। इसके अतिरिक्त सर ओरेल स्टाइनको चीनी तुर्किस्तानसे कुछ पत्र मिले हैं, यह साहित्य, खोतानके 'निय' (प्राचीन नाम चडोत) में तीसरी सदी-में लिखा गया है। जहाँतक संस्कृत नाटकोंकी प्राकृतका सम्बन्ध है, उसके

सम्बन्धमें सिल्वा लेव्हीका यह कथन बिलकुल उपयुक्त है, "काव्य और आख्यान-संवादको जो साहित्यसे रंगमंचपर ले आनेका प्रयोग है, वही संस्कृत नाटक है।" खास तौरपर संस्कृत नाटकोंकी भाषा-रूढ़ियोंका तत्कालीन समाज और जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। अवश्य ही अश्वघोष, भास और शूद्रकके नाटक इसके कुछ अपवाद है। कुल मिलाकर भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे प्राकृतोंके अध्ययनकी यही सामग्री है। इसका विस्तृत विवेचन, हमारी विषय-सीमाके बाहर है।

निय प्राकृत – प्राकृतके उक्त रूपोंकी चर्चासे हमारा उद्देश्य निय प्राकृतकी ओर ध्यान आकृष्ट करना है। डॉ० पण्डितने इसके जो लक्षण दिये हैं, वे बहुत कुछ अपभ्रंशसे मिलते-जुलते हैं, जैसे :

१. निय प्राकृतमें मध्यग (middle) क च त प श म को घोष भाव होता है। फिर इनको घर्ष भाव होता है। यह घटना, व्यंजनोंके सम्पूर्ण नाशकी आवश्यक अवान्तर अवस्था है। जैसे – अवकाश, अवगंज[१], प्रचुर – प्रशुर, कुक्कुट – ककुड, कोटि-कोडि।

२. मध्यग महाप्राण व्यंजनका प्रायः 'ह' हो जाता है। एहि, लिहति (लिखति), संमुह (संमुख), प्रमुह (प्रमुख), सुह (शुभ), परिहष (परिभाषा), अमहु, तुमह, गोहन (गोधन) इत्यादि। निश्चय ही यह अशोकके शिलालेखोंसे बड़ी हुई भूमिका है।

३. श ष स के रूप व्यवस्थित है। दोष, पियदशि, शत।

४. यान्त संयुक्त व्यंजनका प्रायः लोप हो जाता है। राज्य – रज, अद्य – अज, ददव्यो – ददवो, अवश्य – अवश, नश्यति – नशति, मनुष्य – मनुश।

५. र को बहुधा सुरक्षित रखा जाता है, अर्जुनस्य अर्थ, मर्म, अर्ण इत्यादि। र लोपके उदाहरण भी हैं। इनके दो रूप मिलते हैं – सव – सर्व, अर्ध–अढ। संयुक्त व्यंजनमे र का परिवर्तन हो जाना उत्तर-पश्चिमकी विशेषता है। अशोकी प्राकृत और प्राकृत धम्मपदमें इसके उदाहरण मिलते हैं। निय प्राकृत और उत्तर कालीन खरोष्ठी लेखोंमें यह बात नहीं है। अतः र के लोपको परवर्ती विकास मानना चाहिए।

६. अशोकी प्राकृतमें संयुक्त व्यंजनके ल का लोप हो जाता है। पर निय प्राकृतमें यह मिलता है, जैसे जल्पित, अल्प।

७. त्वको नियमें य होता है, चत्वारिंशत्–चयरिश। द्व के दु और

१. यह घर्षभावका चिह्न है।

ब दोनों रूप उपलब्ध हैं, द्वादश, बदश, द्वादश। क्ष त्स का छ और स ही बचता है। यह पश्चिमोत्तरकी विशेषता है। नियमें इसके उदाहरण हैं। छेत्र, मिछु, छिन। किन्तु त्स ज्योंका-त्यों रहता है। स्मका म्भ होता है, एकवचनमे म्मि होता है।

८. कृदन्तमें ति रूप मिलता है, वेद भाषामें ति होता था। जैसे – सुनिति – सुनकर, अपुच्छति – पूछकर। पंचमीमें नियमें ए है, जब-कि प्राकृत धम्मपदमे ओ' और उ मिलते हैं। डॉ० पण्डित इसे अर्वाचीन प्रभाव मानते हैं। ध्वनियोंकी अपेक्षा, निय प्राकृतका व्याकरण अधिक विकसित है। क्योंकि उसपर संस्कृतका प्रभाव नहीं है। संज्ञाके रूप प्रायः अकारान्त नामोंके अनुसार होते हैं। अन्तिम इ, उ और ऋ को अकारान्त बना लेते हैं। इसे देखकर अपभ्रंशकी याद आ जाती है। अपभ्रंशकी तरह इसमें भी प्रथमा और द्वितीयाकी विभक्तियोंमें प्रत्यय-भेद नहीं होता। कर्मणि भूत कृदन्तसे इसमें भूतकाल सूचित होता था जैसे दा के रूप होंगे :

एकवचन	बहुवचन
दिते मि	दित म
दिते सि	दिते थ
दिन	दितंति

इसकी विकास-रेखा है – दितः अस्मि–दितेमि, दितः स्म,–दितम्। केवल कर्मणि भूतके लिए दितका दितम् आता है।

विकास-रेखा – प्राकृतकी पहली भूमिकामें (अशोकी प्राकृत और पालि-के कुछ मूल अंश) ऋ और ऌ गायब हैं। ऐ औ, अय, अव, ए, ओ, अन्त्य व्यंजन और विसर्गका लोप है। अतः इनमें शब्दोंके स्वरान्त और सावर्ण्य-भाव (Assimilation) की प्रवृत्ति अधिक है। मध्यग व्यंजनका घोष (Soft or voiced) भाव होने लगता है। यही पहली प्राकृतिक भूमिका है। दूसरी भूमिका (निय प्राकृत अश्वघोषके नाटकोंकी प्राकृत धम्मपद और खरोष्ठी लेखोंकी प्राकृत) मे मध्य असंयुक्त व्यंजनोंका घोष भाव और फिर घर्ष भाव होने लगता है। निय प्राकृतमें यह स्पष्ट रूपमे दिखाई देता है। अर्धमागधीके आगम-साहित्यका प्राचीन अंश भी इसीकी सीमामें आ सकता है। इसमें घोष भाव है पर मध्यग व्यंजनका सर्वथा लोप नहीं होता। मध्यग महाप्राण (Aspirate) को भी सर्वथा ह नहीं होता। तीसरी भूमिकामे साहित्यिक प्राकृत नाटकों और वैयाकरणोंकी प्राकृतें

आती हैं। इनमें बोलियोंके कुछ अवशेष मिलते हैं पर स्वरूप इनका साहित्यिक ही है। इसमें मध्यगलोप, ह और मूर्धन्यकी प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगती है। वस्तुतः दो और तीन भूमिका एक ही बात है, इसके बाद, प्राकृतकी तीसरी भूमिकाका नाम अपभ्रंश है। इस कथनके आधारपर प्राकृतोंके विकासकी रूपरेखा इस प्रकार खींची जा सकती है : बुद्ध और महावीरके प्रयत्नसे प्राकृतकी प्रतिष्ठा हुई। अशोकके समय जब समूचे देशमें एक माध्यमके रूपमें उसका विकास हुआ तो उसने एक साधारण रूप ग्रहण कर लिया। अश्वघोषके नाटकोंमें वह अनिवार्य हो उठी, असलमें यह विभिन्न प्रान्तोंके आधारपर गठित एक साधारण रूप था। पहले वह शौरसेनी प्राकृत कहलायी, फिर महाराष्ट्री। महाराष्ट्री प्राकृत यथार्थमें शौरसेनीका परवर्ती विकास है। वह एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। इस बारेमें डॉ० हेमचन्द्र जोशी लिखते हैं, "जो प्राकृत महाराष्ट्री नामसे है, वह सारे भारतराष्ट्रमें गाथाओंमें काम लायी जाती थी। भले ही लेखक दक्षिणका हो या कश्मीरका, गाथाओंमें यह प्राकृत काममें लाता था। इसलिए महाराष्ट्रीको महाराष्ट्र तक सीमित रखना, या यह समझना कि वह महाराष्ट्रकी जनता या साहित्यिकोंकी बोली रही होगी, भ्रामक है। महाराष्ट्रका पुराना नाम महरवाड़ा है, जिसका रूप आज भी मराठा है। इसकी स्थानीय बोली भिन्न थी, जो कई स्थानीय प्रयोगके मराठी शब्दोंसे, आज भी प्रमाणित होती है। मराठीमें जो 'आँख'को डोला, कमरेको खोली, निचले भागको खाली आदि कहते हैं, वे शब्द मराठी देशी प्राकृतके हैं, जिसे यहाँ पिशेलने देशी कहा है।[1]

परन्तु यह केवल ऐतिहासिक भूमिका मात्र है। निय प्राकृतमें हमें घर्ष भाव मिलता है, अतः वह ईसाकी प्रथम सदीसे होना चाहिए। ब्राह्मी लिपिमें इसके प्रकट करनेकी व्यवस्था न होनेसे, उसमें यह या तो घोष लिखा जाता है या फिर 'अ'। निय प्राकृतमें भी ये रूप मिलते हैं। प्राकृत वैयाकरण ध्वनिके आधारपर इसका विश्लेषण नहीं करते। ये भाषाएँ तत्कालीन बोलचालकी भाषाओंसे सम्बन्ध न रखकर शिष्ट ढंगसे विकसित होती रही हैं, यद्यपि बोलचालकी बोलियोंका प्रभाव इनपर पड़ता है, फिर भी जीवन और साहित्यमें अन्तर बना ही रहा। प्राकृत साहित्य, संस्कृत साहित्यसे भी अधिक सीमित है, प्राकृतके आरम्भकालमें ही संस्कृतका

---

१. प्राकृत भाषाओंका व्याकरण पृ० ७।

उदयकाल आ जानेसे उसकी बाढ़ रुक गयी। इस दृष्टिसे 'प्रकृतिः संस्कृतम्'का अर्थ यही हो सकता था कि प्राकृतोंका आदर्श या माडल संस्कृत ही है। 'प्राकृत व्याकरण और अपभ्रंश' शीर्षकके अन्तर्गत इसका विस्तारसे विचार किया गया है।

प्राकृतिक भूमिकाका महत्त्व – यह कहा गया है कि यह भूमिका पुरानी और नव्य भारतीय भाषाओंके बीचकी कड़ी है। कोई भाषा शून्य-में नहीं पनपती, वह समाजके सम्पर्कसे विकसित होती है। आर्य भाषा भी इसका अपवाद नहीं। उस देव-भाषामें भी तलभाषा (सब्स्ट्रेटम) का प्रभाव है। प्राकृतें या देशी भाषाएँ आर्य भाषाको प्रभावित करती हैं, पर प्रायः ध्वनिमें परिवर्तन नहीं होता किन्तु यदि एक बार ध्वनिमे परिवर्तन हो उठता है तो फिर समस्त ध्वनियाँ, उनके रूपों और उसपर टिके हुए व्याकरणके ढाँचेको पलटना पड़ता है। उदाहरणके लिए, भारतीय आर्य भाषामे मूर्धन्य वर्णोंका विकास, आर्य भाषा गणोंमे नहीं है। स्पष्ट है कि यह आर्येतर प्रभावसे सम्भव हुआ। यह प्रभाव प्राचीनतम आर्य भाषा स्तरमें आना शुरु हो गया था।

स्वयं पाणिनिने कुछ धातुपाठ दिये है, जिनका सम्बन्ध डॉ० जोशी प्राकृत धातुओंसे मानते हैं। जैसे—

	हिन्दी—
अड्ड अभियोगे	अड़ना
कड्ड कार्कश्ये	कड़ा-कठिन
कुट शब्दे	कौरा-कोड़ा (बान) (नेपाल कुमाऊँ)
घिणि ग्रहणे	गेण्हइ, घेण्हइ
घुण भ्रमणे	घूमना
चक तृप्तौ	छकना (चच्छ)
चप सान्त्वने	चुपना
जम अदने	जीमना
टंक बन्धने	बांधना
बाड़ आप्लाव्ये	बाढ
मस्क गत्यर्थे	टससे मस
हिंड ,,	हिंडइ (अपभ्रंश), हांट (बंगला) हिंटणां(कुमाउनी)
हुल ,,	हलचल

इन धातुओंका व्यवहार संस्कृतमें नहीं होता।

वैदिक भाषामें ऐसे उदाहरण हैं जहाँ र और ष के संयोगसे दन्त्य वर्ण मूर्धन्य (Cerebral) हो जाते हैं (रषाभ्यां नो णः समानपदे)। इसका अर्थ इतना ही है कि विकास होने लगा, पर अभी शब्द नहीं आये। मानो उनके आनेकी यह स्वागत भूमिका है। मूर्धन्य वर्गकी सुगमता होते ही, पाली-प्राकृतकालमें बिना किसी संयोगके ही यह प्रवृत्ति ज़ोरोंसे बढने लगी। दूसरे संयुक्त व्यंजनोंके उच्चारणसे भी ध्वनियोंमें विकास अनिवार्य हो उठा। धात्वर्थबोध और स्फोटके कारण, केवल स्वरीकरण (Vocalization) की प्रवृत्ति बढ़ी। नाद स्वरसंचारकी जगह बल स्वरसंचार प्रबल हो उठा।[2] वस्तुतः भाषा परिवर्तनके बीज उसकी ध्वनि-व्यवस्थामे निहित रहते हैं। जैसे, व्यंजनोंका सावर्ण्यभाव वैदिक भाषामे भी है। उत् + चा = उच्चा अवेस्तामें उस + च होता है। इसी प्रकार स्वरका विकास-क्रम भी द्रष्टव्य है। यह ध्वनि-परिवर्तन ऋग्वेदकी भाषामें अधिक है। परिवर्तनका यही बीज प्राकृत भूमिकामें और विकसित हुआ।

ध्वनि-व्यवस्था पलटनेपर व्याकरण-व्यवस्था भी बदलती है। क्योंकि व्याकरणका रूपविकार बहुत कुछ ध्वनि तन्त्रपर ही अवलम्बित है। उदाहरणके लिए व्यंजनान्त शब्दोंका लोप होनेपर शब्दरूपोंमें अन्तर आ गया। अन्तिम स्वरके परिणामकी दृष्टिसे रूपोंकी विविधता समाप्त होने लगी। उसके मिटते ही लिंगभेद भी समाप्त हो गया। अन्तिम अंशके उच्चारणका महत्त्व घट गया। स्वर परिवर्तनके कारण 'ऐ' 'औ' से बने शब्दरूप रामो (रामः) और रामौ, दोनोंमें 'ओ' होनेसे दोवचन समाप्त हो गया। इसी तरह विभक्तियोंमें आपसी भेद हटता गया। उनमें विनिमय भी होने लगा। अन्त्य व्यंजन और स्वर-व्यवस्थाके टूटनेसे अनेक प्रकारके परसर्गोका विकास हुआ। आदि भारतीय आर्य भाषामें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे यह स्पष्ट है कि व्याकरणतन्त्र परिवर्तनके बीज ध्वनि-तन्त्रमें पड़े रहते हैं। इसलिए नव्य भारतीय आर्य भाषामें जो ध्वनि-परिवर्तन होते हैं उनके बीज मध्य भारतीय आर्य भाषामें अवश्य थे। आर्येतर प्रभावने उन्हें और गति दी। इससे प्राच्य भारतीय आर्य भाषा और नव भारतीय आर्य भाषामें एकता सिद्ध होती है। पर यह सब प्राकृतिक

१. प्रा० भा० का व्याकरण पृ० ६५।

२. भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ८७ से ९२ तक।

भूमिकासे ही ज्ञात होता है। इतना ही नहीं आदि भारतीय आर्य भाषाके कई नियमोंकी व्याख्या आधुनिक हिन्दी या पुरानी आर्य भाषाको केन्द्र मानकर नहीं की जा सकती। उसके लिए 'अपभ्रंश' ही एक मात्र साधन है, क्योंकि वह प्राकृतिक भूमिकाकी अन्तिम अवस्था है।

प्राचीन साहित्यमें अपभ्रंश – अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य-भाषाकी अन्तिम अवस्थाका नाम है। पर इस अवस्थाको यह नाम क्यों दिया गया, इसका समय कबसे कबतक माना जाय, भाषा और साहित्यके प्राचीन भारतीय आलोचकोंका इस बारेमें क्या अभिमत है इत्यादि प्रश्न अनायास ही उठते हैं। सारे प्रश्नोंको दो रूपोंमें विभक्त करके उनके समाधान देखें :

१. प्राचीन उल्लेखोंके आधारपर अपभ्रंशकी विकास-रेखा।

२. प्राकृत वैयाकरणों-द्वारा व्याकृत अपभ्रंशका विचार।

प्राचीन उल्लेख तीन प्रकारके हैं : (अ) वैयाकरणोंके उल्लेख, (ब) साहित्य आलोचकोंके उल्लेख, (स) अपभ्रंश लेखकोंके उल्लेख।

(अ) सम्भवतया सर्व-प्रथम पतंजलिने अपने भाष्यमें अपभ्रंशके सम्बन्धमें यह लिखा कि 'एक-एक शब्दके बहुत-से अपभ्रंश हैं, जैसे 'गौ' इस शब्दके गावी, गोता, गोणी और गोपोतलिका – इत्यादि। (महाभाष्य १।१।१)

प्राकृत वैयाकरण चण्डने भी अपभ्रंशका उल्लेख किया है। उसके बाद आ० हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, सिंहराज, लक्ष्मीधर, शेषकृष्ण और मार्कण्डेयने भी प्राकृतोंके साथ इसका नाम गिनाया है। चण्डने 'संस्कृत, प्राकृतम्, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी और शौरसेनी' भाषाएँ गिनायी हैं–'वररुचिने प्राकृतोंका विचार करनेके अनन्तर 'दाढ़ादयो बहुलम्' कहकर, अपभ्रंशके विचारको चलता कर दिया है। 'अभिधान चिन्तामणि'मे संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंशके नाम आये हैं। (२।१९९)

आ० हेमचन्द्रने अपने सिद्ध हेम-व्याकरणमें प्राकृतोंके बाद अपभ्रंशका भी व्याकरण दिया है।[1] संस्कृत प्राकृत व्याकरणोंमें यही उल्लेख मिलते हैं, इनके आधारपर ये निष्कर्ष निकालते हैं : १. भारतीय वैयाकरण प्रायः साहित्यरूढ़ भाषाका विचार करते है, लोक-भाषाओंपर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। २. संस्कृत और प्राकृत साहित्यके रूपमें थीं, अतः उनका व्याकरण

१. त्रिविक्रमने भी अपने त्रिविक्रम प्राकृत व्याकरणमें अपभ्रंशका व्याकरण दिया है।

लिखा गया। ३. अपभ्रंश भाषा साहित्यमें (विशेषतः नाटकोंमें) प्रयुक्त नहीं हुई थी अतः उसकी उपेक्षा हुई। ४. बोलचालके रूपमें जब वह अस्तित्वमें आयी तो केवल उसके नामका उल्लेख कर देना ही आवश्यक समझा गया। ५. १२वीं सदीमें जब इसका भी साहित्य समृद्ध और रूढ़ हो गया तो इसका व्याकरण लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। ६. हेमचन्द्र जिस समय साहित्यरूढ़ अपभ्रंशका विचार कर रहे थे उस समय लोकमें नयी भाषाएँ नाम-रूप ग्रहण कर रही थीं। ७. पतंजलिने 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग भाषाके अर्थमें नहीं किया। अपभ्रंशसे उनका अर्थ, संस्कृतसे भिन्न शब्द है। इसके आधारपर इतना ही हम कह सकते हैं कि पतंजलि-के समयमें ये शब्द काफ़ी संख्यामें प्रचलित हो रहे थे। अतः प्राकृत वैयाकरणोंके उल्लेखोंसे अपभ्रंशके सम्बन्धमें हमे विशेष जानकारी नहीं मिलती।

(ब) यह आश्चर्यकी बात है कि वैयाकरणोंकी अपेक्षा संस्कृत साहि-त्यालोचक अपभ्रंशका उल्लेख अधिक दिलचस्पीसे करते हैं। भरत मुनि (ना० शा० १७। ४८-५५) ने लिखा है कि नाटकोंमें प्राकृतोंके साथ उकारबहुला भाषा भी प्रयुक्त होती है। भाषाके वह तीन भेद करते हैं : अतिभाषा, आर्य भाषा और जातिभाषा। इनमें पहली देवोंकी, और दूसरी (संस्कृत) राजाओंकी है। जातिभाषासे उनका तात्पर्य प्राकृत भाषाओंसे है, इसके अन्तर्गत उन्होंने तीन प्रकारोंके शब्दोंका विचार किया है, तत्सम, विभ्रष्ट[१] (तद्भव) और देशी। जातिभाषाके भी उन्होंने दो भेद किये हैं। इनमे, एक तो, म्लेच्छादि शब्दोंसे भरपूर है। परन्तु दूसरीका उन्होंने उल्लेख नहीं किया। हमारी धारणा है कि शायद यह शिष्ट प्राकृत होगी। इसके अनन्तर वह प्रयोग तथा प्रान्तोंके आधारपर भाषा और विभाषाओंके नाम गिनाते हैं। किस आधारपर उन्होंने ऐसा किया, यह हमें नहीं मालूम। लेकिन प्रादेशिक दृष्टिसे वह बोलियोंको निम्न रूपमें विभक्त करते है :

१. विन्ध्याचल और समुद्रके बीच स्थित देशोंमें आभीरोक्ति द्रविड़ और शाबरी भाषाओंका प्रयोग होता है (४४)।

२. गंगा और समुद्र (पूर्वी) के बीचके देशोंमें एकारबहुला भाषाका प्रयोग होता है।

---

१. विभ्रष्टका अर्थ यहाँ अपभ्रंश नहीं है जैसा कि डॉ० तगारेने अपनी पुस्तककी भूमिकामें दिखाया है।

३. हिमवान, सिन्धु, सौवीर प्रदेशोंमें उकारबहुला भाषाका प्रयोग है। अतः भरतके समय भौगोलिक दृष्टिसे भाषाएँ इस प्रकार थीं। पूर्वमें एकारवाली, पश्चिममें उकारवाली और दक्षिणमें द्रविड़ बोलियाँ परन्तु उनके समय आभीरोक्ति भी दक्षिणमें पहुँच गयी थी। भरत मुनिका समय अनिश्चित है। फिर भी वह चौथी सदीके पूर्ववर्ती तो हैं ही।

भामह बोलीका नहीं किन्तु अपभ्रंश साहित्यका उल्लेख करते हैं। (का० अ० १।१६) जैसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

दण्डी (का० आ० १।३२) चार प्रकारके काव्योंकी चर्चा करते हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित। प्राकृतको देशी और अनेकविध बताते है। परन्तु वह या तो संस्कृतसे उत्पन्न है या उसीके समान है। अपभ्रंशके विषयमें उनका कहना है कि काव्यमें आभीरी वाणी ही अपभ्रंश कहलाती है। किन्तु व्याकरण शास्त्रमें संस्कृतसे भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रंश है। यह बात दण्डी, भाष्यकारके उक्त वक्तव्यको लक्ष्यमें रखकर कह रहे हैं। परन्तु हम कह चुके हैं कि भाष्यकारने अपभ्रंश शब्दका प्रयोग भाषाके अर्थमे नहीं किया। पर दण्डीने यही समझकर उनके कथनकी संगति बैठाने-की चेष्टा की है। अपने युगके काव्य-रूपोंके विषयमे दण्डीका कहना है कि संस्कृतमे सर्ग बन्धादि, प्राकृतमें स्कन्धक आदि, अपभ्रंशमे ओसर आदि तथा मिश्रमे नाटक आदि होते है। इससे जान पड़ता है कि उनके समयमे संस्कृतमे ही महाकाव्य लिखे जाते थे। ओसर और स्कन्धक क्या हैं यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। स्कन्धक एक छन्द भी है। इन्हे सर्गका नाम नहीं माना जा सकता क्योंकि परवर्ती अपभ्रंश काव्यमें अभीतक इस नामपर सर्ग देखनेमे नहीं आये। स्कन्धक छन्द सेतुबन्धमे प्रयुक्त है, मिश्ररचनासे दण्डीका आशय दृश्यकाव्यमे है। हमारा अनुमान है कि स्कन्धक और औसर आदि छोटे रूपमें लिखित गेय काव्य होना चाहिए। इस तरहकी रचना दण्डीके समय प्रचारित रही होगी।

रुद्रट (का० अ० पृ० १५ में) कहते है कि प्राकृत ही अपभ्रंश हैं। कुछ लोग उपनागर, आभीर और ग्राम्य भेदके आधारपर उसके तीन भेद करते हैं। पर यह ठीक नही, देश-विशेषके कारण उसके कई भेद है। इसके आगे फिर वह कहते है कि आभीरी बोली अपभ्रंशके माध्यमसे मागधीमें भी देखी जाती है। जान पड़ता है कि रुद्रट प्राकृत शब्दका अर्थ 'स्वाभाविक' करते हैं, इसीलिए वह अपभ्रंशको भी प्राकृत कहनेके पक्षमें हैं, वह यह महत्त्वपूर्ण संकेत भी करते है कि आभीरोक्ति काव्य भाषा

अपभ्रंशके माध्यमसे मागधीमें भी पहुँच गयी।

आचार्य वामन भाषाओंका विचार तो नहीं करते फिर भी वह अत्यन्त प्रयुक्त देशी भाषा पदके प्रयोगको वांछनीय मानते हैं। (का० अ० १।१३) परन्तु वह अनति प्रयुक्त शब्दोंका प्रयोग ठीक नही समझते जैसे—'कंकेली'। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह 'शब्द' अशोकवृक्षके अर्थमें अपभ्रंश साहित्यमें बहुत बार प्रयुक्त होता है।

राजशेखर अपभ्रंश साहित्यका ही उल्लेख नहीं करते किन्तु उसको लक्ष्यमें रखकर अपने कुछ नियम भी बनाते है। वह यह भी लिखते है कि कविका परिचारक अपभ्रंश बोलनेवाला हो। वह यह भी संकेत करते हैं कि मरुभूमि (मारवाड़ी) राजपूताना और पंजाबके कवि अपभ्रंशमें अधिक रुचि रखते हैं और टकार, ककार एवं झकारका अधिक प्रयोग करते हैं। अवन्ति दशपुर और पारियात्रके कवि भूतभाषाका अधिक प्रयोग करते हैं। किन्तु मध्य देशके कवि सभी भाषाओंमें समान रूपसे रुचि रखते हैं। उसने इस बातकी भी सिफ़ारिश की है कि संस्कृत और प्राकृत कवियोंके बाद, अपभ्रंश कवियोंको भी पश्चिम दिशामें स्थान दिया जाये। राजशेखरका यह कथन संकेतपूर्ण है क्योंकि मध्य देशको छोड़कर अन्य प्रदेशोंके कवि खास भाषामें रचना करना पसन्द करते थे।

नमिसाधु काव्यालंकारकी टीकामें उपनागर, ग्राम्य और आभीरीका उल्लेख करते हैं। कुछ पण्डितोंका अनुमान है कि आभीरी ही ग्राम्य-अवस्थाको पार करके काव्य-भाषा बननेपर उपनागर कहलायी। परन्तु अपभ्रंश साहित्यमें कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। वह यह भी कहता है कि अपभ्रंशमें महाराष्ट्री मुख्य है। उसमें शौरसेनी और मागधी-का भी मिश्रण है। आ० हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमें लिखा है कि आश्वास और सन्धि संस्कृत साहित्यमें भी हो सकती है, जैसे हरिप्रबोध। अपभ्रंश-में सन्धियोंका बना काव्य है अब्धिमन्थन। ग्राम्य अपभ्रंश भाषाका स्कन्धक बन्धमें निबद्ध काव्य है, भीमकाव्य। हेमचन्द्रकी तरह वाग्भटने भी ग्राम्य भाषाका उल्लेख किया है, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्रके समय ग्राम्य और शिष्ट अपभ्रंशका मिश्रण ही नहीं हो रहा था अपितु उसमें काव्य-रचना भी होने लगी थी। विश्वनाथने कड़वक और नाना छन्दोंमें निबद्ध-अपभ्रंश काव्य 'कर्ण-पराक्रम'का उल्लेख किया है (६।३२७)। इसके अतिरिक्त मम्मट रामचन्द्र (विष्णुधर्मोत्तर पुराण), गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण), जिनदत्त (विवेकविलसित), अमरचन्द्र (काव्यलता-

वृत्ति) और भोज (सरस्वतीकण्ठाभरणमें) अपभ्रंश साहित्यका निर्देश करते हैं। वल्लभिके राजा धरसेन (५५९–५९६) के शिलालेखमें अंकित है कि वह संस्कृत, प्राकृत प्रबन्ध रचनाके अतिरिक्त अपभ्रंश प्रबन्धमें भी निपुण हैं।

इस प्रकार ६ठी से लेकर १४वीं सदी तकके उक्त साहित्यिक सन्दर्भोंसे निम्न तथ्य प्रकाशमें आते हैं : (१) भरत मुनिके समय, अपभ्रंश एक बोलीके रूपमें अवश्य थी, तभी उन्होंने नाटकोंमें उसके भी प्रयोगकी बात लिखी, (२) भरत मुख्य रूपसे नाटकोंके आलोचक हैं। पर शुद्ध साहित्यालोचक भामह और दण्डी भी अपभ्रंश साहित्यका उल्लेख करते हैं। (३) दण्डी आभारीकी पहचान अपभ्रंशसे कराते हैं (४) एक दल, अपभ्रंशको प्राकृत मानता था, फिर भी काव्यमें उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ठेठसे ही रहा। रुद्रट, आभीरी ग्राम्य और उपनागरमें विकास-क्रम दिखलाना चाहते हैं। नमिसाधु उसे महाराष्ट्रीके निकट देखते हैं, (५) भरत, रुद्रट और राजशेखर अपभ्रंशका अस्तित्व पश्चिममें मानते हैं। पर धीरे-धीरे उसका प्रभाव दक्षिण और मगधमें पहुँच गया। भोजके अनुसार गुर्जर अपने अपभ्रंशसे सन्तुष्ट होते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि अपभ्रंशके कई रूप होने चाहिए किन्तु इस भिन्नरूपताको जाननेका कोई साधन हमारे पास नहीं है, (६) हेमचन्द्र और वाग्भट ग्राम्य अपभ्रंशका उल्लेख करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक नयी बोलियाँ विकसित होने लगी थीं, शिष्ट अपभ्रंशकी तुलनामें ये ग्राम्य ही थीं। पर यह बोलियोंका उल्लेख है, उसके साहित्यका नहीं क्योंकि अपभ्रंशका प्रभाव, हेमचन्द्रके अनन्तर भी बना रहा।

(स) उपलब्ध अपभ्रंशकाव्योंमें आये हुए उल्लेखोंसे भी हमें अधिक जानकारी नहीं होती। तो भी इतना निश्चित है कि अपभ्रंशके दो रूप अवश्य थे, शिष्ट और ग्राम्य। स्वयम्भूने पउमचरिउकी भाषाको गामिल्ल भाषासे रहित माना है, यह भी ज्ञात होता है कि जिन-मन्दिरोंमें बहुचरित पोथियाँ रहती थीं (प० च० २।२०७)। उनकी वाचना और अभिनयका भी प्रचलन था (प० मि० च०)। वटवृक्ष और उपाध्यायके रूपक (प० च० २।६०) से यह भी ज्ञात होता है कि स्वयम्भूके समय इसका पठन-पाठन भी होने लगा था। महा पुराण १, ८६ के अनुसार ऋषभ जिनने अपनी पुत्रियोंको अपभ्रंश की भी शिक्षा दी। इससे यह धारणा कि अपभ्रंश कवियोंने इस भाषाको अपभ्रंश नहीं कहा, क्योंकि यह नाम संस्कृत

वैयाकरणोंने रखा था, इससे इन्हें अरुचि थी—निर्मूल हो जाती है। इसाक विचार आगे किया गया है। अपभ्रंश कवियोंके इन सन्दर्भोंसे केवल यही जानकारी मिलती है कि उक्त अवधिमें अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी पढ़ाई भी शिक्षाका अंग मानी जाती थी।

अन्य स्रोत—विमलसूरिके पउमचरिअमें कतिपय अपभ्रंश उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार जैकोबी और स्मिथ साहब भी पालिमें कतिपय अपभ्रंश रूपोंकी कल्पना करते हैं। कालिदासके नाटक विक्रमोर्वशीयमें भी पुरुरवाके विलापका वर्णन अपभ्रंशमें बताया जाता है। परन्तु इन सबमे अधिक विश्वसनीय प्रमाण 'निय प्राकृत' हैं। इसकी कई बातें हमें अपभ्रंशमें देखनेको मिलती हैं। हम देख चुके हैं कि यह प्राकृत, भारतके बाहरकी है, अतः संस्कृतके प्रभावसे मुक्त है, उसमें पश्चिमी प्रभाव अधिक होना चाहिए, यह अशोकी प्राकृतका बढ़ा हुआ विकास है। हम समझते हैं यह एक ऐसी भूमिका है जिसपर अपभ्रंशका विकास अनुमित किया जा सकता है। लेकिन जहाँ तक हमारी साहित्यिक अपभ्रंशका सम्बन्ध है उसपर पश्चिमी मध्यदेशी प्राकृतका प्रभाव अधिक रहा, हम देख चुके हैं कि प्राकृत वैयाकरण भी यही मानते हैं।

अपभ्रंश और देशी— अपभ्रंशको देशी कहा जा सकता है, पर एक निश्चित सीमामें। नयी काव्य-भाषाको देशी कहनेकी प्रथा इस देशमें बहुत पुरानी है। स्वयं पाणिनिने 'संस्कृत'को लौकिक भाषा कहा है। (लोके वेदे च)। संस्कृत नाम उन्होंने नहीं दिया। बादमें भाषा शब्द संस्कृतके अर्थमें रूढ़ हो गया। लेकिन जब नयी भाषाएँ उठीं तो संस्कृतसे भेद बतानेके लिए उन्हें प्राकृत नाम दिया गया। प्राकृतके बाद एक और भाषा काव्यका वाहन बनी। १०वीं सदीमें पुष्पदन्तने इसे 'अपभ्रंश' कहा है। स्वयम्भू शायद इसे 'भाषा' कहते थे, उनके 'गामिलभाषा' शब्दसे तो यही ध्वनि निकलती है।

'देशीभाषा-उभय तडुज्जल' का डॉ० जोशीने जो; दोनों तटों (संस्कृत प्राकृत)में देशी भाषा उज्ज्वल है"[1] अर्थ किया है, वह ठीक नहीं। पूरा पद है—

"वद्धमाण मुहकुहर विणिग्गय
रामकहाणइ एह कमागय
अक्खर - वासजलोहमणोहर

---

१. प्रा० भाँ० का अध्ययन पृ० २ अनुवादक।

सुअलंकार छन्दमच्छोहर
दीह समास पवाहावंकिय
सक्कय पाइय पुलिणालंकिय
देसीभाषा-उभय तडुज्जल
कवि दुक्कर घणसद्द-सिलायल''

यहाँ कवि स्वयम्भू अपनी रामकथाको नदीका रूपक दे रहा है।

'भगवान् महावीरके मुख-पर्वतसे निकली हुई यह रामकथाकी नदी एक क्रमसे बहती आ रही है। अक्षरोंके विन्यासके जलसमूहसे जो अत्यन्त सुन्दर है, जो सुन्दर अलंकारों और छन्दोंके जलचरोंको धारण करती है। लम्बे समासोंके प्रवाहोंसे जो टेढ़ी-मेढ़ी है, संस्कृत और प्राकृत, ये दो जिसके तट हैं, जिसके दोनों तट देशीभाषाके जलसे भरपूर हैं, अथवा देशीभाषा-से जिसके दोनों तट शोभित हैं। कहीं-कहींपर कठिन और सघन शब्दों-की चट्टानें हैं।

हम देख चुके हैं कि बोलचालमें आभीरी थी, काव्यमें वही अपभ्रंश थी। दण्डीके समय यही स्थिति थी। परन्तु हेमचन्द्रने देशीनाममालाके नामसे जो शब्दकोष लिखा है, उसमें अपभ्रंश शब्द भी है। पर उसमे कुछ ग्राम्य शब्द भी है। कुवलयमालाकार, उद्भट आदि भी ग्राम्य भाषा-का उल्लेख करते हैं। इसमे ग्राम्यका अर्थ देशी ही सूचित होता है। परन्तु यह देशी, इस युगमे साहित्यरूढ़ शिष्ट अपभ्रंशसे भिन्न है। इतना ही नहीं उसका जो परवर्ती रूप है—वह अवहट्ठ कहलाया, देशी नहीं। विद्यापतिके कथनसे यही सिद्ध होता है। उन्होंने लिखा है "देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा"; यहाँ कीर्तिलताकी भाषा अवहट्ठ बतायी गयी है। और गीतोंकी भाषा देशी वचन। वचनका अर्थ भाषा भी होता है। स्वयम्भूने इसका इस अर्थमें प्रयोग किया है। डॉ० हीरालाल 'देशी' और अवहट्टको एक ही मानते हैं (पा० ध० दो० ५३) परन्तु मैं विद्यापतिके कथनका उक्त अभिप्राय ही ठीक समझता हूँ। वह अपने पाठकोंको अवहट्ठके प्रति यह कहकर आकृष्ट करना चाहते हैं कि वह भी देशीवचनकी तरह मीठी है। विद्यापतिने संस्कृतमें रचना की है, देशीमे भी, पर परम्परागत काव्यभाषामें भी रचना कर वह सर्वभाषा कवि बनना चाहते थे, किन्तु पाठक उनके समयमें अवहट्ठ पसन्द नहीं करता था। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि देशीमें स्थानीय या प्रादेशिकता-का भाव अधिक रहता है। इसलिए जब कोई बोली काव्यमें कुछ

फैलने लगती है तो उसे भाषा कहने लगते हैं। उदाहरण के लिए विद्यापतिके समय जो देशी थी वही सूर, तुलसीके समय भाषा बन गयी। ब्रजभाषा तो प्रसिद्ध ही है। जैन संस्कृत पुराणोंपर ब्रजमें लिखी हुई टीकाएँ भाषा वचनिका कहलाती हैं। तुलसी भी मानसकी भाषाको 'भाषा भनिति' कहते हैं।[1] एक दूसरे स्थलपर वे प्राकृत कवियोंकी भाषा-को भी भाषा कहते हैं। आ० शुक्लने भी पुरानी काव्यभाषाका उल्लेख किया है, इसलिए, देशी और भाषा शब्दोंका अर्थ उनके विशेष प्रसंगको लक्ष्यमें रखकर ही करना चाहिए। स्वयम्भूके समय अपभ्रंश देशी थी, पर हेमचन्द्रके समय नहीं। अपभ्रंश और देशीके विषयमें कतिपय विदेशी पण्डितोंमें मतभेद था। पिशल और डॉ० सर ग्रियर्सनका अभिमत था कि प्राकृतकी अपेक्षा अपभ्रंश ही आधुनिक बोलियोंका ठीक प्रतिनिधित्व करती है। ग्रियर्सन तो आधुनिक भारतीय आर्य-बोलियोंका आधार विभिन्न अपभ्रंशोंको मानते ही हैं। जैसे—नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्री। अपभ्रंशसे मराठी, मागधीसे बंगाली, बिहारी, आसामी, उड़िया और व्राचडसे सिंधी। परन्तु डॉ० कीथ इसे एक सैद्धान्तिक कल्पना मात्र मानते है।[2] उनका कहना है कि खोज करनेपर यह कल्पना टिकती नहीं, उपलब्ध अपभ्रंश साहित्यसे यह अच्छी तरह सिद्ध है कि अपभ्रंश-का दूसरा ही अर्थ था। क्योंकि हेमचन्द्र तकने अपभ्रंशकी पहचान देशी-से नहीं की। इसलिए देशी अलग चीज है। लेकिन हम ऊपर कह चुके हैं कि हमें 'देशी' का अर्थ एक सीमामें ही करना चाहिए। ऊपरके उल्लेखों-में यह प्रमाणित किया जा चुका है कि अपभ्रंश देशी चाहे न हो, पर परवर्ती देशी बोलियोंका सामान्य आधार वही हो सकता है। है भी। साहित्यिक होनेके लिए हरेक भाषाको देशी स्थितिमें-से गुजरना पड़ता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह कभी देशी थी ही नहीं। हेमचन्द्र 'देशी' शब्दोंमें तत्सम और तद्भवके अतिरिक्त शब्दको गिनानेकी प्रतिज्ञा तो करते है फिर भी बहुत-से तद्भव शब्द अपनी नाममालामें अंकित कर देते है। उनके विचारसे वह शब्द भी देशी है जो लिया तो संस्कृतसे गया है, पर उसका अर्थ बदल गया है। वह बहुत-से अनार्य शब्दोंको भी गिना देते हैं जैसे—ऊरो छाणी, पुल्लो चिक्का आदि शब्द। देशी नाममालाके सम्पादकके अनुसार उसमें अरबी फ़ारसी शब्द भी है।

---

१. भाषा भनिति भोरि मति मोरी (रा० च० मा० ४० गुटका)।

२. विस्तारके लिए देखिये प्रकीर्णकमें 'डॉ० कीथ और अपभ्रंश' शीर्षक।

इसलिए हेमचन्द्रके देशीका अर्थ केवल देश प्रचलित शब्द नहीं है। वे शब्द भी हैं जिनका संस्कृतसे कोई सम्बन्ध नहीं। हेमचन्द्रके बहुत शब्द तत्कालीन बोलियोंके भी हैं क्योंकि इनका प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंशमें नहीं है। हेमचन्द्रने आ० और देशके नाम गिनाये हैं। ये हैं अभिमान चिह्न, गोपाल देवराज, द्रोण, धनपाल, पादलिप्ताचार्य और राहुल। हेमचन्द्रके समय अपभ्रंश और देशीमें आपसी सम्बन्ध क्या था यह निश्चित रूप से तो नहीं बताया जा सकता, लेकिन इतना हम जानते हैं कि विद्यापतिकी तरह ११वीं सदीके लेखक मराठीको देशी कहते थे (देखो, दे० ना० मा० की भूमिका)। इन देशी शब्दोंके मूलको लेकर भी विवाद हैं। डॉ० वैद्य जिन शब्दोंको संस्कृतका मानते हैं उन्हें डॉ० उपाध्ये द्रविड़ मानते हैं। अतः इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हेमचन्द्रके समय देशीसे भाषाकी एक नयी दिशाका बोध होने लगा था। एक बात यह भी लक्षित होती है कि इस केन्द्रीय काव्य भाषा और उसके किनारेकी भाषाओंमें उतना भेद नहीं था, जितना कि आज है। इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

आभीर और अपभ्रंश— पीछे हमने लक्ष्य किया था कि दण्डी, भरतकी आभीरीको काव्यमें अपभ्रंश मानते हैं। इसपर-से यह अनुमान किया जाता है कि आभीरोंकी भाषा ही आगे चलकर अपभ्रंश बन गयी। पर आभीरोंसे अपभ्रंशका सम्बन्ध जोड़नेमें कई अड़चनें हैं। एक तो आभीरोंके मूलके विषयमें कुछ विशेष पता नहीं लगता। दूसरे इतिहासमें उनका प्रभाव नगण्य रहा। तीसरे उनकी आभीरी कैसी थी, इसका कोई नमूना हमारे पास नहीं। यह ठीक है कि भरतमुनि आभीरोको उकार-बहुला कहते है, पर यह 'उ', 'ओ' का ह्रस्वादेश भी हो सकता है, वह भाषाकी प्रकृतिका निर्णायक तत्त्व नहीं माना जा सकता। यदि परिनिष्ठित अपभ्रंशको आभीरी कहा जाये तो प्राकृत भी आभीरी मानी जा सकती है। क्योंकि निय प्राकृतमें भी वे विशेषताएँ मिलती है जो अपभ्रंशमें है। फिर यह कैसे सम्भव मान लिया जाये कि बिना किसी साधारण आधारके, आभीरोंकी बोली अपभ्रंश बनकर सब ओर फैल गयी। इसलिए अपभ्रंशके विकासको दूसरे स्रोतोंसे खोजना चाहिए।

विकासकी व्याख्या और प्रादेशिक तत्त्व— उक्त विवेचनसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते है कि शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतोंकी अपेक्षा, अपभ्रंशपर पश्चिमी प्रभाव अधिक है। इसका मुख्य कारण

सम्भवतः, उत्तर पश्चिमकी राजपूत जातियोंका देशकी राजनीतिमें अधिक भाग लेना ही है। अन्यत्र हम देख चुके हैं कि अपभ्रंश युग और राजपूत युग, एक ही साथ शुरू हुए। यह सहोदय चाहे आकस्मिक हो पर उससे अपभ्रंशको फैलनेका अवसर मिला। हूणोंके रक्तमिश्रणसे जो जातियाँ उठीं, वे पश्चिमकी थीं। इनके काफ़ी पहले, आभीरोंकी लहर भी यहींसे उठी थी। गुर्जर-प्रतिहार मध्य देशमें काफ़ी समय प्रभावशाली रहे। बंगालके राजवंश और राष्ट्रकूट वंश भी इसे पसन्द करते थे, शासन और धर्मकी भाषा चाहे जो रही हो पर जनसाधारण अपभ्रंश रूपको ही समझती थी, इसलिए राजशेखर राजकविके लिए अपभ्रंश बोलनेवाले नौकरकी आवश्यकतापर जोर देता है। हमारा अनुमान है कि भरत मुनिकी आभीरोक्ति पश्चिमी भरतकी एक बोली थी जिसका आधार पश्चिमी प्राकृत था। आगे चलकर, राजनैतिक कारणोंसे वह व्यापक भाषाका उत्तराधिकार पा गयी। जैन लेखकोंने लोकप्रियताके कारण ही, उसे अपनाया होगा। यह एक सुविदित तथ्य है कि भारतके सांस्कृतिक इतिहासमें हरेक भाषा एक विशेष परिस्थितिमें विकसित होती आयी है। संस्कृत यदि आर्य-अनार्यके संघर्ष और संगममें-से निकली तो प्राकृत भी, बुद्ध-महावीरकी धार्मिक क्रान्तिमें-से उठ खड़ी हुई। और अपभ्रंश गुप्तोत्तरकालकी राजनैतिक उथल-पुथलमें महत्त्व पा गयी। इसके अनन्तर प्रादेशिक आधारपर भाषाओंका विकास हुआ। इनमें साहित्य रचना भी हुई। वे एक दूसरेसे काफ़ी स्वतन्त्र और दूर थीं। बंगला, मराठी और गुजरातीके बीच केन्द्रमें कई भाषाएँ थी पर उनमें ब्रज काव्य-भाषा थी। पर मुगल-अभियान और सन्तोंके प्रयत्नसे खड़ीबोली व्यापक बन बैठी। फिर भी हमें यह ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि केन्द्रीय और व्यापक होकर भी वह किनारेकी भाषाओंसे जितनी दूर है उतनी अपभ्रंशको केन्द्रमें रखकर, कीर्तिलता, 'रासो' और ज्ञानेश्वरीकी टीकाभाषाके तुलनात्मक अध्ययनसे अच्छी तरह समझ सकते है। मैं इस दूरीके निम्न कारण समझता हूँ :

१. मुसलमानी शासन और उसके पहलेसे ही जनता एक ही प्रदेशमें रहना पसन्द करने लगी, इससे अन्तःप्रान्तीय सम्पर्क कम हुआ।

२. ध्वनियोंके उच्चारण और भाषाके गठनपर स्थानीय प्रभावका अधिक बढ़ते जाना।

३. दरबारमें विदेशी भाषाकी प्रतिष्ठा।

४. संयोगात्मक अवस्थासे वियोगात्मक अवस्थाकी ओर इन भाषाओंका विकसित होना।
५. प्राकृतिक भिन्नता भी एक कारण था ही। इससे भाषाओंका ही नहीं – जनपदोंका व्यक्तित्व भी काफ़ी भिन्न हो गया। डॉ० धीरेन्द्र वर्माने हिन्दीकी बोलियोंके आधारपर, भारतके पुराने जनपदोंकी पहचान की है। पर इससे यह समझ बैठना कि इन जनपदोंमें सदासे ऐसा ही भाषा भेद रहा, भूल है। गुजराती, मराठीकी बात छोड़िए, हिन्दीकी बोलियोंकी भी तुलनात्मक समीक्षा, हिन्दीको केन्द्रमें रखकर नहीं की जा सकती। इससे बहुत-सी उलझनें और कार्य अस्पष्ट ही रह जायेंगे। उन्हें सुलझानेमें अपभ्रंश ही कुछ सहायक हो सकती है। इसी प्रकार 'हिन्दी और उसके किनारेकी बोलियोंकी तुलनात्मक समीक्षाका आधार भी अपभ्रंश ही हो सकती है क्योंकि ऐतिहासिक परम्परासे, इन सबके सम्बन्ध सूत्रको जोड़नेका 'रिक्थ' अपभ्रंशको ही प्राप्त है।

अपभ्रंश साहित्यका स्वरूप— अपभ्रंशका इतना महत्त्व मानते हुए भी उसका साहित्य बहुत ही सीमित है। वह प्राकृतसे भी अधिक संकुचित है। भाषाकी दृष्टिसे प्राकृतका क्षेत्र विस्तृत है। उसमे जैन-बौद्ध धर्म साहित्य है, काव्य और सिद्धान्त साहित्य भी है, अशोकके शिला-लेखोंमे उसके बोलचालके रूप सुरक्षित है। भारतके बाहर भी वह है, संस्कृत नाटकोंमे भी उसका अस्तित्व है। उसकी तुलनामे अपभ्रंशमे प्रबन्ध और मुक्तक रचनाओंको छोड़कर, कुछ भी साहित्य उपलब्ध नहीं। अधिकतर, वह भी जैन कथा साहित्य है। मुक्तक रचनामे सिद्धोंकी विचारधारा भी आ जाती है। इसलिए यह सीमित और शिष्ट साहित्य माना जायगा। उसका व्याकरणिक रूप एक-सा है। भरत मुनिने आभी-रोक्तिका नाटकमें प्रयोग करनेका विधान किया था। परन्तु राजशेखर-जैसा उदार और अपभ्रंशका प्रशंसक लेखक भी अपने नाटकोंमे प्राकृतको ही अपनाता है। इसलिए भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे इसके अध्ययनसे मौलि-कताका क्रम पता लगता है। पुष्पदन्तने नाटक, आख्यायिका, कथामृत अनिबद्ध कथा मुक्तक (म० पु० १, ८६) का उल्लेख किया है। स्वयम्भू भी चक्कलक-कुलक, स्कन्धक, पवणुद्धत, रासालुब्ध, मंजरिया, विला-सिनी, णवकुड और खडखडय आदि छन्दोंमे कविता करनेवालोंका उल्लेख करते हैं। (प० च० २।१५) सम्भवतः इन छन्दोंमें निबद्ध गेय या मुक्तक

काव्यरूप, स्वयम्भूके पहलेसे थे, इन सबकी खोजकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु इससे भी बड़ी आवश्यकता है अभी तकके प्रकाशित अपभ्रंश साहित्यके शब्दकोश निर्माणकी, इसके बिना आलोच्य भाषाकी प्रकृति और प्रवृत्तिका वैज्ञानिक या तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकता।

प्राकृत अपभ्रंश या हिन्दी— अपभ्रंशके सम्बन्धमें एक समस्या उसके नामको लेकर है। प्राकृतके पण्डित उसे प्राकृतकी अन्तिम अवस्था मानते हैं और हिन्दीके विद्वान् पुरानी हिन्दी। कुछ इसी तरहका दावा, गुजराती, बंगला और मराठीवालोंका भी है। इससे इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि 'अपभ्रंश' नव्य भारतीय आर्य भाषाकी सामान्य आधार भूमि है। दूसरी ओर प्राकृतकी अन्तिम अवस्था माननेपर इसका सम्बन्ध पुरानी भारतीय आर्य भाषासे हो जाता है। आ० शुक्लको हिन्दीके आदिकालमें कुछ अपभ्रंश पोथियाँ इसलिए गिनानी पड़ीं क्योंकि वे सदासे भाषा काव्यके अन्तर्गत मानी जाती रही हैं। गुलेरीजी अपभ्रंशको 'पुरानी हिन्दी' कहते थे। राहुलजी अपनी 'हिन्दी काव्य धारा' पुस्तकमें अपभ्रंश कवियोंका उल्लेख करते हैं। श्री काशीप्रसाद जायसवालने भी (ना० प्र० प० भाग८ अंक २ मे प्रकाशित) 'पुरानी हिन्दीका जन्मकाल' लेखमें कुछ अपभ्रंश पुस्तकोंकी चर्चा की है। उनका कहना है कि काव्यगत भाषा अपभ्रंश, प्राकृतसे दूर और हिन्दी व्याकरणके निकट है, अतः उसे पुरानी हिन्दी कहनेमे हमें संकोच नहीं होता। लेकिन यह परम्परा इससे भी पुरानी है। शिवसिंहने अपने हिन्दी साहित्यके इतिहासमें पुष्पभाट नामके भाषा कविका उल्लेख किया है। उन्हें भाषाकी जड़ यह कवि ही मालूम होता है, डॉ० द्विवेदी इसकी पहचान अपभ्रंश कवि पुष्पदन्तसे करते हैं, पर यह केवल सम्भावनाके रूपमें है। हम देख चुके हैं कि भाषा शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त है, तुलसी प्राकृत कविको भाषा कवि कहते हैं, 'ते प्राकृत कवि परम सयाने। जिन्ह भाषा हरि चरित बखाने'। यदि प्राकृतका अर्थ साधारण लिया जाये तो भी भाषाका अर्थ अस्पष्ट ही रहेगा, क्योंकि 'मानस' भी उन्होंने भाषामें ही लिखा है, इसलिए भाषाके दो ही अर्थ हो सकते हैं, अवधी या काव्य भाषा अपभ्रंश और यह सुनिश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इनमें-से किसी एकमे लिखे राम कथा-काव्यकी जानकारी तुलसीको अवश्य थी। हो सकता है पुष्पभाट भी ऐसा कोई कवि रहा हो। पुष्पदन्तसे इसका सम्बन्ध नहीं बैठता। डॉ० द्विवेदीने बहुत पहले कहा था कि चन्द्रबरदाई, हिन्दीका आदिकवि होनेकी

अपेक्षा अपभ्रंशका अन्तिम कवि अधिक है। आ० शुक्ल जिसे वीरगाथा काल कहते हैं, उसे द्विवेदीजी आदिकाल कहते हैं, वि० सं० ९८३ से १३१८ तकके इस कालमें शुक्लजी निम्न पुस्तकोंका विचार करते हैं, विजयपाल-रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, खुमान रासो, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंद प्रकाश, जयमयंक, जसचंद्रिका, परि-मालरासो, खुसरोकी पहेलियाँ और विद्यापतिकी पदावली। इनमें अन्तिम तथा वीसलदेवरासो को छोड़कर शेष ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः इसे वह वीरगाथा काल कहते हैं। कुछ और पुस्तकोंकी शुक्लजीने इन तीन कारणोंसे विवेचना नहीं की। (१) पीछेकी रचनाएँ हैं (२) नोटिस मात्र है (३) जैन धर्मके उपदेश हैं। परन्तु डॉ० द्विवेदीने इन तर्कोंका खण्डन करके कुछ और अपभ्रंशकी जैन पुस्तकोंको उक्त सूचीमें रखनेका समर्थन किया है। लेकिन वे भी, इनका विचार, हिन्दीके आदिकालके अन्त-र्गत ही करते हैं—'वस्तुतः छन्द काव्य रूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तुकी दृष्टिसे १०वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक लोकभाषाका साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंशमें प्राप्त साहित्यका ही बढ़ाव है यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंशसे थोड़ी भिन्न है, इसलिए १०वीं से १४वीं तकके उपलब्ध लोकभाषा साहित्यको अपभ्रंशसे थोड़ी भिन्न भाषाका साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिन्दीकी आधुनिक बोलियोंमें-से किसी-किसीके पूर्वरूपके रूपमें ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य-के लेखक १०वीं सदीसे इस साहित्यका आरम्भ करते हैं। इस समयसे हिन्दी भाषाका आदिकाल माना जा सकता है। इस कालमें दो प्रकारकी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—एक तो जैन भण्डारोंमें सुरक्षित और अधिकांशमें जैन प्रभावापन्न पर निश्चित, साहित्यिक अपभ्रंशकी रचनाएँ हैं और दूसरी लोक-परम्परामें बहती हुई आनेवाली और मूल रूपसे अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोक-भाषाकी रचनाएँ (हि० सा० आ० ३०-४४)। डॉ० द्विवेदीने अपनी प्रशस्त शैलीमें महत्त्वकी कई बातें कह दी हैं : (१) वह इस कालकी लोक रचनाओंको हिन्दीकी सभी बोलियोंका पूर्वरूप नहीं मानते। (२) ये लोक रचनाएँ भाषाकी दृष्टिसे कुछ भिन्न हैं। (३) ये सन्दिग्ध हैं (४) परिनिष्ठित अपभ्रंशकी रचनाएँ जैन प्रभावापन्न हैं। लेकिन इन तर्कोंसे यह हिन्दीका आदिकाल सिद्ध नहीं होता, इसीसे संकोचके साथ ही वह परम्पराका सूत्र जोड़नेके लिए इसे आदिकाल मान लेते हैं। इस सम्बन्धमें मेरी धारणा यह है कि १०वीं सदीकी प्रथम

श्रेणीकी रचनाओंसे ८वींकी अपभ्रंश रचनाओंमें भाषाकी दृष्टिसे कोई भिन्नता नहीं, इसलिए उन्हें हिन्दीकालके खातेमें डालना ठीक नहीं। राहुलजी ७वीं सदीसे हिन्दीकाल माननेके पक्षमें हैं। कवित्त लोक-भाषा साहित्य (रासो आदि) भी एक साहित्य-रूढ़ भाषाका ही साहित्य है। सच्ची लोक-भाषा विद्यापतिकी पदावलीमें है न कि कीर्तिलतामें। गुजराती और मराठी आदिकी अपेक्षा हिन्दीके विकासमें अपभ्रंशका योग सीधा नहीं है। परिनिष्ठित अपभ्रंशके बढ़ावकी एक-मात्र यही व्याख्या हो सकती है कि उसपर प्रादेशिक बोलियोंका प्रभाव पड़ने लगा था। इस प्रभाववाली रचनाएँ १२वीं सदीके बादकी हैं। इसलिए इन्हें सन्धिकालकी रचना मान लेनेमें कोई हर्ज नहीं। विद्यापतिने जो 'अवहट्ठ' और 'देशी वचन'का उल्लेख किया है, वह एक बात नहीं। वे दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। स्वर्गीय गुलेरीजी ७वींसे १२वीं सदीके मध्य तक अपभ्रंशकी प्रधानता मानते हैं। इसके बाद, अपभ्रंश पुरानी हिन्दीमे परिणत हो जाती है। उदाहरणके लिए इसमें देशीकी प्रधानता है। विभक्तियाँ खिर गयी हैं—(हिन्दी साहित्यका आदिकाल पृ० २०—२१)। इस प्रकार गुलेरीजी अपभ्रंशका युग १२वीं सदीके मध्य तक मानते हैं, जब कि मैं उसे पूरी १२वीं सदी तक माननेके पक्षमें हूँ। बाक़ी बातोंमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं। पुरानी विभक्तियोंका खिरना, आधुनिक भाषाओंके परसर्गोंके विकासकी आवश्यक भूमिका है। इसलिए १२वीं सदीके बादके दो सौ वर्षको सन्धिकाल समझना चाहिए। क्योंकि हिन्दीकी तरह दूसरी नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ भी अपभ्रंशके इस उत्तराधिकार-को सँभालना चाहती हैं। सच पूछिए तो हिन्दीकी अपेक्षा इसकी योग्यता उनमे अधिक है। इसलिए इस कालको हिन्दी-काल मानना उसके क्षेत्रको संकुचित करना है।

इसी प्रकार अपभ्रंशको प्राकृतकी अन्तिम भूमिका कहना तो ठीक है, पर प्राकृत ही मान लेना ठीक नहीं। नव्य भारतीय आर्यभाषाओंकी प्रवृत्तियों और कार्योंके समझनेके लिए उसे प्राकृतसे भिन्न भाषाके रूपमें देखना चाहिए, ध्वनियोंको छोड़कर रूप और व्याकरणिक दृष्टिसे उसमें प्राकृतोंसे काफ़ी भिन्नता है। वह और प्राकृत एक होती तो दण्डीसे लेकर हेमचन्द्रके युग तक आलोचकोंको उसे अलग गिनानेकी आवश्यकता नहीं थी। इन तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए अधिक उपयुक्त यही है कि आ० आर्यभाषाओंका समय ई० पू० ६ठी सदी तक माना जाये, उसके बाद

५वीं सदी तक प्राकृत युग, ६ठी-से १२वीं सदी तक अपभ्रंशकाल, उसके बाद दो सौ वर्ष सन्धिकाल, और तदनन्तर आधुनिक भाषाओंका युग माना जाये। यह विभाजन बोल-चालके भाषा-रूपोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया है, वैसे इनको साहित्यिक रूप ग्रहण करनेमें दो-तीन सौ वर्ष लग ही जाते हैं। इसलिए इस कालकी भाषाको अन्तिम प्राकृत या पुरानी हिन्दी कहनेकी अपेक्षा अपभ्रंश कहना ही अधिक संगत है।

प्राकृत व्याकरण और अपभ्रंश

कह चुके हैं कि व्याकरणकी दृष्टिसे, अपभ्रंशका विश्लेषण प्राकृतोंके सन्दर्भमें हुआ। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वैयाकरण प्रायः उसे प्राकृत ही समझते थे। यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार प्राकृतोंका व्याकरण संस्कृतके आधारपर लिखा जाता रहा है, उसी प्रकार अपभ्रंशका भी प्राकृतोंके आधारपर। फलतः संस्कृतके व्याकरणकी तुलनामें प्राकृत व्याकरण अपेक्षाकृत सरल है और प्राकृतोंकी तुलनामें अपभ्रंशका व्याकरण। ऐतिहासिक अनुक्रममें सबसे पहले प्राकृत वैयाकरण वररुचि हैं।[1] सर जॉर्ज ग्रियर्सनके अनुसार वररुचिके प्राकृत व्याकरणने प्राकृतोंके दोनों सम्प्रदायोंको प्रभावित किया। ये हैं, पूर्वी सम्प्रदाय और पश्चिमी सम्प्रदाय। पूर्वी सम्प्रदायमें वररुचि, मार्कण्डेय, पुरुषोत्तम, राम तर्कवागीश आते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी सम्प्रदायमें आते हैं चण्ड, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और श्रुतसागर। पश्चिमी सम्प्रदायके अनुसार सबसे प्रमुख भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। दूसरी भाषाएँ हैं मागधी, पैशाची चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश। जैन धर्मके ग्रन्थोंमें प्रयुक्त भाषाको आ० हेमचन्द्र आर्यभाषा कहनेके पक्षमें हैं। प्राकृत वैयाकरणोंने पाणिनिके आदर्शपर ही अपनी-अपनी प्राकृतोंका व्याकरण लिखा। इस अनुकरणसे प्राकृतोंके व्याकरणमें कुछ कमियाँ रह गयीं। एक तो उसमें प्रातिशाख्योंकी भाँति प्राकृतोंपर

---

१. प्राकृत वैयाकरणोंका ऐतिहासिक अनुक्रम होगा—वररुचि : प्राकृत प्रकाश। चण्ड : प्राकृत लक्षण। हेमचन्द्र : सिद्धहेम शब्दानुशासन। त्रिविक्रम : व्याकरण। सिंहराज : प्राकृतरूपावतार। रघुनाथ शर्मा : प्राकृतानन्द। लक्ष्मीधर : षड्भाषा चन्द्रिका। मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व। शुभचन्द्र : शब्द चिन्तामणि। नरसिंह : प्राकृत शब्द दीपिका। अप्पयदीक्षित : समन्तभद्र : प्राकृत प्राकृतमणि। व्याकरण। इसके सिवा, रावण-द्वारा लिखित प्राकृत कामधेनु भी सुनी जाती है।

कोई आलोचनात्मक दस्तावेज नहीं है, दूसरे प्राकृतके व्याकरणकारोंने साहित्यमें व्याप्त भाषाका ही विचार किया है। फिर, इन वैयाकरणोंने प्राकृतोंका जो विचार किया है वह परम्परागत है। प्राकृतोंके भेद-प्रभेद स्वीकार करते हुए भी, उनके सामान्य नियमोंका ही ये प्रतिपादन करते हैं। कभी-कभी उनके निष्कर्ष एक-दूसरेके विरुद्ध भी पड़ते हैं।[1] उदाहरणके लिए, भरत मुनिके अनुसार कुछ स्थानीय प्राकृतोंको छोड़कर शेषमें आदि, मध्य और संयुक्त व्यंजनमें न का 'ण' होता है। परन्तु आ० हेमचन्द्रका कहना कि देश्यभाषामें 'नकारादि' शब्द एकदम असम्भव है। वह लिखते हैं, "देश्याम सम्भविन एवेति न निबद्धाः" "यच्च वादौ इति सूत्रित-मस्माभिः तत्संस्कृतभवप्राकृतशब्दापेक्षया, न तु देश्यपेक्षया, इति सर्व-मवदातम्।" किन्तु त्रिविक्रम इसे नहीं मानते। उन्होंने एक जगह धात्वा-देशमें 'णिरुप्पइ' की जगह 'निरुप्पइ' लिखा है। इससे जान पड़ता है कि वह देशीमें 'न' को बनाये रखनेके पक्षमें थे। प्रारम्भिक प्राकृतोंमें आर-नाल, कमल, अनल आदि शब्दोंका अस्तित्व है। निश्चय ही ये शब्द आर्ष प्राकृतसे, अथवा संस्कृत या ठेठ भाषासे लिये गये। प्राकृतके पश्चिमी सम्प्रदायने इस बारेमें निम्न व्यवस्था दी है—

१. जैन ग्रन्थोंके तद्भव शब्दमें आदि 'न' रह जाता है। पर मध्यम 'न' का 'ण' बन जाता है।
२. जैनेतरमें 'न' का 'ण' होता है।
३. जैकोबीका अनुमान था कि 'त्त' का 'न्न' होता है, जैसे दत्त, दित्त—दिन्न। 'र्ण' का 'ण्ण' होता है, जैसे कर्ण—कण्ण।
४. दूसरे वैयाकरण इसका समर्थन नहीं करते।
५. निष्कर्ष यह कि प्राकृतोंमें किसी नियमका विचार करते हुए देखना पड़ता है कि वह जैन प्राकृत है या जैनेतर। सम्बन्धित प्रयोग किस भाषा अथवा बोलीका है।

प्रकृतिः संस्कृतम्

प्राकृतोंके वैज्ञानिक अध्ययनमें इस सूत्रका बहुत महत्त्व है। प्रकृति, प्राकृत और संस्कृतका क्या अभिप्राय है और इनका आपसमें क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध-ज्ञानपर ही बहुत कुछ अपभ्रंशका वैज्ञानिक विश्लेषण निर्भर

---

१. प्राकृत ग्रामर और त्रिभुवन, पी० एल० वैद्यकी भूमिका।

करता है। इसके दो कारण हैं—एक तो अपभ्रंशका व्याकरण बादमें लिखा गया, दूसरे वह प्राकृत व्याकरणोंकी परम्परामें है। यह सच है कि अपभ्रंशकी साहित्यिकता जितना मनीषियोंको आकृष्ट कर सकी उतना उसका भाषागत स्वरूप नहीं। सम्भव है कि अपभ्रंशको प्राकृत समझनेकी धारणा ही इसके लिए उत्तरदायी हो। अथवा सरलताके कारण वह, व्याकरणिक-चिन्तनसे अछूती रह गयी हो। उत्तरोत्तर साहित्यनिष्ठ होने-पर, जब अपभ्रंश रूढ़ होने लगी तब पण्डितोंको उसके व्याकरणकी आवश्यकता प्रतीत हुई। चण्डने वैसे अपभ्रंशका उल्लेख किया है, पर उसके प्रथम वैयाकरण आ० हेमचन्द्र हैं। उनके बाद त्रिविक्रम और क्रमदीश्वरने अपभ्रंशको अपने व्याकरणोंमें जगह दी। पर उन्होंने हेमचन्द्र-को ही अपना आधार माना। हेमचन्द्रके शब्दानुशासनका सबसे विवादग्रस्त वाक्यांश है "प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं, तत आगतं वा प्राकृतं।" थोड़े-बहुत शाब्दिक हेर-फेरके साथ, दूसरे वैयाकरणोंने इस आशयको दोहराया है।[1] प्राकृतोंके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं, उनसे भी प्राकृतका निश्चित अर्थ उपलब्ध नहीं होता। उनके विभाजनके मुख्य आधार दो हैं—ऐति-हासिक और प्रादेशिक। एक और, व्यावहारिक आधार भी हो सकता है। भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें इसका संकेत दिया है। उन्हींके अनुकरणपर मार्कण्डेय प्राकृतोंके चार भेद करते हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। भाषा—जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी। विभाषा—जैसे शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी, शाकरी आदि सत्ताईस भाषाएँ। अपभ्रंशके वह तीन भेद करते हैं—नागर, व्राचड़ और उपनागर। वह ग्यारह प्रकारकी पैशाच भाषाओंको 'नागर' में गिनाते है। राम तर्कवागीश भी प्रायः यही मानते हैं। उक्त विभाजनका मुख्य स्रोत क्या है, बताना कठिन है। मोटे तौरपर, लगता यही है कि मार्कण्डेयके भाषा शब्दका अभिप्राय साहित्यिक प्राकृतोंसे है और विभाषाका बोलियोंसे। वह आभीरीको भी बोलियोंमें गिनाते हैं, जो

---

१. प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते। (मार्कण्डेय)
प्रकृतेः आगतं प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्। (धनिक, दशरूपक टीका)
प्रकृतेः संस्कृतात् आगतं प्राकृतम्। (वाग्भटालंकारकी टीका)
प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतम्। (सिंहदेव गणी, प्राकृत चन्द्रिका)
प्रकृते संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। (प्राकृत शब्द प्रदीपिका)
'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतयोनिः। (कर्पूरमंजरी बम्बई संस्करण)

भरत मुनिके समय एक बोली थी, और जिसका साहित्यिक रूप अपभ्रंश कहलाया। लगता है मार्कण्डेयने अपने युगकी भाषाओंका विवरण न देकर, भाषाओंका परम्परागत लेखा-जोखा दे दिया है। अतः प्रस्तुत विवरण हमें किसी भी निष्कर्षपर नहीं पहुँचाता, सिवा इसके कि मार्कण्डेय अपभ्रंशको प्राकृतसे अलग मानते हैं। साहित्यशास्त्रियोंने तो बहुत पहले अपभ्रंश साहित्यका पृथक् विचार प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत शब्दशास्त्री भी, प्राकृतमें रखते हुए, उसका स्वतन्त्र निरूपण करते रहे। फिर भी प्राकृतसे जिन भाषाओंका बोध होता है, उनके आधारपर प्राकृतका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता।

प्राकृतका अर्थ

साधारणतया प्राकृतका अर्थ है स्वाभाविक या अकृत्रिम। भाषाके सन्दर्भमें प्राकृतका समान अर्थ है संस्कृतसे भिन्न। प्राकृतसे पुराना शब्द भाषा है। प्राकृत शब्द रूढ़ रहा जबकि भाषा शब्द गतिशील। वैयाकरणोंने प्रारम्भमें भाषाके दो भेद स्वीकार किये हैं—वैदिक भाषा और लौकिक भाषा यानी संस्कृत। ये दोनों ही भाषा कहलायीं, क्योंकि ये पढ़ी-लिखी जाती थीं। संस्कृत वस्तुतः प्राकृतोंके बीच विचार-सम्प्रेषणीयताकी सामान्य माध्यम थी। 'प्राकृत' प्रारम्भमें बोल-चालकी बोलियोंके लिए प्रयुक्त होता था, बादमें साहित्यिक भाषाओंके अर्थमें रूढ़ हो गया। ये भाषाएँ निश्चय ही संस्कृतसे प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न है। सच पूछिए तो वैदिक संस्कृत, आर्ष-संस्कृत ही थी। यह सोचना अंशतः ही ठीक माना जा सकता है कि वैदिक भाषाके रूढ़ होनेपर संस्कृत अस्तित्वमें आयी। क्योंकि संस्कृत पुरानी भाषाकी प्रतिक्रिया-मात्र नहीं थी। वह नयी आवश्यकताओं और सम्भावनाओंकी माध्यम बनकर आयी। यह नयी भाषा कुछ निश्चित संस्कारोंको लेकर आयी। पुरानीकी तुलनामें नयी एकदम सँवरी और कसी हुई थी। इसीकी तुलनामें प्राकृत बोलियाँ अपनी उच्चारण-सीमाओं और प्रादेशिकतासे घिरी हुई थीं। उनमें चाहे एकरूपता न हो, पर उन्हें एकदम संस्कारविहीन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाषा, व्यक्तिगत नहीं सामाजिक वस्तु है। उसकी सामाजिकता किसी सामान्य प्रक्रियापर ही क़ायम रह सकती है, यही उसके संस्कार हैं। उसे व्यापक और स्थायित्व देनेके लिए जब उसका संस्कार किया गया तो संस्कृतके आदर्शपर। प्राकृतका व्याकरण संस्कृत व्याकरणके आधारपर ही

सम्भव था। हुआ भी ऐसा ही। आ० हेमचन्द्रने जो इस सिद्धान्तके प्रथम प्रतिपादक हैं, इसीलिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' कहा है न कि 'संस्कृतं प्रकृतिः'। इसका अभिप्राय है कि प्रकृति-संस्कृत ही होती है। वस्तुतः सभी भारतीय आर्यभाषाओंकी प्रकृति एक है। उनके नामधातुओं और उच्चारणकी स्थितिमें बहुत कुछ समानता है। संस्कृत और प्राकृतमे जो भेद है वह प्रकृतिका नहीं, प्रत्ययों अर्थात् व्याकरणका है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि प्राकृतोंकी जिस प्रकृतिसे प्रत्यय विधान किया जाता है वह संस्कृतकी साध्यमाना प्रकृतिसे बहुत प्रभावित है। प्राकृतोंके विश्लेषणमें संस्कृतकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राकृतों हो नहीं, वरन् आधुनिक हिन्दीकी प्रकृतिपर संस्कृत विभक्तियोंका प्रभाव अवशिष्ट[1] है। इसी प्रभावापन्नताको बतानेके लिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' के सिद्धान्तका प्रतिपादन आ० हेमचन्द्रने किया। इसका दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि प्रकृति, संस्कृत यानी निष्पन्न होती है। व्याकरणमें इसीसे प्रकृतिके दो भेद हैं—एक सिद्ध और दूसरी साध्यमान। ऐतिहासिक अनुक्रममें प्राकृतोंके व्याकरण संस्कृतके बाद लिये गये। 'प्रकृतिः संस्कृतं'को इसी सन्दर्भके प्रकाशमे देखना चाहिए। हेमचन्द्र कहते है—

"संस्कृतानन्तरं प्राकृतमधिक्रियते।"

संस्कृतके बाद, प्राकृतका अधिकार प्रारम्भ होता है।

संस्कृतानन्तरं प्राकृतस्यानुशासनम्।

सिद्धसाध्यमान-भेदसंस्कृतयोनेः इति तस्यैव लक्षणं न देशस्य इति ज्ञापनार्थम्।

संस्कृतके बाद प्राकृतका अनुशासन है। यहाँ उस प्राकृतका विश्लेषण है जो सिद्ध-साध्यमान भेदोंसे युक्त-संस्कृतसे युक्त है, देशीका नही। निष्कर्ष यह कि—

१. संस्कृतके बाद प्राकृतका अनुशासन ही क्रमप्राप्त है।

२. उसी प्राकृतका जो अपनी सिद्ध और साध्यमान प्रकृतिके कारण संस्कृतयोनिजा है।

३. संज्ञा कारक आदि तत्त्व प्राकृतमें संस्कृतके समान हैं।

---

१. आकारान्त पुल्लिंगके एकवचन और बहुवचनमें क्रमशः जो ए और ओ स्त्रीलिंगमें भी ओं आदि विकारी रूप हैं, इन विकारी रूपोंमें षष्ठी विभक्तिका प्रभाव माना जाता है।

४. लक्षण-सिद्ध प्राकृत और देशी एक बात नहीं।

५. प्राकृत परम्परामें होते हुए भी हेमचन्द्र अपभ्रंशका अलग विचार करते हैं।

हेमचन्द्र और त्रिविक्रम

इस बारेमें दो मत होनेका प्रश्न नहीं उठता कि हेमचन्द्रने अपभ्रंशका व्याकरण लिखकर बहुत बड़ा ऐतिहासिक काम किया। आधुनिक युगमें अपभ्रंशकी जो खोज-खबर हो सकी, वह भी इसीलिए। उदाहरणके समूचे अवतरण देकर, उन्होंने बहुत-सा लुप्त साहित्य भी बचा लिया। संक्षिप्त होते हुए भी व्याकरणके सभी अंगोंका समावेश उसमें हैं। सर्वप्रथम स्वर-व्यंजनोंका विचार है, फिर विभक्तियों और क्रियापदोंका। उसके अनन्तर धात्वादेश, अव्यय, क्रिया विशेषण, स्वार्थिक प्रत्यय, भाववाचक संज्ञा, क्रियार्थक क्रिया, पूर्वकालिक क्रिया और लिंगानुशासनका। ग्रन्थकी परिसमाप्ति इस निर्देशके साथ होती है कि शेष प्रक्रियामें किसका अनुकरण किया जाये। जैसा कि कहा जा चुका है कि त्रिविक्रमने अपने व्याकरणकी रचना हेमचन्द्रके अनुसार की है। उसमें मौलिकता यद्यपि नहीं है, परन्तु नये तथ्योंका संग्रह अवश्य है। त्रिविक्रमके समूचे व्याकरणको एक बार देख जाइए, आपको लगेगा कि त्रिविक्रमकी दिलचस्पी व्याकरण देनेमें उतनी नहीं जितनी नये शब्दोंके संग्रहमें। मेरी समझसे अकेला यही काम त्रिविक्रम-को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करता है। हेमचन्द्रने संस्कृतके बाद प्राकृत और तब अपभ्रंशकी चर्चा की, त्रिविक्रम सीधे प्राकृतोंसे अपने व्याकरणका श्रीगणेश करते हैं। पहले दो अध्यायों और तीसरे अध्यायके प्रथम चरणमें प्राकृत महाराष्ट्रीका व्याकरण है। दूसरे चरणमें शौरसेनी, मागधी, चूलिका और पैशाचीका। अन्तिम दो चरणोंमे अपभ्रंशका। तीसरे चरणमें स्वर-व्यंजन परिवर्तन एवं अन्य प्रत्ययोंका विधान है। दूसरे चरणमें संज्ञा और धातुरूपोंकी चर्चा है। अन्तमें 'झाड़गास्तु देश्याः' कहकर वह देशी शब्दोंकी लम्बी-चौड़ी सूची देते हैं। इसमे बहुत-से शब्द ऐसे हैं, जो हेमचन्द्रकी देशी नाममालामें भी नहीं मिलते। अपभ्रंश ही नहीं, दूसरी प्राकृतोंके शब्दोंकी भी सूची त्रिविक्रमने दी है। उन्होंने यह तो नहीं बताया कि किस स्तोत्रसे इन शब्दोंका संग्रह उन्होंने किया पर ऐतिहासिक तुलनाके लिए इसका महत्त्व अत्यधिक है। उन्होंने केवल महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशके शब्दोंका संग्रह दिया है, दूसरी प्राकृतोंके शब्दोंका

नहीं। देशी शब्दोंका संग्रह कुल छह शीर्षकोंके अन्तर्गत है। इनमें प्रथम पाँच महाराष्ट्री प्राकृतके हैं और अन्तिम अपभ्रंशका। इस सन्दर्भमें यह भी स्मरणीय है कि हेमचन्द्रका अनुकरण करते हुए भी, त्रिविक्रम कुछ बातोंमें मौलिक थे। उदाहरणके लिए आ० हेमचन्द्र पहले संस्कृतको आदर्श मानते हैं, तब लोकको अर्थात् प्राकृतमें जो बात संस्कृतसे सिद्ध न हो उसे लोकसे जानना चाहिए। इसके विपरीत त्रिविक्रम अपने व्याकरणका उद्घाटन करते हैं 'सिद्धिर्लोकाच्च' से अर्थात् प्राकृत शब्दोंकी सिद्धि लोकसे होती है। जो लोकसे समझमें न आये, उसे दूसरी भाषाके व्याकरणसे समझना चाहिए—'अनुक्तमन्यशब्दानुशासनवत्'। पर अपने इस मौलिक दृष्टिकोणके बाद भी, वह प्रयासपूर्वक हेमचन्द्रसे सामंजस्य बनाये रखते हैं। वे शब्दको साहित्यका प्राण मानते हैं[1]। जो उच्चारणमें सरल और अर्थमें महान् हो ऐसा शब्द प्राकृत ही हो सकता है। यह तीन प्रकारके हैं—तत्सम, तद्भव और देशज। उसमें तत्समका नियमन संस्कृतके लक्षण-से होगा और तद्भव यानी साहित्यिक प्राकृतका सिद्ध और साध्यमान संस्कृत-प्रकृतिसे।[1] बाकी रहता है देश्य और आर्ष, सो दोनों ही बहुल हैं — एक स्वतन्त्र होनेसे और दूसरा रूढ़ होनेसे। इसलिए उनका लक्षण देना यहाँ ठीक नहीं। वह तो उस सम्प्रदायसे जाना जा सकता है जिसका वह शब्द है। इसलिए मैं यहाँ प्राकृत (प्रकृतिः संस्कृतं तद्भवं तत आगतं वा प्राकृतं) के लक्ष-लक्षणोंका विचार करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि त्रिविक्रमने देशी शब्दोंको व्याकरणकी तराजूपर नहीं तौला ? यह स्वाभाविक भी था। यह एक ऐसी विवशता है जो हर वैयाकरणके साथ रही है। आकृतिगण, निपात, आदेश, धात्वादेश आदि व्याकरणिक विधियाँ इसी तथ्यको प्रमाणित करती हैं। त्रिविक्रमने विभिन्न आधारोंपर देशी शब्दोंका संग्रह किया है। 'पुन्नाय्याद्या' में वे ऐसे शब्दोंको रखते हैं जिनके स्वरोंको व्याकरणके

---

१. 'अनल्पार्थः सुखोच्चारः शब्दः साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तितम्॥
प्राकृतं तत्समं देश्यं तद्भवं चेत्यनरित्रधा।
तत्समं संस्कृतसमं ज्ञेयं संस्कृतलक्षणम्॥
देश्यमार्षं च रूढत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसा।
प्रकृतेः संस्कृतात् साध्यमानाच्च सिद्धाच्च यद्भवेत्॥
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे।'

नियमोंमें बाँधना कठिन है।[1] इन्हें त्रिविक्रम निपात मानते हैं। इस शीर्षकमें कुल २१ शब्द हैं।[2] गौणाद्याः सूत्रके अन्तर्गत ऐसे शब्दोंको रखा गया है जिनकी प्रकृति प्रत्ययादिका विश्लेषण व्याकरणसे सम्भव नहीं।[3] कुल मिलाकर १०८ शब्द इसमें हैं।[4] गहिआद्याः शीर्षकमें वे शब्द आते हैं जिनका अर्थ और स्वरूप, निर्वचनके आधारपर कल्पित कर लिया गया है।[5] इस तरहके १२२ शब्दोंकी सूची, उक्त शीर्षकमें है।[6] अपुण्णाद्याः क्तेनके अन्तर्गत उन शब्दोंको रखा गया है जो 'क्त' प्रत्ययके साथ निपात मान लिये गये हैं। अपुण्णादयः शब्दाः क्तप्रत्ययेन सह निपात्यन्ते। ऐसे कुल २५४ शब्द संग्रहमें हैं।[7] वरइत्तगा स्त्रनाद्यैः में वे शब्द संग्रहीत हैं जो प्रत्ययोंके साथ निपात मान लिये गये हैं।[8] ऐसे शब्दोंकी कुल संख्या १३४ हैं।[9] अपभ्रंशमें झाडगाद्याः सूत्रमें उन शब्दोंको लिया गया है। जो देश-विदेशमें व्यवहारमें आते हैं और जो शब्दशास्त्रीकी पहुँचके बाहर हैं। ये या तो प्रसिद्ध हैं अथवा स्वयं निष्पन्न[10]। इसमें सबसे अधिक शब्दोंकी (८५०) संख्या है[11]। 'इस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृतके ६३२ और अपभ्रंशके ८५०, दोनोंको मिलाकर कुल १५०० के आस-पास शब्द हैं। त्रिविक्रमका व्याकरण, शब्दशासन और शब्दसंग्रहका संगम ग्रन्थ हो गया है। हेमचन्द्र और दूसरे कोशकारों-द्वारा संग्रहीत देशी शब्दोंसे यदि इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाये तो कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल

---

१. वा पुआयाद्याः ।१।१।२।१०१, पुआई इत्यादयः शब्दाः स्वराद्यादेश-विशेषिता वा निपात्यन्ते, देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ ब।

२. शब्द सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ ब।

३. गौणादयः शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकाराः बहुलं निपात्यन्ते १।१।३।१०५।

४. सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ स।

५. गहिआद्या इत्यादयः शब्दाः निर्वचनागोचराः निपात्यन्ते १।४।१२१।

६. शब्दोंके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ क।

७. देखिए प्रकीर्णक ९ ख।

८. वरइत्त इत्यादयः तृनादिप्रत्ययैः सहिताः स्वराद्यादेश-विशेषता बहुलं निपात्यन्ते।

९. सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ ग।

१०. झाडादयः शब्दा देश्या देशविदेशव्यवहारादुपलभ्यमानाः सिद्धाः निष्पन्नाः वा वेदितव्याः ३।४।७२,

११. सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० सं० ९ अ।

सकते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि महाराष्ट्री प्राकृतसे अपभ्रंशके शब्दोंकी संख्या अधिक थी। शब्दोंके तुलनात्मक अध्ययनकी दिशामें अच्छी सामग्री प्रस्तुत कृतिमें है, इसमें सन्देह नहीं।

आचार्य हेमचन्द्रका अपभ्रंश व्याकरण

अपभ्रंशमें निम्न स्वर-व्यञ्जन प्रयुक्त हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऍ ए ओॅ ओ।

व्यंजन—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ ण त थ द ध प फ ब भ म य र ल व स ह।

स्वर विकार—ऋ लृ, ऐ औके स्थानमें दूसरे स्वर आ जाते हैं। जैसे लृ = इ या इलि। ऋ = अ, इ, उ, आ, और ए, उदाहरण क्रमशः तणु, तिणु, पुट्ठिु, काच्चु और गेह। ऐ = ऍ, ए या अए, उदाहरण अवरेॅक, देव और दइअ। औ = ओॅ, ओ या अउ, उदाहरण जोव्वण, गोरी और गउरी। पदके अन्तमें रहनेपर उं, हुं, हिं और हं का लघु उच्चारण होता है। (इस नियमका सम्बन्ध छन्दसे है, इससे स्पष्ट है कि यह काव्य-भाषाकी व्याख्या की जा रही है)।

स्वर विनिमय—स्वर आपसमें बदल जाते हैं। जैसे अ = अ, सीता = सीय, आ = ए, मात्रा = मेत्त, ई = अ हरीतिकी, हरदह, आ, कश्मीर = कम्हार, उ = अ, मुकुट = मउड, इ – पुरुष = पुरिस, उ = ए – नूपुर = नेउर, ओ – मूल्य = मोल्ल, ए = इ, ई – लेखा = लिह, लीह।

अनुस्वार—युक्त ह्रस्व स्वरके आगे यदि श स श ष या ह हो तो ह्रस्व स्वरको दीर्घ स्वर हो जाता है, विंशति = वीस, सिंह = सीह। साधारण नियम यह है कि आदि व्यंजनमें परिवर्तन नहीं होता, पर इसके अपवाद भी हैं, धृति = दिहि, दुहिता = धीय, यमुना = जमुना। मध्यग = क, ख, त, थ, प और फ के स्थानमे क्रमसे ग, घ, द, ध, ब और भ होते हैं। मध्यग क, ग, च, ज, त, द, प और ब को लोप होता है (यह महाराष्ट्री प्राकृतकी विशेषता है)। स्वरोंके मध्यवर्ती ख, घ, थ, फ और भको 'हा' होता है।

कुछ व्यंजनोंका स्फुट विनिमय होता है जैसे म्ह = म्म, गिम्हो = गिम्मो, ट = ड – तट = तड, ठ = ढ – मठ = मढ इत्यादि।

महाप्राण भी हो सकता है क्रीड = खेल, कर्पर = खप्पर, परसु =

फरसु। दन्त्य व्यंजनोंको मूर्धन्य बना देते हैं, पताका = पडाय, पतित = पडिउ, ग्रन्थिपाल = गंठिपाल, दहति = डहइ, दोला = डोला।

संयुक्त व्यंजनमें परिवर्तनके इतने नियम हैं। संयुक्त व्यंजनमें दूसरा व्यंजन य र ल व होनेपर उसके लोपका नियम है, व्यापार = वावारउ, व्यामोह = वामोह, क्रीड़ा = कील, स्वर = सर। क्षका स्थान कई व्यंजन ले लेते हैं, क्षार = खार, क्षण = छण, कटाक्ष = कडक्ख। त्य – अत्यंत = अच्चंत। त्व – मिथ्यात्व = मिच्छत्त। द्य = अज्जु। सावर्ण्य भावका नियम व्यापक है, कल्य = कल्ल, काव्य = कव्व, सर्व = सव्व, कन्या = कण्ण।

अपभ्रंशमें सन्धिका कोई नियम नहीं है, उद्वृत्त स्वरकी भी सन्धि कर देनेकी प्रथा है। जैसे अंधकार = अंधआर – अंधार।

रूप विचार—पाली प्राकृतोंकी अपेक्षा अपभ्रंशमें शब्द-रूप तथा क्रिया-रूप अधिक सरल हैं। द्विवचन और चतुर्थी विभक्तिका लोप प्राकृत युगमें हो चुका था। निय प्राकृतके प्रसंगमें इसके कारणका निर्देश किया जा चुका है। अपभ्रंशमें प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोंके रूपोंमें अभेद होने लगता है। निय प्राकृतमें भी हमने यह बात लक्ष्य की थी। षष्ठीका भी इसमें यही हाल हुआ। निर्विभक्तिक पदसे ही उक्त तीन विभक्तियोंका बोध हो सकता है। दूसरी प्रवृत्ति है हलन्त इकारान्त और उकारान्त शब्दोंको अकारान्त बनानेकी। जैसे बाहु, स्वसृ, भ्रातृ, मनस्, जगत् और युवन्‌के क्रमशः बाह, सस, भायर, मन, जग, और जुव्वाण शब्द होंगे। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत शब्द अपभ्रंश प्रकृतिमे ढलकर ही अपभ्रंश प्रत्ययोंकी सहायतासे पद बनते हैं। इस प्रक्रियामें ध्वनि-परिवर्तनका प्रभाव स्पष्ट है। इन शब्दोंको अंगरूप (आबलिक फ़ार्म) नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यय विशिष्ट शब्दसे यह प्रकृति नहीं बनायी गयी। सीधे शब्दसे प्रत्यय लगते हैं, परन्तु आ० भारतीय भाषाओंमे मूल शब्दमें प्रत्यय न लगाकर उसके विकसित रूपमें लगाये जाते हैं, केवल बँगला इसका अपवाद है। मराठीमें इसे सामान्य रूप कहते हैं, हिन्दीमें अंगरूप या विकारीरूप प्रत्ययोंमें भी सरलता है।

नामकी विभक्तियोंके कुल प्रत्यय इतने हैं :

अकारान्त	पुंलिग	अकारान्त	नपुंसकलिंग
१. ० उ ओ	०	१. ०	० इं
२. ,,	,,	२. ,,	,,

३. ए एं एण	हिं ए हिं	३. शेष पुंलिंग अकारान्त-की तरह।
४. हे हु	हुं	४.
५. ० सु हो स्सु	० हं	५.
६. व ए	हिं	६.

इकारान्त पुंलिंग		इकारान्त स्त्रीलिंग	
१. ०	०	१. ०	० उ ओ
२. ०	०	२. ०	,,
३. एं ण	हिं	३. ए	हिं
४. हे	हुं	४. हे	हुं
५. ०	० हं हुं	५. हे	हु
६. हि	हुं	६. हि	हिं

विशेष रूपसे ये तीन बातें लक्ष्य करनेकी हैं–

१. शब्द रूपोंकी कमी है। इसके दो कारण हैं, एक तो प्रकृतिको समान बनानेको प्रवृत्ति है और इसके विभक्ति चिह्नोंका प्रायः लोप हो जाता है। यह प्रक्रिया प्राकृतोंमें ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

२. प्रत्ययोंकी सरलता और समानता। अधिकतर 'ह' में स्वर और अनुस्वार जोड़कर प्रत्ययका काम चलाया जाता है।

३. विभक्ति और वचनोंकी कमी। इससे सरलता बढ़ी, पर आगे चलकर विभक्तियोंके निर्णयमें सन्देह भी होने लगा, अवहट्ठ कालमें यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी होगी। विभक्तिके लिए, कुछ निश्चित शब्दोंका भी प्रयोग होता है। ये शब्द प्राचीन विभक्तिके साथ आते हैं। जैसे सम्बन्ध (षष्ठी) के लिए केर और तण, एवं सम्प्रदान (चतुर्थी) के लिए केहि केसिं, रेहि रेसिं तणेण। परसर्गोंके विकासकी, इस प्रकार ये शब्दप्रत्यय भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

सर्वनाम–सर्वनामोंके रूपमें भी काफ़ी परिवर्तन हुआ।

उत्तम पुरुष

एकवचन	बहुवचन
१. हउं	अम्हे अम्हइं
२. मइं	,,
३. ,,	अम्हेहिं

४. महु मज्झु	अम्हहं
५. ,,	,,
६. मइं	अम्हासु

मध्यम पुरुष

१. तुहुं	तुमहं तुम्हइं
२. पइं तइं	,, ,,
३. ,, ,,	तुम्हेहिं
४. तउ तुज्झ तुध्र	तुम्हहं
५. ,,	,,
६. पइं तइं	तुम्हासु

अन्य पुरुष

१. सव्वु सव्वो सव्व	सव्वे सव्वा सव्व
२. ,,	सव्व सव्वा
३. सव्वंण सव्वें	सव्वेंहिं सव्वेंसि
४. सव्वहां सव्वाहां	सव्वंहुं सव्वांहुं
५. सव्वसु सव्वस्सु सव्वहो	सव्वहं सव्व
६. सव्वहिं	सव्वहिं

एतद् = यहके रूप—

	पुंलिंग	स्त्रीलिंग	नपुंसकलिंग
१.	एहो—एइ	एह—एईउ एहाउ	एहु—एहइं एहाइं एईइं
२.	,, ,,	,, ,,	,, ,,

शेष रूप सव्वकी तरह समझना चाहिए।

वह (अदस्) का कर्त्ता और कर्मके वचनमें 'ओह' होता है।

यत् (जो) सम्बन्धी सर्वनाम

१. जु जो	जो	जा	जाउ	जं धुं	जाइं
२. जं	जे	जं	जाउ	जं जु	जाइं
३. जेयो, जि, जं	जेंहि	जाइं, जाए, जेंहि जिए			
४. जउ, जइ	जहु	जाइ	जाहिं		
५. जासु जसु जस्स जाहं जाह जहो जहे		जाहि	जाहि		

६. जहिं जम्मि जहिं जांहि जांहि

तद् (वह) निर्देशके अर्थमें

१. सो, सु, स	ते	सा, स	ताउ ति	तंतु	ताइं
२. तं	ते	तं	ताउ	तं, अं	ताइं
३. तेण तइं	तेहिं ताहं	तइं तिए			
			तेहि		
तें तिं	तेहिं	ताए तए			
		तए			
४. तहे तउ	तहु	ताहं तहे	तहिं		
५. तासु, तहो तहि		तिह ताहि			
तसु	तहु	तहे	ताहि		
६. तहिं ताह	तहि	तहि तहिं	ताहिं		

प्रश्नवाचक किम्के रूप—

पुंलिंग		स्त्रीलिंग		नपुंसकलिंग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. को कु	कं	का का	कायउ काउ	कि	काइं
२. ,,	,,	,,	,,	,,	,,
३. केण कइ	केहिं	काहं काए	केहि काहि		
४. कउ किहे	कहु	काहे	काहिं		
कहां					
५. कहो कहु कस्स					
कासु	काहं	कहिं काहि	काहि		
६. कहि कहिं	कहिं	काहिं	काहिं		

इदम्—(यह) को आय होता है। इसके रूप सब्बकी तरह चलते हैं।

अव्यय—एम्व = ऐसा ही, पर = पर, समाणु = समान, ध्रुव = निश्चय ही, मं = नहीं, किर = प्रसिद्धिके अर्थमें, अहवइ = अथवा, दिवे = दिवा, सहुं = साथ, नाहिं = नहीं, पच्छइ = बादमें, एवमेव = ऐसे ही, जि = हि, एम्वहि = इस समय, पच्चलिउ = बल्कि, उत्तहे = यहाँसे, बुन्न = खिन्न, वुत्त = उक्त, बिच्च = मार्ग, अनु = अन्यथा।

विशेष कार्य—रेफका लोप होता है जैसे प्रिउ = पिउ, रेफका आगम होता है व्यासु = व्रासु। द को इ होता है, जैसे—आपद = आवइ, 'के लिए' के अर्थमें = केहिं तेहिं, रेसि, और रेसिं आते हैं। समानताके अर्थमें-नं, नउ, नाइ, नावइ, जणि, जणुका प्रयोग होता है।

सर्वनाम विशेषण—जितना = जेवडु, जेतलु। कितना = केवडु, केत्तलु। उतना = तेवडु, तेत्तलु। इतना = एवडु, एत्तलु।

गुणवाचक—जैसा = जइसो, जेहु, तैसा = तइसो, तेहु, कैसा = कइसो, केहु। ऐसा = अइसो, एहु।

सम्बन्धवाचक—इस जैसा = एरिस, तुम्हारे जैसा = तुम्हारिस, हमारा = हम्हारिस, हमारा = हम्हार।

स्थानवाचक—यहाँ = एत्थु, जहाँ = जेत्थु जत्तु, तहाँ = तेत्थु तेत्तु, यहाँ वहाँ = एत्तहे तेत्तहे, जहिं कहिं तहिं रूप भी हो सकते हैं।

समयवाचक—जबतक = जामहिं, जाम, जाउँ, तब तक = तामहिं, ताम, ताउँ, तबसे = तो।

रीतिवाचक—जिस प्रकार = जेम, जिम, जिह, जिध; किस प्रकार = केम, किम, किह, किध; तिस प्रकार = तेम, तिम, तिह, तिध।

भाववाचक संज्ञामें 'प्पणु' और 'तणु' प्रत्यय आते हैं[1], स्त्रीलिंग शब्दोंमें 'डी' और 'डा' आता है। इनको आपसमें मिलाकर भी लगा सकते हैं – क्रम यह होगा – अ, डड, डुल्ला, डड, डड + अ, गुल्ल + अ, और डुल्ल + डड। अपभ्रंशमें शब्दोंके लिंगके सम्बन्धमें कोई अनुशासन नहीं है। नपुंसकलिंग शब्दमें स्त्रीलिंग हो सकता है और स्त्रीलिंग शब्दमें पुंलिंग। शेषमें भी यही प्रक्रिया हो सकती है।

आख्यात—हेमचन्द्रने क्रियाका जो विचार किया है उसमें वह संस्कृत

---

१. डॉ० जोशीने हिन्दी-भाववाचक 'पन'का विकास जो वैदिक 'त्वन्' प्राकृत 'तण'से माना है, (प्राकृत भाषाका व्याकरण पृ० ६) वह ठीक नहीं। प्रश्न है 'प' ध्वनि बीचमें कैसे आ घुसी। इसका सम्बन्ध सीधा अपभ्रंशके 'प्पण' से (त्वतलो प्पण सिद्ध हेम शब्दानुशासन ४।४३७) है। प्पण लगकर, अपभ्रंशमें रूप बनता है वड्डप्पणु। हिन्दीमें वैसे संयुक्त व्यञ्जन नहीं रहता और 'ण' का न होता है, अतः हुआ 'बड़प्पन'। यह वैकल्पिक है अपभ्रंशमें। दूसरा रूप होगा 'वड्डत्तणहो तवेण'। हिन्दीने सीधे एक 'प्पणु' को अपना लिया। बड़प्पनमें 'प्पन' का बड़प्पन सुरक्षित है। परम्पराका सम्मान। पर लड़कपन छुटपन आदिमें 'पन' ही रह गया।

धातुओंको पहले अपभ्रंशकी प्रकृतिमें ढाल लेते हैं। प्राकृत क्रियाओंके सम्बन्धमें भी यह सिद्धान्त लागू है। इस दृष्टिसे पाँच प्रकारकी धातुओंका प्रयोग इस भाषामें मिलता है।

१. मूल धातु—जिन्हें हम देशज कह सकते हैं। आकर भाषा (संस्कृत) से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं।
२. सप्रत्यय धातु—वे धातुएँ हैं, जो प्रत्ययसहित संस्कृत क्रियासे ली गयी हैं।
३. विकरण धातु—जो साध्य मान संस्कृत धातुसे सम्बन्ध रखती हैं।
४. नामधातु—
५. ध्वनि धातु—अनुकरणमूलक।

इनमें २ और ३ संख्याकी धातुओंकी संख्या अधिक है। नामकी तरह धातुमें भी संस्कृत हलन्त धातुओंको अकारान्त बना लिया जाता है। अपभ्रंश साहित्यमें अनुकरणमूलक धातुओंका सबसे अधिक प्रयोग है।

क्रियारूप—

सामान्य वर्तमान काल

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करमि करउं	करहुं करिमु
म० पु०	करहि करसि	करहु करह
अ० पु०	करइ, करेइ	करहिं करन्ति

सामान्य भविष्य

उ० पु०	करेसमि करीहिमी	करिसु करेसहुं
म० पु०	करेसहि करेससि	करेसहु करेसहो
अ० पु०	करेसइ, करेहइ	करेसहिं करेहिंति

आज्ञा मध्यम पुरुष—इ, उ, और ए प्रत्यय लगते हैं।

जैसे—सुमरि, सुमरु, सुमरे

शेषमें वर्तमान कालके ही प्रत्यय लगते हैं।

विधिके अर्थमें—

उ० पु०	करिज्जउ	किज्जउं
म० पु०	करिज्जहि करिज्जइ	करिज्जहु
अ० पु०	करिज्जउ	करिज्जंतु करिज्जहुं

सामान्य भूतमें भूत कृदन्तका ही प्रयोग होता है, जैसे—गय, किय, पइट्ठ।

कर्मणि प्रयोगके लिए—'इज्ज' या 'इय' प्रत्यय आता है। कहिज्जइ, फिट्टियइ। कृदन्तमें परस्मैपदी प्रत्यय आते हैं—करंत, पइसंत, इत्यादि। परन्तु आत्मनेपदी प्रत्यय भी आ सकते हैं। जैसे—पविस्माण। विधिके लिए—इएव्वउं, एवा आते हैं।

पूर्वकालिक क्रियाके लिए आठ प्रत्यय आते हैं—इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु।

क्रियार्थक क्रियामें—एवं, अण, अणहं, अणहिं, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु प्रत्यय आते हैं। शील, धर्म या साध्वर्थ बतानेके लिए 'अणअ' प्रत्यय आता है—हस + अणअ = हसणउ = हसनशील। धातुओंको कुछ विशेष आदेश होते हैं। क्रिय = कीसु, भू = हुच्च, ब्रु = वुब, व्रज = वुज, दृश = प्रस, गृह = ग्रण्ह,।

क्रियाविशेषण—बहिल्लउ = शीघ्र, निच्चट्ट = दृढ़, कोड्ड = कौतुक, दड़वड़ = शीघ्र, छुड्डु = यदि, जुअंजुअ = अलग-अलग।

विशेषण—विट्टलु = नीच, अप्पणु = आत्मीय, सड्ढलु = असाधारण, रवण्ण = सुन्दर, नालिअ, वढ = मूर्ख, नवख = नया,।

संज्ञा शब्द—द्रवक्क = भय, घंघल = झगड़ा, जाइट्ठिया = जो जो देखा, मम्वीसा = डरो मत। सम्बन्धीके अर्थमें 'केर' और 'तण' प्रत्यय आते हैं। 'घइं' का निरर्थक प्रयोग होता है।

आ० हेमचन्द्रका यह भी कथन है कि जो बातें अपभ्रंश व्याकरणके इस प्रसंगमें छूट गयी हों, वे प्राकृतसे समझ लेनी चाहिए और जो प्राकृतमें न हों वे संस्कृतसे। अधिकांश प्राकृत वैयाकरण प्राकृतोंका विचार संस्कृत व्याकरणकी शैली ही पर करते हैं।

युग और स्रोत

ऐतिहासिक दृष्टिसे अपभ्रंश साहित्यका युग, मैं ७वींसे १२वीं ईस्वी तक मानता हूं। वैसे बोल-चालके रूपमें इस भाषाका उल्लेख दो-चार सौ वर्ष पहलेसे ही मिलता है। हम देख चुके हैं कि दण्डीके समय (६७५-७१०) में यह नवीन भाषा साहित्यमें अपभ्रंशके नामसे प्रयुक्त होने लगी थी। बाणभट्टने (७वींका पूर्वार्ध) भाषा कवि वायुकुमार और ईशान कविका भी उल्लेख किया है। पुष्पदन्तने भी 'ईशान' कविका नाम स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि सातवीं सदीके प्रारम्भमें अपभ्रंश काव्यकी धारा प्रवाहित हो चली थी। वैसे उपलब्ध कवियोंमें सबसे पहले स्वयम्भू हैं। ये सातवींके अन्तिम चरणमें हुए। उन्होंने अपने 'स्वयम्भू छन्द'में आठ-नौ अपभ्रंश कवियोंके नाम गिनाये हैं। ये हैं, चउमुख, धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव, गोइंद, सुद्धसील, जिणआस, और वियड्ढ। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके कोई सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले अपभ्रंशमें काव्य-रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। अतः ७वींसे इसका विधिवत् प्रारम्भ मानना ही ठीक है। जहाँ तक अन्तका सम्बन्ध है वह १२वीं ही उचित है। इस प्रकार हेमचन्द्र और रहमान इस काव्यके अन्तिम कवि ठहरते हैं। वैसे बाद तक (१६-१७वीं) अपभ्रंशमें साहित्य-रचना होती रही। कमसे कम १४वीं तकके भाषा-साहित्यपर इसका यथेष्ट प्रभाव रहा। फिर भी अन्तिम समय १२वीं सदी ही मानना चाहिए। क्योंकि इसके बादकी काव्य-रचनामें पुरानी काव्य भाषाका ही रूढ़ अनुकरण होता रहा। नवीन युगचेतनाकी दृष्टिसे भी उसका कोई महत्त्व नहीं। यथार्थमें वह सन्धियुगकी अवस्था थी। इसके बाद देशी भाषाओंका साहित्य रचा जाने लगा। अन्यत्र हम यह विचार कर चुके हैं कि १०वींसे १३वीं तकका काल हिन्दीका आदि काल न होकर अपभ्रंशका ही अन्तिम काल है। अतः यहाँ विस्तारसे विरत होकर अपभ्रंश युगको ७वींसे १२वीं सदी तक मान लेते हैं। श्री राहुलजीने इस कालका नाम 'सिद्ध-सामन्तकाल' सुझाया है। पर यह नाम इस भाषा और साहित्यकी सभी प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व नहीं करता। श्री राहुलजीने अपभ्रंशको हिन्दी मानकर ही यह नाम दिया

है। पर हमें इस नामपर ही आपत्ति है। वस्तुतः यह अपभ्रंश है। प्राकृतकी अन्तिम भूमिका, पर उससे अलग। इसी तरह मध्य भारतीय आर्य भाषाओंकी प्राथमिक भूमिका, पर उनसे भिन्न। अतः सिद्धसामन्त नामसे भाषाका बोध नहीं होता और न साहित्यकी पूर्ण आत्माका। सामाजिक अवस्थाको व्यक्त करनेके लिए 'सामन्त' तो ठीक है पर 'सिद्ध' शब्दसे केवल सिद्धोंकी आध्यात्मिक विचारधाराका बोध होता है। दूसरी ओर भी आध्यात्मिक विचारधाराएँ थीं। उनका क्या होगा? न वे सामन्तवादिनी हैं और न गोरखपन्थी, फिर भी उनमें उग्र अध्यात्म है। वह एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्ति है जो अपने ही युगकी परि-स्थितियोंसे उत्पन्न हुई थी। उस भक्तिकी धाराका भी इस कालमें उद्‌गम हो चुका था जिसकी आगे चलकर कई धाराएँ प्रवाहित हुईं। ये केवल परिस्थितियोंकी उपज नहीं थीं। उनमें चेतनका प्रकाश था। अतः हम अपभ्रंश युग कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। राजनैतिक दृष्टिसे यह 'राजपूत युग' कहा जा सकता है।

राजनैतिक स्थिति

पूर्व राजपूत युग

निश्चय ही कई कारणोंसे यह युग बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। ईसाकी ५वीं सदीमें गुप्त साम्राज्यका पतन हो गया। छिट-फुट रूपमें उसके उत्तराधिकारी सातवीं तक बने रहे। परन्तु आठवींके प्रारम्भमे नयी शक्तियोंके उदयमें उनका अस्त हो गया। हूणोंके हमले रोकनेमें ये असमर्थ सिद्ध हुए। उन्हें रोकनेका श्रेय मिला मन्दसौर (मालवा) के शासक यशोवर्मनको। सन् ६०६ ईस्वीमें बाह्य आक्रमण और आन्तरिक विप्लवके कारण हर्षवर्धनको थानेश्वर और कन्नौजका सम्मिलित शासक बनना पड़ा। उसे एक साथ कई समस्याओंका सामना करना पड़ा। छह वर्षके संघर्षके बाद वह सफलता पा सका और ६१२ ईस्वी मे पूर्ण शासक बना। ६१८ ईस्वी से ६२७ ईस्वी तक उसे उपद्रवोंको दबानेके लिए बहुत व्यस्त रहना पड़ा। ६४७ ईस्वी में वह चल बसा। ६४६ से ८३६ ईस्वी तक उत्तरी गंगा घाटी, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक उत्पातोंकी संघर्ष-भूमि बनी रही। इस कालमे महोदयश्री (कन्नौज) को हथयानेके लिए तीन शक्तियोंमें कठोर संघर्ष चला। अन्तमें प्रतिहारोंने

इसपर विजय प्राप्त की। कन्नौजका इस समय वही महत्त्व था, जो मुग़लों-के समय दिल्लीका था। आलोच्यकालमें भारतकी राजनैतिक स्थिति इस प्रकार थी।

गुर्जर प्रतिहार

दक्षिण राजपूतानाके गुर्जर प्रतिहारोंने भीनमलमे ७वीं सदीके प्रारम्भमें अपनी राजधानी बनायी। इसके प्रथम शासक नागभट्टने अरबोंका सामना किया था। इसी वंशके वत्सराजने गुर्जरोंको संघटित कर, उत्तरी भारतके राज्योंपर हमले शुरू कर दिये। उसने कन्नौज ले लिया। पर राष्ट्रकूट ध्रुवने उसकी प्रगति रोक दी। जैन हरिवंशपुराणके अनुसार यह ७८३ ई०,मे जीवित था। बीचमें यह वंश कमजोर पड़ गया। पर ९वीं के मध्यमें भोडा प्रथमके समय इसने अपनी धाक जमा ली। उसने ५० वर्ष राज्य किया। पालोंसे उनकी ही सीमापर लम्बा संघर्ष चलता रहा। ये अरबों और राष्ट्रकूटोंके परम्परागत शत्रु थे। १०वींमे उसके निधनके बाद बेटोंमें गद्दीके लिए आपसी होड़ चल पड़ी। पर चन्देल सरदार हर्षकी सहायतासे महीपाल गद्दीपर बैठ गया। परन्तु इस भीतरी कलहसे केन्द्रीय सत्ता टूट गयी। और गुजरातके चालुक्य तथा मालवाके परमार स्वतन्त्र हो गये। दक्षिण चालुक्य इन्द्र तृतीयने कन्नौजपर चढ़ाई कर दी। भोजके समयका विस्तृत राज्य अब सिमट गया। राजशेखर, महीपालका राजगुरु था, और क्षेमीश्वर सभापण्डित। इस वंशका अन्तिम उत्तराधिकारी राज्यपाल सन् १०१२ ईस्वीमें महमूदसे हार गया। कन्नौजके पतनके बाद उसने राजधानी गंगाके दक्षिणमे हटा ली। पर सन् १०२० ईस्वीमे उसका भी पतन हो गया। अब प्रतिहार राज्य कई इकाइयोंमें बँट गया[1]।

पालवंश

बंगालके पाल वंशकी उन्नतिका लगभग यही काल है। मौर्य और गुप्त युगमें बंगाल मगधका अंश रहा। बादमें अनेक स्थानीय शक्तियाँ उठ खड़ी हुई। पालवंशके पहले वहाँ मात्स्य न्याय चल रहा था। आठवींके प्रथमार्धमे गोपालने इस राज्यकी नींव डाली। असली विस्तार इस वंशका

---

१. चालुक्य (गुजरात), यादव (मथुरा), परमार (मालवा), धाहल (चेदि), चौहान (अजमेर), तोमर (दिल्ली)।

धर्मपालने किया। अब वह दक्षिणी बिहारसे उत्तर पश्चिमी बंगालमें आ गया। धर्मपालने राष्ट्रकूट राजाकी मदद से इन्द्रायुधको कन्नौजकी गद्दीसे उतारकर अपने प्रतिनिधि चक्रायुधको बैठा दिया। बादमें प्रतिहार नागभट्ट द्वितीयकी मददसे उसने धर्मपालको हरा दिया। परन्तु राष्ट्रकूटों-की सहायतासे उसने गुर्जरोंके छक्के छुड़ा दिये। उसके उत्तराधिकारी देवपालने भी यह गौरव अक्षुण्ण रखा। यह बौद्ध धर्मका महान् आश्रय-दाता था। बड़े-बड़े बौद्ध पण्डित उसके दरबारमें थे। इसके समय नालन्दा विद्याका प्रसिद्ध केन्द्र था। उसने ४० वर्ष शासन किया। परन्तु उसके बाद भोज प्रथमने उत्तरी भारतमें इस वंशका प्रभाव कम कर दिया। परन्तु १०वीं के प्रारम्भमें महीपालने पुनः पालवंशका गौरव बढ़ाया। वह भी बौद्ध धर्मका संरक्षक था। मुस्लिम आक्रमणके समय उद्भाण्डपुरके शाही राजाओंकी सहायताके लिए उत्तर भारतके राजपूतोंने जो संघ बनाया था उसमें इसने सहयोग नहीं दिया। चेदि राजा गांगेयदेवने इसे १०२० ईस्वीमें हरा दिया। उधर तंजोरके राजेन्द्र चोलने भी धावा बोल दिया। किसी तरह इसने राजधानी बचायी। ४०० वर्ष इस वंशने शासन किया। ये राजपूत नहीं थे। अतः ये उनकी मन्त्रणासे दूर रहे। १२वीं सदीमें सेन वंशने इस वंशका अन्त कर दिया। १२वीके मध्य तक नया वंश शासनारूढ़ हो चुका था।

दक्षिण भारत

छठी सदीमें वातापिके प्राथमिक चालुक्य कर्नाटकमें प्रबल हो उठे। वे पल्लवोंके कट्टर शत्रु थे। पुलकेशी प्रथमने अश्वमेघ किया था। उसने कोंकणको जीत लिया। और उसकी सत्ता गुजरात तक फैल गयी। चोल और कलिंग उसे अर्पण कर चुके थे। हर्षवर्धनको उसीने दक्षिण प्रवेशसे रोका था। बादमें उसके पुत्र विक्रमादित्य प्रथमने पल्लवोंका राज्य छीन लिया। ६७१ ईस्वीमें यह युद्ध पूरा हुआ। अन्तिम राजा कीर्तिवर्माको ७५७ में हराकर राष्ट्रकूटनरेश दन्तिदुर्गने नये राज्यकी नींव डाली। इस कालमें ब्राह्मण धर्मको प्रोत्साहन मिला। बौद्धधर्मका ह्रास हो रहा था। जैन धर्म तब भी बना रहा। स्थापत्य और चित्रकलाकी खूब उन्नति हुई। ऐलीफंटा और बदामीके लयण मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

राष्ट्रकूट शासनको कर्नाटक महाराष्ट्र राज्य भी कह सकते हैं। राजा ध्रुव इस वंशका पहला समर्थ राजा था। उसने प्रतिहार राजा वत्सराजको

हराया था। गोविन्द तृतीयके समय राज्यकी सीमा और बढ़ी। ८१४ईस्वी-में उसका पुत्र अमोघवर्ष गद्दीपर बैठा। मान्यखेटको बसानेका श्रेय उसीको है जो मलखेड नामसे निज़ाम हैदराबादमें अभीतक है। वह बादमें जैन होगया था। उसके बाद पुत्रोंमें गद्दीके लिए होड़ मच गयी। इससे राज्यकी क्षति हुई। ९११-१४ ईस्वीके बाद इन्द्र तृतीयके हाथ शासनकी बागडोर आयी। उसने फिरसे लुप्त गौरव स्थापित किया। उसने मालवापर चढ़ाई की। उज्जैनको कँपा दिया तथा महोदयश्रीको नष्ट कर दिया। महीपाल वहाँसे पूर्वकी ओर खिसक गया। उसके सेनापति नृसिंहने प्रयाग तक उसका पीछा किया। इससे राजपूतोंकी प्रतिष्ठाको गहरा आघात पहुँचा। उसके बाद (९३३ ई०) यह वंश प्रभावहीन हो चला। ९९२ ईस्वीमें राष्ट्रसत्ताके पतनके बाद यह राज्य कई भागोंमें बँट गया।

राष्ट्रकूटोंका अन्त करनेवाला तैल द्वितीय परवर्त्ती चालुक्य वंश (कल्याणी) का संस्थापक था। ९७३ से १११० ईस्वी तक थोड़े समयको छोड़कर, यह वंश प्रतापी शासक रहा। परन्तु जिस समय तुर्क आक्रमण हो रहे थे उस समय ये परमारों और तंजोरके चोलोंसे उलझ रहे थे। ११९० ईस्वीमें कल्याणी चालुक्यके तीन भाग हुए, यादव (देवगिरि), काकतीय (वारंगल), हौसलेय (द्वारसमुद्र)

गुजरातके चालुक्य

इस वंश (९६१-१२४१ ईस्वी)का संस्थापक मूलराज था। अनहिलवाड़ा (पाटन) इस वंशकी राजधानी थी। उत्तर भारतके कितने ब्राह्मणपरिवार उसने गुजरातमें बसाये। भीमदेवके समयमें (१०२४ ई०) महमूदने भारतपर हमला किया। मुलतान सिंध होकर यह अनहिलवाड़ा पहुँचा। पर भीम भाग गया। महमूदके चले जानेपर भीम राजधानी आ गया। उसने आबूके एक परमार सामन्तपर हमला कर दिया। १०६४ ई० में उसका पुत्र कर्ण गद्दीपर बैठा। इसने अहमदाबादके पास कर्णवती नगरी बसाई। १०९३ ईस्वीमें जयसिंह सिद्धराज गद्दीपर बैठा। उसने मालवाको गुजरातमें मिला लिया। ११४२ से ११७३ ईस्वी तक कुमारपालका राज्य रहा। यह ५५ वर्षकी अवस्थामें गद्दीपर बैठा। ये दोनों जैन धर्मके आश्रयदाता थे। हेमचन्द्र इन्हींके समय हुए। कुमार-पालकी मृत्युके ठीक तीन वर्ष बाद ११७८ ईस्वी में मुहम्मद ग़ोरीने

गुजरातकी राजधानीपर हमला किया। अन्तिम सोलंकी राजा त्रिभुवन-पाल १२४१-४२ ईस्वी तक जीवित था।

चौहान वंश

११वींके प्रारम्भमें अजमेरके चौहानोंने तोमर राज्य जीत लिया था। यवन-आक्रमणके समय दिल्ली और अजमेर एक हो गये थे। पंजाबमें मुसलमानोंका निरन्तर प्रतिरोध करनेके कारण इसकी साख अच्छी थी। विग्रहराज प्रथम प्रसिद्ध चौहान राजा था। ११५३ ईस्वीमें सोमदेवने 'विग्रहराज' नाटक लिखा। पृथ्वीराज प्रथमके बाद सोमेश्वर गद्दीपर बैठा। इसकी दो रानियाँ थी। एक चेदिवंशकी और दूसरी तोमरवंशकी। पहलीसे हरिराज उत्पन्न हुआ और दूसरीसे पृथ्वीराज। पृथ्वीराजने बुन्देलखण्डको भी अपनी सीमामें मिला लिया। पर कन्नौज और कालिंजर-से उसके अच्छे सम्बन्ध नहीं। मुहम्मद गोरीने दो बार उसपर आक्रमण किया पर ११९१ ईस्वीमें पृथ्वीराजने उसे हरा दिया। पर अगले वर्ष दिल्लीराजका पतन हो गया। उसके बाद ही अजमेरकी बारी थी। चौहानवंशके उत्तराधिकारी साँभरके आस-पास छोटे-से प्रदेशके मालिक बने रहे। १३वीं सदीमें अन्तिम चौहान राजा हम्मीरसिंह था। उसने मालवाके अर्जुनवर्माको हराया था।

चेदि

धाहलके हैहय या कलचुरी दक्खिनके थे। धाहल राजधानी थी। आधुनिक जबलपुर ज़िला इसी प्रदेशमें है। इस वंशके युवराज प्रथमने मालवा और गुजरातसे बुलाकर. मत्तमयूर सम्प्रदायके शैवोंको यहाँ बसाया। उन्हें मठ अर्पित किये और मध्यभारतमें नये स्थापत्यका सूत्रपात किया। उसका पुत्र लक्ष्मणराज और भी प्रतापी निकला। उसने भेड़ाघाटके निकट बहुत बड़ा शैव मठ बनवाया। उसने भी एक सम्प्रदाय बुलाया। उसके बाद इस शासनका पतन होने लगा। परन्तु गांगेयने उसे रोका। १०१९ ईस्वी तक इसका राज्य चम्पारन तक था। उसने विक्रमादित्यकी उपाधि भी धारण की। २२ जनवरी १०४१ ईस्वीमें वह मर गया। उसका बेटा कर्ण भी यशस्वी था। कर्णको, कन्नौजके पतनके बाद मध्यदेशका शासक कहते थे। १०४२ ईस्वीमें उसने धूमधामसे पिताका श्राद्ध किया था। बनारस और प्रयाग उसने प्रतिहारोंसे झपट लिये।

हिमालयसे नर्मदा गोदावरी तक उसका विशाल राज्य था। किन्तु बुढ़ापेमें उसे हारपर हार मिली। मालवा और चन्देले स्वाधीन हो गये। आगे चलकर चन्द्रदेवने ११वींके अन्तमें कन्नौजमें नये वंशकी स्थापना की। और चेदिराज्यसे गंगाघाटी छिन गयी।

गहड़वाल

यह वंश भी मिश्रित था। इस वंशका असली शासक गोविन्दचन्द था। ११०४ से १११४ ईस्वी तक वह युवराज रहा। फिर ११५४ ईस्वी तक राज्य किया। इसका प्रतिद्वन्द्वी केवल चौहान विग्रहराज था। नहीं तो अधिकांश हिन्दी प्रदेश इसके अधीन था। ये लोग वैदिक संस्कृतिके उपासक थे। बाहरसे ब्राह्मणोंको बुलाकर यहाँ बसा रहे थे। संस्कृतको खूब प्रोत्साहन दिया। भारतीय तीर्थोंकी रक्षामें ये तत्पर थे। ११५५ ईस्वीमें विजयचन्द गद्दीपर बैठा। इस समयमें पाल वंशका पतन हो चुका था। ११७० ईस्वीमे जयचन्द गद्दी पर बैठा। उसने विदेशी आक्रमणके समय चौहान पृथ्वीराज द्वितीयकी मदद नहीं की। ११९२ ईस्वीमें चौहान-की मृत्युके बाद ११९४ मे गोरीने जयचन्दको हरा दिया। १२०२ ईस्वीमे गहड़वाल हरिश्चन्दके बाद गंगाघाटी मुसलमानोंके हाथ चली गयी।

चन्देले

बुन्देलखण्डका चन्देलराज्य भी कुछ समय तक प्रमुख रहा। ये जेजाकभुक्तिके बुन्देल भी कहलाते है। हर्षने सर्वप्रथम स्वाधीनता प्राप्त की। पहले खजुराहोमें इनकी राजधानी थी उसके बाद महोबा और कालिंजरमें। इस वंशमे भी हूण रक्त था। यशोवर्मा बहुत प्रतापी था। खजुराहोके मन्दिरमें उसने विष्णुकी प्रसिद्ध मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। धंगने १०वींके अन्तमें शाहीराजा जयपालको सहायता की थी। उसका पुत्र चन्द कन्नौजके राजा राज्यपालका समकालीन था। १००९ ईस्वीमें इसने आनन्दपालकी मुसलिम आक्रमणके विरुद्ध सहायता की थी। १०१९ ईस्वीमें महमूदके 'बरी' ले लेनेपर चन्द बुन्देलखण्डकी पहाड़ियोंमें छिप गया। ११वींके मध्योत्तरमें कीर्तिवर्माने ब्राह्मण सेनापति गोपालकी सहायतासे अपने वंशका चेदि राज्यसे उद्धार किया। इस नव विजयके उत्सवपर अभिनीत होनेके लिए कृष्णमिश्रने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखा। कीर्तिवर्माका पोता मदनवर्मा १२वीं सदीमें उत्तरभारतका प्रमुख व्यक्ति गिना जाता था। उसने कालिंजरके क़िलेकी सजावट करायी।

इसीके समय खुजराहोंके मन्दिरमें रिसभ जिनकी प्रतिमा स्थापित हुई। उसके उत्तराधिकारी परमार्दिनके समय पृथ्वीराजका गोरीसे युद्ध हुआ। जयचन्दके पतनके अनन्तर चन्देले अलग रहे।

परमार

१०वींके पहले चरणमें परमार राष्ट्रकूटके अधीन थे। पर ९७४ ईस्वीमें वे वाक्पतिराजके समय स्वाधीन हो गये। ११वींके प्रथम चरणमें भोज प्रथमने राज्यकी बागडोर थामी। यह अपने युगका सबसे विद्वान् राजा था। पर सोलंकी भीम प्रथम, कलचुरी कर्ण और कल्याणीके चालुक्योंने मिलकर उसे हरा दिया। भोजके बाद मालवा कई भागोंमें बँट गया। बादमें जयसिंह सिद्धराजने उसे अपने राज्यमें मिला लिया।

कुल मिलाकर, यही प्रमुख राजशक्तियाँ, इस युगमें प्रबल रहीं। इस कालमें सबसे महत्त्वकी बात यह हुई कि गुप्तों और हर्षके समय अशान्त, बर्बर, हूण जाति विशाल भारतीय समाजमें खप गयीं। उनके मिश्रणसे जो राजपूत जातियाँ उदयमें आयीं, उन्होंने इस युगकी राजनैतिक हलचलमें विशेष भाग लिया। प्रारम्भमें ये समर्थ और शक्तिसम्पन्न थीं। आगे चलकर मिथ्या अभिमान, आपसी कलह और राष्ट्रीय आदर्श न होनेसे वे एकके बाद एक पराजित होते गये। अपनी खीज मिटाने और युद्धका शौक़ पूरा करनेके लिए पड़ोसी राज्यपर भी चढ़ाई कर देती थीं। दूसरी अप्रत्याशित घटना है इस युगका मुसलमानी आक्रमण।

यवन राज्यका विस्तार

यह पाँच सौ वर्षोंमें हुआ। एक साथ मुसलमान समूचे देशको नहीं जीत सके। ७११ में मुट्ठी भर सैनिकोंके साथ मुहम्मद बिन क़ासिमने देवलके क़िलेपर क़ब्ज़ा कर लिया। दाहिर मारा गया। वह ब्राह्मण था। वहाँके मूल निवासी बौद्ध थे। ७१२ ईस्वीमें समूचा सिंध अरबोंके अधीन था। तबसे अँगरेज़ोंके समय तक मुसलमानोंके अधीन रहा। ९७७ ईस्वीमें सुबुक्तगीन ग़ज़नीका राजा बना। उसने अफ़ग़ानिस्तानके शाही राजाओंको उखाड़ना शुरू किया। शाही राजा जयपालने विरोधमें पहले तो ग़ज़नीपर असफल हमला किया, फिर भारतीय राजाओंकी सम्मिलित सहायतासे उसका प्रतिरोध किया। किन्तु कुर्रमकी घाटीमें हार खानी पड़ी। महमूदके ग़ज़नीकी गद्दीपर बैठते ही उसने हमले

शुरू कर दिये। १००१ ईस्वीमें पेशावरमें शाही राजा विजयपालने उसका मुक़ाबिला किया। पर सपरिवार पकड़ा गया। कुछ शर्तोंके साथ उसे महमूदने छोड़ दिया। पर वह आगमें जल मरा। आनन्दपालने काफ़ी समय तक उसे रोका। पर उसे भी हार माननी पड़ी। १००८ ईस्वीमें उसने राजपूतोंकी सम्मिलित वाहिनीको पराजित किया। १०१८ ईस्वीमें प्रतिहार राज्यका अन्त कर दिया। १०२२-२३ ईस्वीमें ग्वालियर और कालिंजर उसके अधिकारमें आ गये। १०२६ ईस्वीमें सोमनाथको लूटा। इस अभियानमें उसे बहुत-सी सम्पत्ति हाथ लगी। उसने पंजाब-से शाही राज्यका नाम मिटा दिया। तबसे अफ़ग़ानिस्तान, सिन्ध और पंजाब उसके उत्तराधिकारियोंके पास रहे। तोमर और चौहान उसके पड़ोसी राज्य थे।

११७३ ईस्वीमें मुहम्मद ग़ोरीने अफ़ग़ानिस्तान ले लिया। ११७५ ईस्वीमें मुलतानपर उसका क़ब्ज़ा हो गया। ११७८ ईस्वीमें उसने गुजरातपर हमला किया। पर मूलराज द्वितीयने उसे हरा दिया। ११८६ ईस्वीमें खुसरो मल्लिकको हरानेके बाद अब भारतमें प्रवेश करने-के लिए पृथ्वीराजसे टक्कर अनिवार्य थी। उसने हमला किया पर हारकर भागना पड़ा। राजपूतोंने पीछा नहीं किया। एक ही वर्ष बाद उसने फिरसे हमला किया और पृथ्वीराजको मिट्टीमें मिला दिया। ११९४ ईस्वीमें जयचन्दके पतनके बाद मध्य देश उसके हाथमें आ गया। बिहार-बंगालकी विजयमें उसे अधिक देर नहीं लगी। क्योंकि गहड़वाल, सेन और पालोंकी आपसी लड़ाइयोंसे यह प्रदेश वीरान हो चुका था। यह एक विस्मयकी बात है कि इतनी बड़ी राजनीतिक घटनाका किंचित् उल्लेख अपभ्रंश साहित्यमें नहीं है। हमारी समझसे इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

१. प्राचीन भारतीय साहित्यकार अपने युगकी राजनैतिक घटनाओंके प्रति विशेष सचेत नहीं रहा। वह आदर्शकी स्थापना करता है, घटनाओंका विवरण देना उसका काम नहीं।

२. सांस्कृतिक दृष्टिसे मुसलमानोंका कोई प्रभाव भारतीय समाज-पर अभीतक नहीं पड़ा था।

३. जिन प्रदेशोंमें (गुजरात, मालवा और दक्षिण बंगाल आदि) यह साहित्य लिखा गया वे अभी स्वतन्त्र थे।

४. कविका लक्ष्य साहित्यिक या धार्मिक हो रहा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण सन्देशरासक है। एक मुलतानी मुसलमान होते हुए भी, अब्दुल रहमान तकने इस सम्बन्धमें ज़रा भी नहीं लिखा।
५. यह होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूपसे इस युगकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ आलोच्य साहित्यमें बराबर मिलती हैं। (देखो—समाज और संस्कृति)

इस युगके राजे प्रायः लड़ाकू होते थे। मल्ल युद्ध और जंगली पशुओं-से युद्ध करना पसन्द करते थे। यह होते हुए भी कला और विद्याके प्रेमी होते थे। जैसे महेन्द्रवर्मन, राजा भोज इत्यादि। शासन संचालनका सूत्र राजाके हाथमें था। क़ानून और सुरक्षाके लिए भी वही उत्तरदायी थे। मन्त्री उनकी सहायताके लिए अवश्य थे। 'सन्धिविग्रहिक' का पद बहुत ऊँचा था। दूर-पास दौत्य सम्बन्ध स्थापित करनेकी बहुत प्रथा थी। शासनकी सुविधाके लिए राज्य कई इकाइयोंमें विभक्त था। वंशगत भावना उग्र थी। वैवाहिक सम्बन्ध भी राजशक्ति बढ़ानेका एक स्रोत था। राजाओं, उनके कृपापात्रों तथा सामन्तोंका विलासी जीवन था। देश अनेक स्थानीय क्षेत्रोंमें विभक्त था। अतः स्थानीय संस्कृतिका विकास हो रहा था।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक स्थितिमें परिवर्तन तेज़ीसे हो रहा था। जातीय धर्म बढ़ चला था। ब्राह्मण और किसान भी सेनामें भरती होते थे। विवाह-बन्धन ढीला था। विदेशी आक्रान्ताओंको समाजमे खपानेकी चेष्टा की जा रही थी। फ़ाह्यान कहता है कि इस युगमें मध्य देशके ऊँची जातिके लोगोंका सदाचार ऊँचा था। उच्च कुलकी स्त्रियाँ शासनमे भाग लेती थीं। दक्षिणके राजघरानोंकी स्त्रियाँ संगीत और नृत्यमें अधिक कुशल थीं। वे सार्वजनिक प्रदर्शनमें भी भाग लेती थीं। राजकुमारियोंकी शिक्षा उदार थी। उन्हें साहित्य और ललितकलाओंकी शिक्षा दी जाती थी। कईने युद्ध और शासनमें भाग लिया। चालुक्य जयसिंह द्वितीयकी बहन अक्कादेवीने प्रान्तपर शासन किया, युद्धमें लड़ी और क़िलेको जीता। (शास्त्री २६२) होसलेय बल्लालकी पत्नी नृत्य और संगीतमें बहुत दक्ष थी। फिर भी राजन्यवर्ग और साधारण जनताके जीवनमें काफ़ी अन्तर था। स्त्रियोंको स्वतन्त्रता थी। पर जनपद कल्याणी दरबारमें

विवाहित पत्नियोंकी भयंकर प्रतिद्वंदी बन जाती थी। ग़रीब होकर भी ब्राह्मण अपने चरित्रके कारण आदरके पात्र थे। राज्य-सेवाकी अपेक्षा, इस युगमें व्यापारी या किसान होना अधिक सम्मानित समझा जाता था।

शिक्षा

अपभ्रंश साहित्यमें उच्च शिक्षाका वर्णन विस्तारसे है, किन्तु प्राथमिक शिक्षाका विवरण नहीं मिलता। ग्रामशिक्षकका उल्लेख है। धरतीके अतिरिक्त, उसे दूसरे उपहार भी मिलते थे। दस्तकारी पिता ही पुत्रको सिखाता था। कलात्मक सौन्दर्यके सम्बन्धमें कलाकारोंकी मिली-जुली धारणा थी, जो उस युगके स्मारकोंसे स्पष्ट है। काव्य-पुराणोंका मन्दिरों या सार्वजनिक स्थानोंपर जो पाठ होता था, वयस्कोंकी शिक्षाका वही एक साधन था। गायकोंके दल घर-घर भक्तिपरक गीत गाते थे, इससे संगीतका काफ़ी प्रचार हुआ, साथ ही धर्म और साहित्यका भी। मठ और विहारोंने भी शिक्षामें काफ़ी योग दिया। संस्कृतके प्रारम्भिक अध्ययनका महत्त्व सभी समझते थे। उसके शिक्षणको विशेष संरक्षण भी प्राप्त था। (शास्त्री २६३) शिक्षाके विषयमें, इस युगके राजन्यवर्गमें विशेष बात यह लक्षित होती है कि वे अपनेको सभी विद्याओंमें पारंगत बनाना चाहते थे।

धार्मिक अवस्था

५वीं या ६ठीं सदी तक भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहते रहे। वैदिक यज्ञ, पुराने देवी-देवताओंकी उपासना (जिसमें पशु-बध भी था), गृहकर्म और मूर्तिपूजा बराबर चली जा रही थी। बौद्ध और जैनधर्म फल-फूल रहे थे। परन्तु सातवीं-आठवीं सदीमें परिस्थिति एकदम बदलने लगी। तामिल देशमें तेज़ीसे एक आस्तिक आन्दोलन उठा और समूचे देशमें उसकी लहर फैल गयी। उनका उद्देश्य जैन और बौद्धधर्मको दबाना तथा शिव या विष्णुकी भक्तिका प्रचार करना था। ये सन्त एक मूर्तिसे दूसरी मूर्ति तक नाचते-गाते जाते थे। गीत रचकर, गाकर, नाचकर, वाद-विवाद कर, इन्होंने अपना प्रचार किया। आलम्बार और नायम्बार इनके नाम थे। १०वीं सदी के अन्तमें अन्दारने तैवारम्के नामसे इनके गीतोंका संकलन किया। तामिल शैव धर्मकी यह महत्त्वपूर्ण

पुस्तक मानी जाती है[1]। (शास्त्री १२ और २६५) ६४२ ईस्वीमें ह्वेन्सांगने अपनी दक्षिण भारत-यात्रामें बौद्धधर्मकी अवनति देखकर दुःख प्रकट किया था। भक्ति धर्म उस समय प्रारम्भिक रूपमें था। नयी भक्ति फैलनेके कारण ये थे —

१. राज्याश्रयसे जनतामें शीघ्र ही यह फैला।

२. जनताकी भाषामें गीतोंकी रचना होती थी।

३. शिव और विष्णुके लोकोत्तर व्यक्तित्व-द्वारा जनतामें विश्वास पैदा करना।

४. सुन्दर रागोंमें गीतोंका गाया जाना।

आ० शंकर और कुमारिल भट्टने विरोधी धर्मोंका विरोध किया। ये खास सम्प्रदायके न होकर सनातन ब्राह्मण धर्मके प्रचारक थे। आ० शंकरने विचारोंकी दार्शनिक शैली और धार्मिक संगठनमें बौद्धोंसे बहुत कुछ लिया। ये लोग बुद्ध धर्मको हिन्दू धर्मका कट्टर शत्रु समझते थे। नाथमुनि (९८५-१०३०) ने भक्तिका दार्शनिक समर्थन किया, उन्होंने सारे भारतका दौरा भी किया। यामुनाचार्य उनका पोता था। उसके बाद रामानुज हुए। पहले यह श्रीरंगम् मठके उत्तराधिकारी थे। उन्होंने आडम्बरपूर्ण पूजाविधिमें सुधार करना चाहा। बादमें उन्हें मैसूरमें शरण लेनी पड़ी।

वैष्णव—आलोच्यकालमें यह मत शैवमतकी तरह संघटित नहीं था। प्राथमिक चालुक्य और वातापीके शासक वैष्णव थे। रामानुजके प्रयत्नसे होसलवंशका मैसूर-नरेश बिट्टि (विष्णुवर्धन) वैष्णवधर्ममें दीक्षित हुआ। ७वीं और ८वीं सदीमें कई वैष्णव आचार्य हुए। बिट्टिकी पत्नी शीतला जैन ही रही। वस्तुतः इस कालमें वैष्णवधर्मकी अपेक्षा शैवधर्म ही अधिक प्रतिष्ठित था।

शैवधर्म—गुप्त नरेश चाहे वैष्णव रहे हों पर इस समय अधिकांश राजा शैव थे। छठी और ७वीं सदीमें इसने वैष्णवधर्मका स्थान ले लिया था। मिहिरकुल, यशोवर्मन, शशांक, हर्ष, सभी शासक शैव थे। ८वीं में शंकराचार्यने शिवभक्तिका प्रचार किया यद्यपि ये किसी खास सम्प्रदायके नहीं थे। उसके बाद भी कई प्रसिद्ध शैवाचार्य हुए। ९वीं और

---

१. आल वेयर कीन कन्ट्रोवर्सेलिस्टिस ऐण्ड हेड नो साफ्ट वर्ड फार दी बुद्धिस्ट ऐण्ड जैनस् (शास्त्री २६७)

१०वीं में इसके कई सम्प्रदाय दक्षिण भारतमें थे, जैसे पाशुपत कालमुख, कापालिकका कांची, त्रिरूवेरपुर, मेलपट्टा, कौदम्बालूरमें अधिक प्रचार था। ये देवी-उपासनामें विश्वास करते थे और उसके लिए अपना सिर भी दे सकते थे। सातवीं सदीके साहित्यमें इनका उल्लेख मिलता है। लेकिन सबसे संघटित धर्म उठा वीरशैवमत। यह कर्णाटकमें बहुत तेजीसे फैला। वैसे इसका संस्थापक विज्जलनरेश (कल्याणी) का मन्त्री विज्जल माना जाता है। परन्तु शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि असली नेता एकान्तदा रामैया था। वासव उसका राजनैतिक सहायक था। इनके मतमें मुख्य बातें थीं—१. मठोंकी प्रमुखता, २. सामाजिक व्यवहारमें समानता, ३. शिवलिंग गलेमें लटकाये रखना, ४. शैव सन्तोंका आदर, ५. स्त्रियोंके प्रति उदारताकी भावना। इसके अतिरिक्त गुजरात और चेदि-नरेश प्रायः शैव थे। यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि मध्य देशपर पुष्यमित्र शुंगके समयसे ही ब्राह्मण धर्मका प्रभाव रहा। यहाँके राजा हमेशा ब्राह्मण धर्मके अनुयायी रहे।

बौद्ध धर्म—यह निरन्तर अवनतिपर था। बंगालके पाल शासक अवश्य इसके आश्रयदाता थे। इसके दो कारण थे—एक तो बौद्धधर्ममें नाना साधनाएँ आ मिली थीं। नारायण विष्णुकी कल्पनासे, बुद्ध और विष्णुकी पहचान कठिन हो गयी। बहुत-सी बौद्ध प्रतिमाएँ हिन्दू मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित कर दी गयीं। अमरावती इसका उदाहरण है। दूसरे, तन्त्रवादके प्रभावसे शैव और बौद्धोंकी पहचान कठिन थी। यह होते हुए भी कई भागोंमें उसका अस्तित्व था। प्रथम अरब आक्रमणके समय ये सिन्धमें थे।

जैनधर्म—कर्णाटक और तामिल प्रदेशमें जैनधर्म अधिक लोकप्रिय था। सातवीं सदीमें ह्वेन्सांगने देखा था कि वह बौद्धधर्मका स्थान ग्रहण करता जा रहा है। उसने बंगालमें भी इस धर्मको देखा था। पर पश्चिमी भारतमें इसका विशेष प्रभाव था। वातापीके चालुक्यों और मान्यखेटके राष्ट्रकूटोंके समय दिगम्बर मत ख़ूब समृद्ध था। विज्जल कलचुरी (कल्याणी) और कुमारपाल चालुक्य इसके बहुत बड़े संरक्षक थे। इसी कालमें वह शैवमतके संघर्षमें आया। १२वीं सदीके नये शैव और वैष्णव आन्दोलनसे इसको काफ़ी क्षति हुई।

इस्लाम धर्म—६३६ ईस्वीमें मुस्लिम जहाज़ भारतीय समुद्रमें आये। उसके बादसे ही, अरबके व्यापारियोंका इस देशसे सम्बन्ध रहा।

ये यहाँके कई बन्दरगाहोंमें बस गये। यहाँकी स्त्रियोंसे विवाह किया। घोड़ोंके आयातके लिए हिन्दू राजा इन्हें प्रोत्साहन देते थे। एक सन्दिग्ध धारणा यह भी है कि ईसाई भी इस समय दक्षिण भारतमें बसने लगे थे। इस कालमें अद्वैत भावात्मक भक्ति, आत्मसमर्पण, सामाजिक समानता और गुरुकी आवश्यकतापर जो ज़ोर दिया गया उसे बहुत-से विद्वान् इस्लामका प्रभाव मानते हैं। पर इस नवीनवादकी व्याख्या, इस्लामका प्रभाव न मानकर भी, दूसरे ढंगसे कर सकते हैं। (शास्त्री २७३) उसे इस्लामका प्रभाव मानना, ऐतिहासिक दृष्टिसे संगत नहीं कहा जा सकता, सांस्कृतिक दृष्टिसे यह बात और भी गले नहीं उतरती।

धार्मिक सहिष्णुता

साम्प्रदायिक प्रतियोगिताके होते हुए भी इस कालमें धार्मिक सहिष्णुता बनी थी। सम्प्रदाय थे, पर आजकी तरह एक दूसरेसे दूर नहीं थे। धार्मिक विश्वास बदलते रहते थे। किसी वंशकी एक पीढ़ी जैन थी तो दूसरी शैव। यदि पिता शैव होता यो पुत्र जैन। कुमारपालके समय गुजरातके प्रतिष्ठित घरानोंमें शैव और जैनधर्मका साथ-साथ पालन होता था। धर्मकी शक्तिका बढ़ना न बढ़ना, राजाश्रयपर निर्भर था। इसलिए धार्मिक गुरु और आचार्य राजाको प्रभावित करनेकी चिन्तामें रहते थे। राज्य विस्तार, मन्दिर, मठ बनवाना और बहुविवाह इस युगके राज-आदर्श थे। मन्दिरोंका इस युगमें अधिक महत्त्व था। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे ही नहीं, अपितु अर्थकी दृष्टिसे भी। कितने ही लोगोंको वहाँ आजीविका मिलती थी। पुजारी, संगीतज्ञ, नर्तकी और रसोइया की इन्हींसे आजीविका चल रही थी। मन्दिर इस युगमें बैंक, स्कूल, अस्पताल और जमींदारका काम करता था। राजा, सामन्त और व्यापारी सदैव इन्हें धन देते रहते थे। जैन मन्दिर भी इस प्रभावसे अछूते नहीं थे। कुमारपाल चालुक्य जब अपने राजप्रासादके मन्दिरमें जिनका पूजन-अर्चन कर चुकता तो नर्तकियाँ दीप लेकर देवताओंके सम्मुख नाचती थीं। यह प्रथा दक्षिण भारतके जिन-मन्दिरोंमें भी थी। इस युगके उत्तरार्धमें उन सभी धार्मिक विचारों (उग्र अध्यात्म, भक्ति, हठयोग आदि) की जड़ जम चुकी थी जिनका हिन्दी युगपर प्रभाव पड़ा।

दर्शन—दार्शनिक चिन्तन भी इस युगका समृद्ध था। भक्तिके दार्शनिक आचार्य इसी युगकी उपज हैं। यह भक्ति उत्तर भारतके

भागवत-धर्मसे भिन्न थी। आचार्य शंकर, कुमारिलभट्ट और माधव इसी युगकी देन हैं। प्रभाकर, मण्डनमिश्र, उद्योतकर, उदयन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, पाल्यकीर्ति, अकलंक, वीरसेन, प्रभाचन्द, आदि मेधावी दार्शनिक इसी कालमें हुए।

साहित्य साधना—इस कालकी साहित्य-साधना कई क्षेत्रों और कई भाषाओंमें विभक्त थी। ९, १० और ११वीं सदीमें कन्नौज और कश्मीर संस्कृत साहित्य साधनाके दो प्रमुख केन्द्र थे। एकमें आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट प्रभृति साहित्य समालोचक हुए तो दूसरेमें वाक्पतिराज, भवभूति, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि हुए। इस कालमें गद्य कथा-लेखकोंकी परम्परा चली। दण्डी, बाणभट्ट, सोमदेव, सोड्ढल, धनपाल, शान्तिदेव और वादीभसिंह प्रमुख संस्कृत कथालेखक थे। चरितकाव्यकी परम्परा अश्वघोषके बुद्धचरितसे पूर्व गुप्तयुगमें चली थी। रघुवंश भी चरितकाव्य ही है। परन्तु ऐतिहासिक व्यक्तिको लेकर चरितकाव्यकी पद्धति बाणभट्टके हर्षचरितसे चली। नाटककारोंमें भवभूतिके अतिरिक्त भट्ट नारायण, मुरारी, राजशेखर, जयदेव, मधुसूदन, रामचन्द्र, जयसिंह सूरि, यशपाल, श्रीकृष्ण, शक्तिभद्र, कुमारदास, राजा कुलशेखर आदि प्रमुख हुए। चम्पूलेखकोंमें त्रिविक्रम भट्ट और सोमदेव मुख्य हैं। दार्शनिक साहित्यके अतिरिक्त पुराणोंमें भागवतपुराण इसी कालमे लिखा गया। नीलकण्ठ शास्त्री इसे १०वींके आस-पासका मानते हैं। जैन पुराणों और सिद्धान्तसाहित्यके लिए इस कालका वही महत्त्व है जो हिन्दू पुराणोंके लिए गुप्त कालका। अमोघवर्ष प्रथमके समय राष्ट्रकूटोंकी राजधानीमें हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण, अकलंकचरित आदि लिखे गये। स्वयं अमोघवर्षने नीतिशास्त्रपर प्रश्नोत्तरमालिका लिखी थी। जयधवलाकी टीका भी इसी समय लिखी गयी। प्राकृत साहित्य भी इस युगमे यथेष्ट रचा गया। नाटिकाको प्राकृतमें 'सट्टक' कहते थे। परमार-नरेश अर्जुनवर्माके जीवनपर मदनलालने कौमुदी मित्रानन्दकी रचना की। श्रीकृष्णका प्रबोधचन्द्रोदय भी प्रतीक शैलीमे है। इसमें अद्वैत वेदान्त और विष्णु भक्तिका समन्वय है। १०४२ में जैन लेखक यशपालने इसका अनुकरण किया। संस्कृतके गीत कवियोंके रूपमें भर्तृहरि, अमरुक, जयदेव विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। आर्यासप्तशतीका लेखक गोवर्धन राजा लक्ष्मणसेन (१११६) का सभा कवि था, और जयदेव भी।

द्रविड़ भाषाओंका साहित्य—६ से ८ तक काफ़ी तमिल

साहित्य रचा गया। इसमें कई कवि जैन थे। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्रीका कहना है कि तामिल साहित्यका स्वरूप, प्रेरणा और स्रोत प्रायः एक-सा है। (२७९ पृ०) समकालीन राजाओंपर इसमें भी ऐतिहासिक काव्य लिखे गये। चोल शासनकाल (८५०-१२००) तामिल साहित्यका स्वर्णकाल था। प्रबन्ध-काव्यकी प्रमुखता थी। दार्शनिक और भक्ति-साहित्य भी लिखा गया।

कन्नड़का साहित्य तामिलके बाद रचा गया। इसकी भी प्रारम्भिक रचनाएँ जैनोंकी मिलती हैं। पम्प, कृष्ण तृतीयका समकालीन प्रसिद्ध कवि है। पम्पने आदिपुराण ९४१ में लिखा। उसके बाद पोन्न हुआ। इसने शान्तिपुराण लिखा। इसमें ऐतिहासिक तथ्योंका भी निर्देश है। यह चामुण्डरायके आश्रयमें रहा।

तेलुगु साहित्यका क्रम कन्नड़के बाद है। १२वीं सदीसे उसमें वीरशैव साहित्यकी प्रचुरता रही। साहित्यकी दृष्टिसे मलयालमका इस युगमें कोई अस्तित्व नहीं था।

इस समूचे साहित्यके विश्लेषणसे यह स्पष्ट है कि गीत और प्रबन्ध काव्यकी इस युगमें प्रमुखता थी। संस्कृतमें जो कथा या चरित-काव्य लिखे गये, वे या तो काल्पनिक हैं या ऐतिहासिक व्यक्तियोंपर आधारित हैं। नाटककी कथावस्तु पौराणिक भी है और ऐतिहासिक भी। पौराणिक चरित-काव्यकी परम्परामें एक भी कृति देखनेमें नहीं आयी। चन्दबरदाईने रासोमें संस्कृत ऐतिहासिक चरित-काव्यका अनुकरण किया। हेमचन्द्रने कुमारपालप्रतिबोध आदि लिखे।

जहाँतक आलोच्य साहित्यके स्रोतका प्रश्न है। ये कवि पुराणसे विषय वस्तु ग्रहण करते हैं। जैनेतर पुराणोंकी कल्पनाओंका भी इन्होंने अपने काव्यमें उपयोग किया है। काव्य-सिद्धान्तोंके लिए दण्डी और भामह-के ग्रन्थ इनके उपजीव्य हैं। काव्य-रूपोंके लिए कुछ तो पूर्ववर्ती प्राकृत और संस्कृत साहित्यसे ग्रहण करते हैं और कुछ साहित्यके लौकिक रूपोंसे। मुक्तक काव्योंपर तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराकी पूरी छाप है। राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामें काव्यकी १२ योनियाँ (स्रोत) गिनायी हैं। वेदस्मृति (धर्मशास्त्र), इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शन), राजसिद्धान्तत्रयी (पू० शा०, ना० शा०, और का० शा०) इत्यादि। अपभ्रंश प्रबन्ध कवियोंके भी प्रायः यही स्रोत हैं। भेद केवल इतना है कि वेदस्मृतिकी जगह ये जैन पुराण और धर्मशास्त्रसे वस्तु और

विचार ग्रहण करते हैं। फिर भी वेद-पुराणसे ये अपरिचित नहीं थे। वस्तु विवरणके लिए राजसिद्धान्तत्रयी ही इनका मुख्य स्रोत है। सोमदेवका नीतिवाक्यामृत भी एक स्रोत है। व्यक्तिगत स्रोतोंका उल्लेख हम कवियोंके परिचयके प्रसंगमें करेंगे। परन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत थे अपनी कल्पना, अनुभूति और प्रतिभा। काव्यकी सच्ची आत्माका निर्माण इन्हींसे होता है। शेष तो स्थूल उपादान हैं।

युग-प्रभाव

धार्मिक और पौराणिक होते भी अपभ्रंश साहित्य अपनी युग-चेतनासे एकदम अछूता नहीं। इनके कथानायकोंमें अपने युगके शासकोंके स्वभाव, रुचि, रीति-नीति, विद्यानुराग और धार्मिक मनोवृत्ति लक्षित की जा सकती हैं। इतिहास और यह साहित्य इस बातसे सहमत हैं कि इस युगमें धर्म आडम्बरपूर्ण था। उसमें-से नये आध्यात्मिक आन्दोलन चले। दोनों इस बातकी भी पुष्टि करते हैं कि इस युगमें राजाका धार्मिक होना आवश्यक था। धर्म राज्यसे विस्तार चाहता था और राज्य धर्मसे प्रेरणा। फिर भी यह चेतना गतिशील थी। पर वह उत्तरोत्तर कट्टर और रूढ़ होती चली जा रही थी। संस्कृत प्राकृतके साथ अपभ्रंश साहित्यका लिखा जाना इस बातका द्योतक है कि यह भाषा उस समय लोक-जीवनके निकट थी। तामिल और कन्नड़की तरह जैन लेखकोंने लोक-प्रचलित होनेसे ही अपभ्रंशको धर्म-प्रचारका साधन बनाया होगा। फिर भी दो कारणोंसे लोक-जीवनकी स्पष्ट व्याख्या इस साहित्यमें नहीं है। एक तो उस युगका कवि लोक-चेतनासे विमुख था, दूसरे उसकी दृष्टि धार्मिक और पौराणिक थी, तीसरे ये कवि संस्कृत और प्राकृत कवियोंकी पाँतमें बैठना चाह रहे थे। फिर भी कई बातोंमें यह साहित्य लोक-चेतनासे प्रभावित है आगे यह जाननेका अवसर आयेगा। युगके अन्य साहित्यके अनुरूप यह साहित्य राज्याश्रयमें नहीं लिखा गया। बहुत कम कवियोंको यह आश्रय मिला। जिन्हें मिला भी, उन्हें राज्यका नहीं, राजपुरुषोंका आश्रय मिला। उत्तरकालमें अपभ्रंश कवि भी दरबारी आसन सुशोभित करने लगे थे। पर वहाँ किस श्रेणीकी रचनाओंका रसास्वादन कराया जाता था इसका कोई नमूना हमारे पास नहीं। लेकिन हम समझते हैं कि यह दरबारी अपभ्रंश साहित्य, अन्य दरबारी साहित्यके ही समान था। काव्य रूपमें चाहे थोड़ा-बहुत अन्तर रहा हो।

अपभ्रंश कवि

१. कवि स्वयंभू (७८३ ईस्वी अनुमानित)

कवि स्वयंभू जिस घरानेमें उत्पन्न हुए उसमें तीन पीढ़ियोंसे साहित्य-साधना हो रही थी। इनके पिताका नाम मारुतदेव और मांका पद्मिनी था[१]। इनके पिता कवि थे और पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू भी। स्वयंभू छन्दमें एक उदाहरण उन्होंने 'तहा मारुयएवस्स' लिखकर दिया है। वह गृहस्थ थे। कविकी दो पत्नियाँ थीं—आइच्चाम्बा (आदित्याम्बा) और सामिअब्बा। कविने अयोध्या काण्ड और विद्याधर काण्डके अन्तमें उनके नामोंका उल्लेख किया है। ये पढ़ी-लिखी नहीं थीं, प्रत्युत अपने पतिके साहित्यिक कार्योंमें सहयोग भी देती थीं। एक और श्लिष्ट पदसे उनकी तीसरी पत्नीका अनुमान किया जाता है। और उनका सबसे छोड़ा बेटा त्रिभुवन इसीसे उत्पन्न हुआ था। वह पद यह है,

सव्वे वि सुआ पंजर-सुअव्व पढिय क्खराइं सिक्खंति।
कइ राअस्स सुओ सुअव्व सुइ-गब्भ संभूओ॥

यहाँ सुआके दो अर्थ हैं – सुत और तोता। इसका अर्थ होता है कि सारे सुत पींजरेके सुएकी तरह, पढ़े हुए अक्षरोंको ही सीखते हैं। परन्तु कविराज स्वयंभूका पुत्र त्रिभुवन श्रुतके समान श्रुति गर्भसे उत्पन्न है। अर्थात् जैसे शास्त्र श्रुत (वेद) से निकले वैसे ही त्रिभुवन सुअव्वाके उदर-से उत्पन्न हुआ। इसके आधारपर प्रेमीजी कविकी तीसरी पत्नी होनेका अनुमान करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। हमें उपमानके रूपमें ही उक्त पदको लेना चाहिए। क्योंकि कविकी तीसरी पत्नी होती तो वे अवश्य उसका दो की तरह उल्लेख करते। यदि यह त्रिभुवनकी माँ थी, तब तो बेटेको भी अपनी मांके लिए श्रद्धाके शब्द-पुष्प चढ़ाने थे। मैं समझता हूँ कविकी पत्नियोंने प्रतिलिपि आदि करनेमें ही उन्हें थोड़ी-बहुत सहायता दी होगी इसलिए आधुनिक कतिपय लेखकोंकी तरह, उसने भी अपनी पत्नियोंका नाम उनकी प्रसिद्धिके लिए टाँक दिया।

---

१. पउमिणि गब्भ संभूए. मारुयदेव रूप अणुराये। —प० च० १, पृ० २।

पुत्र त्रिभुवनने अनेक जगह अपने पिताके विषयमें जो बहुत-सी बातें कही हैं, उनसे जान पड़ता है कि इनके कई पुत्र और शिष्य थे। और तो धनके पीछे दौड़े पर त्रिभुवनको पिताकी साहित्यिक विरासत मिली,

(सव्वो वि जणो मोहइ, णियत्ताय विढत्त दव्व संताणं।
त्रिभुवण संभूणा पुणु गहियं सुकइत्त-संताणं ॥)[1]

उसने पिताका काव्य-भार उठाया। उनके कुलका उद्धार किया इत्यादि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविका पारिवारिक जीवन सुखी और सम्पन्न था। घरेलू वातावरण साहित्य-साधनाके लिए उपयुक्त था, अपने आश्रय-दाता और समाजके प्रमुख सदस्योंमें उनका अच्छा सम्मान था। कवि पुष्पदन्तकी तरह उग्र और एकान्तप्रेमी नहीं थे। उनकी उक्तियोंमें निराशा और कटु अनुभवकी झलक कम ही है।

व्यक्तित्व—कवि अपने बारेमें कहता है कि मेरा शरीर दुबला-पतला और लम्बा है। नाक चिपटी और दाँत विरल हैं।[2] इससे यह स्पष्ट है कि वह विनीत पर यथार्थवादी थे। शारीरिक सौन्दर्यकी जगह आत्मसौन्दर्यके प्रशंसक थे। कविकी नीति और व्यवहार-सम्बन्धी उक्तियोंके आधारपर यह भली भाँति प्रमाणित है कि वह भावुक होते हुए भी विचारशील और उदार भी थे। उनकी जैसी असाधारण प्रतिभा थी वैसा ही गम्भीर अध्ययन भी था।

अपने समय, जन्म और स्थानके सम्बन्धमें कवि स्वयंभू चुप हैं। केवल इतना उल्लेख मिलता है कि धनंजयकी प्रार्थनासे इन्होंने काव्यकी रचना की।[3] परन्तु रिट्ठणेमि चरिउकी रचना करते समय वह धवलियाके आश्रयमें थे। (१०० और १०२ सन्धियोंका अन्त) उनके पुत्र त्रिभुवन विदइयाके निकट रहते थे। इन आश्रयदाताओंके विषयमें विशेष सन्दर्भ नहीं मिलता। हो सकता है, ये एक ही धनी कुलकी तीन पीढ़ियाँ हों। त्रिभुवनने विंदइयाके पुत्र गोविन्दका उल्लेख किया है (प० च० का अन्तिम १५, १६ पद) विंदइयाके साथ नाग श्रीपाल आदि भव्यजन भी रहते थे। यह कहना कठिन है कि यह कहाँके निवासी थे। पर ऊपरके नामोंसे इन्हें कर्णाटक प्रदेशका निवासी होना चाहिए। पुष्पदन्तने मान्यखेट

१. प० च० के अन्तिम अंशमें ३, ७, ६, और १०।
२. अइ तणु एण पईहर नन्तें छिव्वर नासें पविरल दंतें। —प० च० १, पृ० २४।
३. प० च० २, ७, १३, १७, १८, सन्धियोंका अन्तिम भाग।

(मलखेट, हैदराबाद) में महापुराणकी रचना की थी। इनकी साहित्य-साधनाका केन्द्र भी यों कर्णाटकमें होना चाहिए। निम्न तथ्योंसे इसका समर्थन होता है।

१. कविने रिट्ठणेमि चरिउ २१।१८।५ में पाँच पाण्डवों, द्रौपदी और कुन्तीकी तुलना गोदावरीके सात मुखोंसे की है। यह कल्पना दक्षिणवासी ही कर सकता है।
२. पउम चरिउमें माहका क्रम चैतसे शुरू होकर फागुन तक चलता है यह दक्षिणमें ही प्रचलित है।
३. गोदावरीका बर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी ही ऐसा कर सकता है।

यह मानते हुए भी डॉ० भायाणी प्रभृति विद्वान् उन्हें उत्तरभारतका प्रवासी मानते हैं। क्योंकि ७वीं सदीसे राष्ट्रकूटकालमें, बरार और कर्णाटकमे राजनैतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़ता गया।[1] अतः उनके विदर्भसे प्रवासित होनेकी सम्भावना अधिक है। क्योंकि एक दक्षिणवासीके लिए उत्तरकी भाषामें साहित्य-रचना करना कठिन था।[2] परन्तु मेरा मत है कि स्पष्ट प्रमाणके बिना कविको उत्तरभारतीय मानना ठीक नहीं। यदि वह उत्तरके हों भी, तो कई पीढ़ियों पहले उनका परिवार दक्षिणमें बस चुका होगा। राहुलजी इन्हे राष्ट्रकूट राजा ध्रुवके अमात्य रयडा धनंजय सामन्तके साथ कन्नौज आया हुआ बताते हैं। पर यह मात्र अनुमान है। दक्षिणमें बहुत पहलेसे उत्तरकी भाषाओं (संस्कृत-प्राकृत) में जैन साहित्य लिखा जाता रहा है। इसमें अधिकांश दक्षिणी लेखकों-द्वारा रचा गया है। अतः वहाँका लेखक उत्तरकी भाषामें आसानीसे लिख सकता था। जन्मभूमि चाहे जो हो, पर काव्य-साधना उन्होंने कर्णाटकमें की यह निर्विवाद है।

क्या वह यापनीय थे – कविने अपने गुरु और सम्प्रदायके बारेमें कुछ भी नहीं लिखा। इसका कारण उनका गृहस्थ होना है। परन्तु पुष्पदन्तके महापुराण (पृ०९) में उन्हें "सयंभू पद्धड़ी बद्धकर्ता आपलीसंघीयः" कहा गया है। प्रेमीजी और डॉ० भायाणी उन्हें यापनीय संघका मानते हैं।[3] इस संघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मतोंकी

---

१. डॉ० आल्टेकर—राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देअर टाइम्स, पृ० ११।
२. प० च० भूमिका पृ० १२।
३. जै० सा० इ० २८५।

कुछ बातें मिलती हैं। विमलसूरिके पउमचरियपर भी उक्त संघका प्रभाव है। कवि स्वयंभूने उन्हींकी रामकथा-धाराको अपनाया है। इससे वह यापनीय संघके जान पड़ते हैं। (प्रेमी २८३)। परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वयंभूने विमलसूरिकी रामकथाके कई स्थूल अंश छोड़ दिये हैं। हाँ, डॉ० भायाणीके ये तर्क अवश्य विचारणीय हैं।

१. कविका दृष्टिकोण यापनीय संघकी तरह उदार था। वह जिनके साथ शिवकी भी तुलना करते हैं।

२. रविषेणके पद्मचरितका अनुकरण करते हुए भी उसके कई ब्राह्मण-विरोधी अंशोंका संक्षेपमें उल्लेख किया है।

३. उपाख्यान भी कम कर दिये हैं।

४. रविषेणसे स्वयंभूकी दृष्टि भिन्न प्रतीत होती है।

मेरे विचारसे ये तर्क अधिक वजनदार नहीं हैं। क्योंकि तर्कसंख्या १ का यापनीय संघसे कोई सम्बन्ध नहीं। शिव और जिनकी तुलनाका कारण दूसरा है। (देखिए, शिव बनाम जिन) तर्कसंख्या २ और ३ भी व्यर्थ है। वर्णन और उपाख्यानोंका परिवर्तन काव्यके कारण है। साम्प्रदायिकतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। तर्कसंख्या ४में दृष्टिभेदका दूसरा कारण भी हो सकता है। जैसा कि हम आगे विचार करेंगे कि कविने पुराणको काव्यमें रखना चाहा है न कि काव्यको पुराणमें। यापनीय संघका महत्त्व दिगम्बर और श्वेताम्बरोंकी कट्टरताका बीच-बचाव करनेमें था। जो भी हो, उन्हें यापनीय सिद्ध करनेवाला एक भी प्रमाण हमारे पास नहीं है। कविने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रविषेणका (ई० ६७७) उल्लेख किया है, तथा बादके कवियोंने उनका उल्लेख किया है; जैसे पुष्पदन्त। ये ९५९ ईस्वीके लगभग हुए। अतः इन दोनोंके बीच किसी समय स्वयंभूका जन्म समझना चाहिए। रिट्ठणेमि चरिउमें कविने जिनसेनका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इनसे कुछ ही पहले हुए होंगे। जिनसेनके हरिवंश पुराणका समय ७८३ ईस्वी है। इस प्रकार इनका समय ७८३ के बाद और ९वीं सदीके आरम्भमें कहीं पड़ता है।

साहित्य – इनकी अभीतक प्राप्त रचनाएँ कुल तीन हैं – १. पउम चरिउ २. रिट्ठणेमि चरिउ और ३. स्वयंभू छन्द। अनुमानसे उनके तीन ग्रन्थ और माने जाते हैं—सुद्धय चरिउ, पंचमी चरिउ और स्वयंभू व्याकरण। ये अभी उपलब्ध नहीं हैं। पउम चरिउका हमने अन्यत्र विचार किया है।

रिट्ठणेमि चरिउमें ११२ सन्धियाँ हैं। शैली पउम चरिउसे मिलती है, पर कई सन्धियोंकी पुष्पिकाओंमें त्रिभुवन स्वयंभूका भी नाम है और अन्तकी सन्धियोंमें जसकीर्तिका नाम भी आता है। इससे असली लेखकका निर्णय करनेमें बड़ी उलझन होती है। १००वीं सन्धिके प्रारम्भका विवादग्रस्त छन्द यह है,

काऊण पोम चरियं सुद्धय चरियं च गुणगणवियं।
हरिवंस-मोह-हरणे सरस्सई सुविय-देह-व्व॥

अर्थात् – पउम चरिउ और सुद्धय चरिउ बनाकर, अब मैं हरिवंश-की रचनामें प्रवृत्त होता हूँ। सरस्वती मुझे स्थिरता देवें।

श्री प्रेमीजी इसे त्रिभुवनका लिखा मानते हैं। क्योंकि उसकी एक गर्वोक्ति यह भी मिलती है,

"अइ ण हुउ छंद चूड़ामणिस्स तिहुअणसयंभू लहु तणओ
तो पद्धडिया कव्व, सिरि पंचमि को समारेउ॥"

यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि कविके उक्त तीनों ग्रन्थ पूरे थे या अधूरे। प्रेमीजी (जै० सा० इ० ३८०) इन्हें पूरा मानते हैं। उनके अनुसार बादमें त्रिभुवनने अपनी रुचिके अनुसार उसमें परिवर्तन किया। । उनके मतसे उक्त कथनमें त्रिभुवन यह कह रहा है कि मैं पउम चरिउके शेष भागकी रचना कर चुका। अब हरिवंशमें हाथ लगाता हूँ। प्रेमीजी सुद्धयका शुद्ध पाठ सुव्वय करते हैं। इसका अर्थ सुव्रत होता है। राम इन्हींके समयमें हुए। अतः सुव्वय चरिउ, पउम चरिउका ही पर्यायवाची है। परन्तु इसमें खींचातानी अधिक है। दोनोंका अर्थ एक मान लेनेपर भी 'च' शब्द दो अलग काव्योंका सूचक है फिर पउम चरिउमें मुनि सुव्रतकी कथा नाम मात्रको भी नहीं है। मंगलाचरण अवश्य है। अतः पाठान्तर कर लेनेपर भी 'सुव्वय चरिउ' उसे नहीं कहा जा सकता। हो सकता है पंचमी चरिउकी तरह कविने 'सुद्धय चरिउ' नामसे कोई छोटी-मोटी रचना की हो। पउम चरिउ बादमें लिखा हो। यह असम्भव भी नहीं, क्योंकि कवि पउम चरिउकी भूमिकामें अपनेको कविराज कहता है। अतः इस बारेमें डॉ० भायाणीका मत अधिक ग्राह्य है (प० च० भूमिका पृ०२८)। जसहर चरिउका उदाहरण देकर प्रेमीजीने (जै० सा० इ० ३७७) तीनों कृतियोंमें कुछ अंश प्रक्षिप्त माना है। परन्तु डॉ० हीरालाल जैनका मत है कि पउम चरिउ पूरा था। परन्तु रिट्ठणेमि चरिउ कविकी

मृत्युसे अधूरा रह गया, अतः त्रिभुवनने उसे पूरा किया। डॉ० भायाणी यह सब बात नहीं मानते। आपने जो तर्क दिये हैं (प० च० भूमिका ४५) वे ये हैं

१. स्वयंभूने पउम चरिउ अधूरा क्यों छोड़ा।

२. पउम चरिउ और रिट्ठणेमि चरिउ अलग-अलग आश्रयमें लिखे गये। अतः पउम चरिउको अधूरा छोड़कर, दूसरा काव्य क्यों शुरू किया।

३. त्रिभुवन पउम चरिउके परिवर्धित अंशको पउम चरिउका शेष मानता है। जिसका अर्थ पूरक है।

४. एक ही कवि सभी ग्रन्थ अधूरे नहीं छोड़ सकता।

५. त्रिभुवनकी अपने पितामें पूरी आस्था थी।
यदि उक्त तीनों ग्रन्थ पूरे होते, तो वह प्रक्षिप्त अंश उसमें जोड़नेकी धृष्टता नहीं करते।

६. मोह शब्द उक्त पद्यमें विचारणीय है।
अतः इन तथ्योंको दृष्टिमें रखकर आपका विचार यह है कि कवि पउम चरिउको पूरा किये बिना ही धवलइयाके आश्रयमें चला गया होगा। वहाँ उसने नया ग्रन्थ शुरू कर दिया, किन्तु अचानक मृत्यु हो जानेसे उसके पुत्रको दोनों पूरे करने पड़े। आपके मतसे **'सयंभूदेव उव्वरिअ तिहुअण सयंभू समाणिअ'** आदि शब्दोंका अर्थ बचा हुआ करना चाहिए।

हम देख चुके हैं कि पउम चरिउका आधार पद्मपुराण और विमल-सूरिका पउम चरियं है। रविषेणके पद्मपुराणमें सृष्टि, वंश समुत्पत्ति, प्रस्थान, संवेग, लवणकुश-उत्पत्ति, भवोक्ति और परिनिर्वृति ये सात अधिकार हैं। विमलसूरिमें भी यही बात है। पर स्वयंभूके पउम चरिउ की ८२ सन्धिमें केवल पाँच अधिकार ही आते हैं। बाक़ी दो भी उपेक्षणीय नहीं। अतः पउम चरिउ अधूरा ही था। एक बात यह भी है कि पउम-चरिउकी २३ और ४३वीं सन्धिमें नये मंगलाचरण हैं। ये काव्य-निर्माणके बीचमें लम्बे विरामके द्योतक हैं, नहीं तो बीच कथामें इनकी आवश्यकता नहीं थी। अतः स्व० प्रेमीजीके अनुसार सभी पूर्ण थे, डॉ० जैनके मतसे कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण थे। डॉ० भायाणीके अनुसार सभी अधूरे थे। इनमें प्रेमी और डॉ० भायाणीके मतोंके विवेचनसे डॉ० जैनके मतका

समाधान हो जायेगा। प्रेमीजी और डॉ० भायाणी दोनों यह मानते हैं कि त्रिभुवनने मूल ग्रन्थमें कुछ अपनी ओरसे जोड़ा। असली विवाद इस बात-का है कि ये कृतियाँ पूर्ण थीं या अधूरी। उक्त पद्यकी चर्चा हम बादमें करेंगे। मैं प्रेमीजीका मत ठीक समझता हूँ, यद्यपि उनके सभी तर्कोंसे सहमत नहीं हूँ। इसी तरह डॉ० भायाणीके कई तर्क ठीक हैं, फिर भी उनके मतसे मैं सहमत नहीं। इसके निम्न कारण हैं—

१. सभी कृतियाँ अधूरी नहीं मानी जा सकतीं।

२. 'उव्वरिअ'का डॉ० भायाणीने सन्तोषजनक अर्थ नहीं किया।

३. पउम चरिउकी २३ और ४३वीं सन्धियोंके शुरूमे मंगलाचरण, लम्बे विश्रामके नहीं, अपितु कथाके नये मोड़के द्योतक हैं। ये मोड़ हैं क्रमशः रामका वनवास और राम-रावण युद्धकी भूमिकाका प्रारम्भ।

४. यदि रिट्ठणेमि चरिउकी रचनामें सवा छह वर्ष लगे तो पउम चरिउमें चार वर्ष लगना कोई बड़ी बात नहीं। इतने लम्बे कालमें बाधा आना स्वाभाविक है, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि बाधाके कारण कविने एक काम अधूरा छोड़कर दूसरा काम हाथमें ले लिया।

५. पउम चरिउके अन्तिम दो अधिकार स्वयंभूने जान-बूझकर नहीं दिये, क्योंकि वह रामकथाका काव्योचित ढंगसे उपयोग करना चाहता था। डॉ० भायाणीने उन्हें यापनीय सिद्ध करनेके लिए स्वयं यह स्वीकार किया है।

६. यदि किसी अप्रत्याशित कारणसे कविकी मृत्यु हुई होती तो त्रिभुवन अवश्य इसका उल्लेख करते।

७. अन्यत्र हमने दिखाया है कि अपभ्रंश चरित-काव्य पढ़े भी जाते थे, अन्य मतमें 'लवकुश' आदि घटनाएँ थीं, हो सकता है, किसी स्वाध्याय-प्रेमीके अनुरोधसे त्रिभुवनने कुछ और जोड़ दिया हो। इसके दो कारण हो सकते हैं, (१) पौराणिकता, (२) जैनेतर घटनाओंका जैन दृष्टिसे परिचय कराना।

अब लीजिए ९९वीं सन्धिका अन्तिम उक्त पद्य। इसमें कवि त्रिभुवन कहता है कि मैं सुद्धय चरिउ और पउम चरिउको (शेष भागोंको) पूरा कर चुका, अब हरिवंशके बारेमें (लोगोंका) मोह दूर करनेके लिए उसमें हाथ लगाता हूँ। यह काम विश्रामजनक है। यदि 'सुद्धय चरिउ'

स्वयंभूने लिखा हो, तो उनके पुत्रने उसमें अवश्य कुछ-न-कुछ जोड़ा होगा, भारतीय साहित्यमें ऐसा होना कोई असम्भव बात नहीं। जहाँतक जसकीर्ति-द्वारा प्रक्षिप्त अंशका प्रश्न है वह बहुत बादका है। मैं समझता हूँ अन्य स्रोतसे रिट्ठणेमि चरिउकी मूल प्रति मिल सकती है। मूल अंशके साथ प्रक्षिप्त अंशकी भाषागत तुलना करनेसे भी कुछ लक्ष्य हाथ लग सकता है। अधिक सम्भावना यही है कि पूरी रचनामें कुछ और बढ़ाया गया। स्वयंभू छन्द भी महत्त्वपूर्ण कृति है। पर उसकी प्रति अपूर्ण है। अतः प्रारम्भिक अंश और प्रशस्ति न होनेसे, लेखकके विषयमें भ्रम हो सकता है। परन्तु अन्तरंग प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि स्वयंभू छन्द और पउम चरिउका कर्त्ता एक ही स्वयंभू है। क्योंकि इसमें उदाहरणके लिए दूसरे कवियोंके पद नामसहित हैं। जो खुदके हैं, उनमें नाम नहीं है। पर वे पउम चरिउके हैं। आठ अध्यायोंमें-से पहले तीनमें प्राकृत छन्दका विचार है। शेषमें अपभ्रंश छन्दका। यह भाग कई दृष्टियोंसे महत्त्व रखता है—

१. अपभ्रंश छन्दपर पहली रचना है। २. व्यवस्थित है। ३. प्राचीन है। ४. कवि-द्वारा रचित है। ५. पूर्ववर्ती कवियोंके पद उदाहरणसहित हैं। वे लुप्त होनेसे बच गये, डॉ० भायाणीने इसका काफ़ी विचार किया है (प० च० भूमिका)

अन्य ग्रन्थ—अनुमान है कि कविने एक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था। कविकी प्रशंसामें एक पद्य है, उसमें लिखा है कि अपभ्रंशका मस्त गज तभीतक स्वच्छन्द घूमता है, जबतक स्वयंभूका व्याकरणरूपी अंकुश उसे नहीं लगा। एक जगह उसकी तुलना पंचाननसे दी गयी है जिसमें कहा गया है कि उसकी सच्छब्दरूपी विकट दाढ़ें हैं, छन्द और अलंकारोंके नखोंसे जो दुष्प्रवेश्य है। व्याकरणरूपी उसका अयाल है। (प० च० भूमिका, पृ० १२१, श्लो० ३, ४) परन्तु यह आलंकारिक वर्णन भी हो सकता है।

रचनाका ध्येय—कवि अपना ध्येय इस प्रकार बताता है। 'पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायणकावें' (प० च० १, ३) रामायणके द्वारा मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। अर्थात् कवि काव्यको आत्माभिव्यक्ति-का साधन मानता है। यदि कविको देखना हो तो उसके काव्यको देखो, न कि उसके पार्थिव रूपको। यह हुआ शुद्ध साहित्यिक लक्ष्य। लौकिक लक्ष्य है लोकमे यशकी प्राप्ति। इसीलिए वह ग्रन्थको निर्मल पुण्य पवित्र

कथा कीर्तनसे प्रारम्भ करता है, क्योंकि इससे लोकमें कीर्ति बढ़ती है।

णिम्मल पुण्ण पवित्त कह कित्तणु आढप्पइ।

जेण समाणिज्जंतएणं थिर कित्ति विढप्पइ ॥ (प० च० १, ४)

कथाएँ बहुत हैं, पर कविको पुण्यकथाका कीर्तन ही इष्ट है। इसीसे कीर्ति मिलती है। यह कीर्तन उसने ग्राम्यतारहित सामान्य भाषामें किया है।

अपने काव्यसम्बन्धी विचार कविने स्पष्ट रूपसे नहीं रखे, पर पउम चरिउके प्रारम्भमें रामकथाके नदी रूपकसे कई तथ्य सम्मुख आते हैं। उसमें उपमान-उपमेय रूपमें इतनी बातें हैं—

उपमेय	उपमान
१. अक्षरका ठीक विन्यास	जलसमूह
२. सुन्दर अलंकार और छन्द	जलचर
३. दीर्घ समास	प्रवाह
४. संस्कृत प्राकृत शब्द	किनारे
५. देश भाषाकी प्रचुरता	जल
६. अर्थबहुलता	तरंगें
७. आश्वास	तीर्थ (प० च० १, ४)

कविकी रामकथामें इन बातोंका वही महत्त्व है जो नदीमें उपमान गत धर्मोंका। इसमें संस्कृत और प्राकृतके बन्धका अनुबन्ध भी है, क्योंकि संस्कृत प्राकृत रामकथाकाव्य कविकी कथाके उपजीव्य हैं। कविकी आत्मविनयसे स्पष्ट है कि वह अपने युगकी काव्य-परम्परासे परिचित हैं। भरत, व्यास, पिंगल, भामह, दण्डी, इन्द्र, बाण, श्रीहर्ष आदिका उन्होंने उल्लेख किया है। स्वयंभू छन्दमें प्राकृत और अपभ्रंश कवियोंके नाम भी दिये है। इससे उनके साहित्य-ज्ञानका अनुमान लगाया जा सकता है।

स्वयंभू भारतके उन भाग्यशाली कवियोंमें हैं, जिन्हें अपने जीवन-कालमें ही ख्याति मिल गयी। अभीतक संस्कृत-प्राकृतके विशाल साहित्य-के बीच अपभ्रंश काव्यकी जो मन्दधारा बहती आ रही थी, कविने अपनी अनुभूति और प्रतिभाके द्वारा उसे सरिता (रामकथारूपी नदी) का रूप दिया। वह काव्य और शास्त्र दोनोंमें पारंगत थे। इसलिए उनके काव्यमें भक्तिकी तन्मयता और काव्यकी सरसता दोनों हैं। प्रकृति-चित्रण और निरीक्षणकी क्षमता उनमें थी। पुत्र त्रिभुवनकी पिताके बारेमें जो प्रशंसापूर्ण उक्तियाँ हैं, वे निराधार नहीं हैं। परवर्ती कवियोंने उनका

सम्मानके साथ उल्लेख किया है। आ० हेमचन्द्र उन्हें छन्दशास्त्रके महान् आचार्योंमें रखते हैं। राजशेखर अपने छन्दशेखरकी रचनामें स्वयंभू छन्दका बहुत कुछ ऋणी है। परवर्ती अपभ्रंश कथा-काव्य स्वयंभू-की रचनाओंसे प्रभावित है। निस्सन्देह वह उच्चकोटिके भाषा-कवियोंमें प्रमुख थे। छन्दचूड़ामणि, कविराज धवल आदि उनके विरुद थे।

२. पुष्पदन्त (१०वीं सदी अनुमानित)

ये कश्यप गोत्रके ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम केशवभट्ट और माँका मुग्धादेवी था। णायकुमार चरिउकी प्रशस्तिमें कवि अपने माता-पिताकी कल्याण-कामना करता है। इससे जान पड़ता है कि वह पहले शैव थे। प्रारम्भमे उन्होंने किसी भैरवनरेन्द्र (शैवराजा) की प्रशंसामें कोई काव्य भी लिखा था। बादमें आश्रयदाता भरतके अनुरोधसे (म० पु० १, पृ० ७) जिन-भक्तिसे प्रेरित होकर काव्य-रचना की। प्रेमीजी प्रसिद्ध शिवमहिम्न स्तोत्रके लेखक पुष्पदन्तसे इनकी पहचान करते हैं (पृ० ३०२)। पर यह अधिक संगत नहीं जान पड़ता। कविके पारि-वारिक जीवनके विषयमें कुछ भी पता नहीं चलता। सम्भवतः वह एकाकी थे। उनकी उक्तियों और भावुक वर्णनसे यही जान पड़ता है कि वह स्वाभिमानी, उग्र और एकान्तप्रिय व्यक्ति थे।[१]

अपने जन्म और स्थानके विषयमें कविने कोई सूचना नहीं दी। प्रेमीजी उन्हें दक्षिणमे 'बाहरका आया' मानते है। (पृ० ३०३, ३०४) क्योंकि उनके साहित्यमें द्रविड़ शब्द नहीं है। अधिकांश अपभ्रंश साहित्य उत्तरमें लिखा गया। मराठी शब्द कुछ मिलते हैं। अतः उन्हे बरारका निवासी होना चाहिए। मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु इसके लिए अभी और ठोस प्रमाणकी ज़रूरत है। क्योंकि अपभ्रंश व्यापक काव्य-भाषा थी। अतः किसी भी प्रान्तका व्यक्ति उसमे रचना कर सकता था। डॉ० वैद्य 'डोड्डु' 'बोड्डु' आदि शब्दोंको कन्नड़का मानते हैं। (म० पु० ३, ३०८, ३१२)। कविने लिखा है कि वह 'मलखेड' पहुँचा था। पर कहाँसे, यह उसने नहीं बताया। उस समय विदर्भ साहित्य-साधनाका केन्द्र था। हो सकता है कवि वहींसे आया हो। कविके जीवनके विषयमें भी अप्रत्यक्ष रूपसे

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने पुष्पदन्तकी पहचान, अपनी आदिकाल पुस्तकमें हिन्दीके पुष्पभाट कविसे की है। पुष्पभाट दोहाकार था। वह और पुष्पदन्त एक नहीं हो सकते।

जानकारी मिलती है। उसने धवल, जयधवल ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इनमें जयधवलाकी टीका बीरसेनके शिष्य जिनसेनने अमोघवर्ष प्रथम (८३७ ईस्वी) के समय की थी। हरिषेणकी धर्मपरिक्खामें (८३७–९८७ ईस्वी) पुष्पदन्तका उल्लेख है। कविने लिखा है 'कन्हरायकी जल-वाहिनीसे जो दुर्गम है, जिसके धवलगृहोंसे मेघमाला टकराती है, ऐसी बहुत बड़ी मान्यखेट नगरी है।' कन्हरायका अर्थ कृष्णराज है। परन्तु राष्ट्रकूट वंशमें कृष्ण नामके तीन राजे हुए हैं। इनमें पहला शुभतुंग उपाधि-धारी था। वह यह नहीं हो सकता; क्योंकि उसके बाद ही अमोघवर्ष प्रथमने मान्यखेटको बसाया था। दूसरा कृष्ण भी नहीं हो सकता; क्योंकि उसके समय गुणभद्रने उत्तरपुराण रचा था। दूसरे पुष्पदन्तके कई वर्णन, इसके साथ मेल नहीं खाते। अतः कृष्ण तृतीय ही इनका सम-कालीन ठहरता है। इसके समर्थनमें ये तर्क दिये जाते हैं – १. पुष्पदन्तने लिखा है **'तोडेप्पणु चोडहो तणउ सीसु'**। इतिहाससे यह सिद्ध है कि कृष्ण तृतीयने चोलपर विजय प्राप्त की थी। २. कविने धारानरेश-द्वारा मान्यखेटके लूटे जानेका उल्लेख किया है। यह घटना कृष्ण तृतीयके बाद खोट्टिग देवके समयकी है।[1] धनपालने 'पाइय-लच्छी' नाममालामें लिखा है कि वि० स० १०२९ में मालव नरेन्द्रने मान्यखेटको लूटा।[2] ग्वालियरके एक शिलालेखमें अंकित है कि हर्षदेवने खोट्टिग देवकी राज्यलक्ष्मीको युद्धमें छीन लिया। (इण्डिका ग्राफ़िका जि० १, पृ० २२६) यह हर्षदेव ही हमारा धारानरेश है और उसने कृष्ण तृतीयके उत्तराधिकारी खोट्टिगपर चढ़ाई की थी। अतः कविका इनका समकालीन होना निर्विवाद है। इस सम्बन्धमें एक शंका यह है कि महापुराण शक संवत् ८८७ में पूर्ण हो चुका था और मान्यखेटकी लूट शक संवत् ८९४में हुई, अतः उसका उल्लेख कैसे हो गया। हम समझते हैं कि उक्त संस्कृत श्लोक बादका प्रक्षिप्त है। मूल ग्रन्थसे उसका सम्बन्ध नहीं। श्री जुगलकिशोर मुख्तार जसहर चरिउकी अन्तिम प्रस्तावनाके आधारपर पुष्पदन्तको बहुत परवर्ती मानना चाहते थे। पर अब यह प्रायः सिद्ध हो चुका है कि वह अंश बहुत बादमें प्रक्षिप्त हुआ। सोमदेवने जिस समय अपना यशस्तिलक समाप्त किया, उस समय कृष्ण तृतीय मेलपाटी-

१. धारानरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धं प्रियम्।
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥

२. विक्कम कालस्स गए अउणुत्ति सुत्तरे सहस्सम्मि।
मालव नरिंद धाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि॥ – पृ० २१६

में पड़ाव डाले हुए था। (पृ० ४१९) सोमदेव भी इसे चोलविजेता बताते हैं। पुष्पदन्तने भी मेलपाटीमें स्वयं रहनेका उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणोंसे वह कृष्ण तृतीयके समकालीन सिद्ध होते हैं।

साहित्य—

इनकी कुल तीन रचनाएँ प्राप्त हैं – णायकुमार चरिउ, महापुराण और जसहर चरिउ। सबका परिचय अन्यत्र दिया है। रचना-क्रम यही है। कवि शक संवत् ८८१ में मेलपाटी पहुँचा। तबसे शुरू कर ८८७ में उसने महापुराण पूरा किया। जसहर चरिउकी समाप्ति तक मान्यखेट लूटा जा चुका था। इस तरह कोई १३ वर्ष वह मेलपाटीमें रहा। प्रेमीजीका अनुमान है कि हेमचन्द्रने अभिमान चिह्नके नामसे जो अवतरण 'देशीनाममाला'में दिये हैं, वे अवतरण इन्हीं पुष्पदन्तके हैं। सम्भव है उन्होंने कोई देशी शब्दकोश रचा हो।

आश्रयदाता—कविके आश्रयदाता भरत और नन्न थे। भरत महामात्य वंशमें उत्पन्न हुए थे। अपने समयके वह प्रतापशाली और प्रभावशाली मन्त्री थे। वह शस्त्रज्ञ और शास्त्रज्ञ दोनों थे। कवि उनकी प्रशंसा करते हुए कभी नहीं अघाता। इसमें कुछ सचाई भी है। भरतमें दो गुण बहुत अच्छे थे – एक तो साहित्यसे प्रेम और दूसरे मनुष्यके स्वभावकी परख। पुष्पदन्त-जैसे उग्र, भावुक, स्वाभिमानी[1] राजनीतिके कटु आलोचक कविको अपने पास रखकर, इतना काम ले लेना, भरतके लिए ही सम्भव था। परन्तु भरतके पास आनेके पहले ही, पुष्पदन्त साहित्य-जगत्मे कीर्ति अर्जित कर चुके थे। सम्भव है भरतने इसी कारण उन्हें अपने यहाँ रखा हो। वह समय-समयपर कविको काव्य-रचनाके लिए उत्साहित भी करते रहते थे। भरत कौडिन्न गोत्रके थे। पिताका नाम एरण और माँका देवी था। धर्मपत्नीका नाम कुन्दव्वा था। उनके सात पुत्र थे। उनके अधीन सेनाविभाग और दानविभाग था। (म० पु० १, पृ० १७) कविने उन्हें 'प्राकृतकाव्यरसालुब्ध' कहा है। मन्त्री और कविकी आपसमें कैसी पटती थी इसका एक घटनासे पता लग जायेगा। एक बार आदिपुराणके बाद कविका मन विरक्त हो गया। यह देखकर भरत बोले, 'तुम उन्मन और निष्प्रभ क्यों हो, तुम्हारा मन

---

१. धनु तणु समु मज्झु ण तं गहणु णेहु णिक्कारणु इच्छामि।

—म० पु० २, पृ० ६

ग्रन्थ-रचनामें नहीं है, क्या किसीने तुम्हें विरत कर दिया, क्या मुझसे कोई अपराध बन पड़ा है। मैं हाथ जोड़कर तुम्हारे आगे यह बैठा हूँ। तुम्हें वाणीरूपी कामधेनु सिद्ध है, उसे क्यों नहीं दुहते।" यह सुनकर कविने फिरसे लिखना स्वीकार कर लिया। पुष्पदन्त, भरतके बाद उनके पुत्र नन्नके आश्रयमें रहे। नन्न वल्लभनरेन्द्रका गृहमन्त्री था। नन्नके घरमें कविने जसहर चरिउकी रचना की। (जस० च० पृ० ३) महापुराणकी उत्थानिकामें कविने तुडिग राजाका नाम दिया है। यह कृष्णराजका घरेलू नाम था। इसके अतिरिक्त वल्लभराय, वल्लभनरेन्द्र, शुभतुंग देव और कन्हरायका भी उल्लेख आया है। इनमें वल्लभराय राष्ट्रकूट-नरेशोंकी उपाधि थी जो उन्होंने चौलुक्य-नरेशोंको जीतनेके उपलक्ष्यमें प्राप्त की थी। शेष सब इस वंशके ऐतिहासिक राजा हैं। (प्रेमी ३२१)

उद्देश्य—कविके साहित्यका उद्देश्य शुद्ध धार्मिक है। कविने स्वयं लिखा है कि भैरव राजाका स्तुति-काव्य बनानेसे जो मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ था उसे मिटानेके लिए ही उसने महापुराणकी रचना की। (म० पु० १, पृ० ४) उसने 'धर्मके अनुशासनके आनन्दसे भरित नाभेय चरित की रचना' की है। (म० पु० पृ० ६) उसकी समस्त रचनाएँ जिन-भक्तिसे उसी तरह प्रेरित हैं जिस तरह तुलसीकी रामभक्तिसे। एक जगह मन्त्री भरतसे वह कहता है, 'लो तुम्हारी अभ्यर्थनापर मैं जिन-गुण वर्णन करता हूँ। पर धनके लिए नहीं केवल अकारण स्नेहके लिए।'[1] फिर वह कहता है, 'जिनपदभक्तिसे मेरा कवित्व वैसे ही फूट पड़ता है जैसे मधुमासमें आमके बौरोंपर कोयल कूक उठती है। काननमें भ्रमर गूँजने लगते हैं। कीर आनन्दसे भर उठता है।'[2]

कविने सरस्वतीकी जो वन्दना की है, उससे उनके काव्यसम्बन्धी विचार ये जान पड़ते हैं, 'कोमल पद, पर कल्पना गूढ़ हो, भाषा प्रसन्न और गम्भीर होनी चाहिए। वह छन्द और अलंकारको काव्यकी गतिका आवश्यक साधन मानता है। शास्त्र और अर्थ-तत्त्वकी गम्भीरता हो।'

---

१. मज्झुकइत्तणु जिणपद भत्तिहि, पसरइ णउ णिय जीविय वित्तिहि।
—म० पु० २, ६

२. बोल्लइ कोइल अंबय कलियहि। काणणि चंचरीउ रुणुरुंटइ॥
—वही

(म० पु० १) इस कसौटीपर कविका काव्य खरा उतरता है। कवि बार-बार अलंकृत या रसभरी कथाकी उपमा देता है। (म० पु० २, पृ० १८, ४३, १३७, १५८, २१२, ३५५) इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कथाका निर्वाह ठीक हो। उसमें रस हो। अलंकार हो। महापुराण (२ पृ० २९१) तथा णायकुमार चरिउ (३२, ४४, ४९) में इसी तरहकी उपमाएँ हैं। जसहर चरिउ (१८) में एक उपमा इस प्रकार है 'तणुरुहु कव्वत्थु व रइमईए।' कवि काव्य-रचनामें सबसे बड़ी वस्तु गहन अनुभूतिको मानता है। इसके प्रभावमें कविबुद्धि न तो काव्यार्थ रूप पुत्रको जन सकती है और न कवि ही काव्य भावबद्ध कर सकता है।

व्यक्तित्व—कविका घरेलू नाम सम्भवतया 'खण्ड' था। 'खण्डूजी' आदिके रूपमें ये नाम महाराष्ट्रमें अब भी चलते हैं। उनका स्वभाव बहुत खरा था। राज्य और राजासे उन्हें बड़ी चिढ़ हो गयी थी। भरत, बाहुबलिके प्रसंगमें वह राजाको चोर और लुटेरा कहनेसे नहीं चूकते। उनके उपाधि नाम भी कई थे। अभिमानचिह्न, कविकुलतिलक, सरस्वती-निलय, काव्य पिसल्ल इत्यादि। महापुराण (३) के अन्तमें कविने अपना परिचय इस प्रकार दिया है,

सूने घरों और देव-कुलिकाओंमें रहनेवाले, कलिके प्रबल पापपटलों-से रहित, बेघर-बार, पुत्र-कलत्रविहीन, नदियों वापियों और सरोवरोंमें स्नान करनेवाले, पुराने बल्कल और वस्त्र धारण करनेवाले, धूलधूसरित अंग, दुर्जनके संगसे दूर रहनेवाले, जमीनपर सोनेवाले और अपने हाथों ओढ़नेवाले, पण्डित, मरणकी इच्छा रखनेवाले, मान्यखेटवासी अरहंतके उपासक भरत-द्वारा सम्मानित, काव्य प्रबन्धसे लोगोंको पुलकित करनेवाले, पापरूपी कीचड़को धोनेवाले, अभिमानमेरु पुष्पदन्तने यह काव्य, जिनपद-कमलोंमें हाथ जोड़े हुए भक्तिपूर्वक कोधन संवत्सरमें अषाढ़ सुदी दसवींको बनाया।'

इन पंक्तियोंमें कविका साहित्यिक और व्यक्तिगत दोनों तरहका जीवन अंकित है। प्रेमीजीके शब्दोंमें 'इससे कविकी प्रकृति और निस्संगताका एक चित्र-सा खिंच जाता है।' इसमें सन्देह नहीं कि कविको एक ही भूख थी और वह थी निःस्वार्थ प्रेमकी। भरतने भी अपनी सुजनतासे इस भूखको शान्त कर दिया। वे एक दूसरेके पूरक थे। कविमें अभिमान था तो भरतमें विनय। एक भावुक था तो दूसरा विचारशील। पुष्पदन्त-

का फक्कड़पन देखिए कि जीवन-भर काव्य-साधना की, फिर भी अपनेको वह 'काव्य पिसल्ल' – 'काव्यका पिशाच' कहनेसे नहीं चूके। अपने परिचयमें वह कहते हैं, 'दुबला-पतला साँवला शरीर एकदम कुरूप, पर स्वभाव हँसमुख। जब बोलता तो दन्त-पंक्तियोंसे दसों दिशाएँ धवलित हो जातीं।' इससे बढ़कर निरहंकारी और स्पष्टवादी कौन हो सकता है!

कविके व्यक्तित्वमें कई विरोधी बातोंका विचित्र सम्मिलन था। वह अपनेको सरस्वतीनिलय मानते हैं और यह भी कहते हैं कि मैं 'कुक्षिमूर्ख' हूँ। एक ओर वह तावमें आकर सरस्वतीसे कहते हैं कि तुम कहाँ जाओगी और दूसरी ओर यक्ष-यक्षिणियोंसे काव्य-रचनाको भीख माँगते हैं। वह विलास और रूपसे दूर हैं, पर काव्यमें इनका खूब चित्रण करते हैं। वह दुनियाके एक कोनेमें रहना पसन्द करते थे, पर दुनियाका ज्ञान और अनुभव उनके काव्यमें भरा पड़ा है। अपनी इस विरोधी प्रकृतिके कारण उन्होंने काव्यमें विरोधाभास और श्लिष्ट शैलीका खूब प्रयोग किया है। वह शैवसे जैन बने थे और राज-स्तुतिसे जिन-भक्तिकी ओर झुके थे।

स्वयंभू और पुष्पदन्त—स्वयंभूकी रामकथा यदि नदी है तो इनका महापुराण समुद्र। उनकी वाणी अलंकृता, रसवती और जिन-भक्तिसे भरी है। उनके काव्यमें ओज और प्रवाह है। कई शैलियोंका प्रयोग है। श्लिष्ट और सरल, कोमल और कठोर, सभी शैलियाँ हैं। दर्शन और शास्त्रीय ज्ञानका प्रदर्शन है पर अनुभूति पीछे नहीं है। प्रकृतिके उभयरूप उन्हें आकृष्ट करते हैं। ठाट-बाटसे कहानी कहनेमें वह निपुण हैं। उनके जीवनमें ही उनकी प्रतिभा चारों ओर फैल गयी थी। कोई उन्हें 'काव्य-पिसल्ल' कहता था तो कोई विद्वान् (म० पु० २, पृ० ६)। हरिषेण तो यहाँतक कहता है, 'पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही हैं, सरस्वती उनका पीछा नहीं छोड़ती' (ध० प०)। बाणके बाद राजनीतिका इतना उग्र आलोचक दूसरा लेखक नहीं हुआ। सचमुच मेलपाटीके उस उद्यानमें हुई भरत और पुष्पदन्तकी भेंट भारतीय साहित्यकी बहुत बड़ी घटना है। यह अनुभूति और कल्पनाकी वह अक्षय धारा है, जिससे अपभ्रंश साहित्यका उपवन हरा-भरा हो उठा। मन्त्री भरत माली थे, और कवि पुष्पदन्त कवि, उनके स्नेहके आलवालमें कविका काव्यकुसुम (म० पु०) खिल उठा।

३. धनपाल (१०वीं सदी अनुमानित)

इनकी भविसयत्तकहा जितनी प्रसिद्ध है, जीवनी उतनी ही अज्ञात है। ग्रन्थके अन्तकी प्रशस्तिसे इतना ही मालूम होता है कि वह धक्कड़ वंशके थे। उनके पिताका नाम भाएसर और माताका धनश्री देवी था। वह जैन थे, पर किस सम्प्रदायके थे यह उन्होंने नहीं लिखा। डॉ० जैकोबी-ने उन्हें दिगम्बर सिद्ध किया है, क्योंकि भंजवि जेण दिगंबरि लायउ (५, २०) और सोलहवें स्वर्गका उसमें उल्लेख है।

यह धक्कड़ जाति पश्चिमी भारतकी वैश्य जाति थी। देलवाड़ामें तेजपालका वि० सं० १२८७ का एक शिलालेख है, उसमें धर्कट या धक्कड़ जातिका उल्लेख है। आबूके शिलालेखोंमें भी इसका उल्लेख है। प्रारम्भमें यह राजस्थानकी मूल जाति थी। पर अब बरार और निजाममें भी है। पाइयलच्छीका लेखक, धारानिवासी धनपाल इस कविसे भिन्न व्यक्ति है। इनके समयके विषयमें कुछ भी पता नहीं लगा, पर भाषाके आधारपर जैकोबी इन्हें १०वीं सदीका मानते हैं। क्योंकि इनकी भाषा हरिभद्र सूरिके नेमिनाह चरिउसे मिलती है। मुनि जिनविजयने हरिभद्रका समय ७०५ से ७७५ के बीच माना है (जै० सा० सं० १)। श्री गुणे निम्न-लिखित कारणोंके आधारपर इन्हें १०वींका सिद्ध करते हैं :—

१. भाषाके रूप और व्याकरणकी दृष्टिसे इसमें शिथिलता और अनेकरूपता है। अतः यह तब लिखी गयी जब अपभ्रंश बोली जाती थी।

२. हेमचन्द्रके समय अपभ्रंश रूढ़ हो चुकी थी। वह १२वींमें हुए अतः दोनोंके बीच दो-ढाई सौ वर्षका अन्तर होना चाहिए।

मेरी समझसे इन्हें १०वींका मानना असंगत नहीं। कविने अपने काव्यको 'चरित कीर्तन' कहा है। बार-बार कवि अपनेको सरस्वतीका पुत्र कहता है। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने काफ़ी शास्त्रचिन्तन किया होगा। अलंकृत शैलीकी अपेक्षा धनपाल काव्यको मनुष्य-हृदयके निकट रखना अधिक पसन्द करते थे। थोड़ी-सी अतिरंजना और धार्मिक अंशको छोड़कर उनकी रचना लोक-हृदयके बहुत निकट है। उनका कथानायक दरबारी न होकर वणिक् है, भावोंके घात और प्रतिघात, घटनाओंकी स्वाभाविक योजना, पृष्ठभूमि देकर भावोंकी अभिव्यंजना,

सम्बन्ध-निर्वाहमें कविको काफ़ी सफलता मिली। प्रथम श्रेणीके अपभ्रंश कवियोंमें उनकी गिनती होनी चाहिए।

४. कवि धाहिल

इनके जीवन, समय और स्थानके बारेमें कुछ पता नहीं चलता। पउमसिरी चरिउकी अन्तिम प्रशस्तिसे इतना ही ज्ञात होता है कि वह शिशुपालवधके लेखक कवि माघकी परम्परामें उत्पन्न हुए। कवि माघ श्रीमालवंशी गुर्जर वैश्य थे। गुर्जरवंशकी पुरानी राजधानी भिन्नमाल उनकी जन्मभूमि थी। यह विक्रमकी ८वीं सदीमें हुए। कवि धाहिल उनसे चार-पाँच पीढ़ियों बाद हुए होंगे। अतः भाषा और विषय-शैलीको ध्यानमें रखते हुए उन्हें १०वींके आसपासका होना चाहिए। डॉ० भायाणी उन्हें माघसे आठ-नौ पीढ़ी बादका मानते हैं। (प० सि० च० १५)

कविने अपनी रचनाको 'कर्ण रसायन धर्म कथा' कहा है। वह अपनी शैलीको रम्य बनानेके पक्षमें है। 'ललित अक्षरोंमें उसने अर्थ सार दिया है' उसका काव्य 'तरुणी-जनकी तरह बहुविकार (चेष्टा और भाव) वाला है।' असलमें कवि इसमे पारिवारिक समस्याका धार्मिक हल खोजनेके पक्षमें है। परन्तु किसी समस्याको रखते समय वह यथार्थवादी दृष्टिसे मानवी स्वभावका चित्रण करता है। धार्मिक कल्पनाका रंग होनेपर भी, एक धनी परिवारमें विधवा लड़कीकी स्थिति, गृहकलह, घरेलू कूटनीति, गन्धर्वविवाहकी रोमाण्टिक प्रवृत्तिका सुन्दर वर्णन है। वियोगिनी पद्मश्रीके विलापकी व्यंजनामें कवि प्रकृतिका तादात्म्य भी करता है। कुल मिलाकर, धार्मिक होते हुए भी यह चरितकाव्य सरस, भावपूर्ण और काव्योचित है। धाहिलका उपनाम दिव्यदृष्टि था।[1]

५. मुनि कनकामर (१२वीं सदी अनुमानित)

करकण्ड चरिउके अन्तमें कविने जो प्रशस्ति दी है उसके अनुसार वह ब्राह्मण वंशके चन्द्ररिसी गोत्रमें उत्पन्न हुए। बादमें दिगम्बर दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गये। उनके गुरु पण्डित मंगलदेव थे। कनकामर दीक्षाका नाम है। घूमते-घामते ये आशानगरीमें आकर ठहर गये। वहींपर एक भक्त सज्जनके अनुरोधसे उन्होंने इस काव्यकी रचना की। उक्त

१– प० सि० च०, पृ० ४०।

प्रशस्तिमें कविने अपने भक्त जनकी लम्बी-चौड़ी प्रशंसा की है। पर यह नहीं लिखा कि वह कहाँके थे और क्या थे। केवल यह संकेत कर दिया है कि राजा विजयपालके स्नेहभाजन थे। भूवाल राजा उनपर मुग्ध था और राजा कर्णके वह भावरंजक थे। (कर० च० १०७) इससे इतना तो निश्चित है कि कविके भक्त महाशयका तीन राजाओंसे सम्बन्ध रहा और राजनीतिसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

यह आशानगरी कहाँ थी, यह अभीतक निर्णीत नहीं हो पाया। डॉ० हीरालालने इस नामकी चार नगरियाँ ढूँढ़ निकाली हैं। (कर० च० भूमिका ३)— १. आसाई हैदराबाद, यहाँ प्रसिद्ध अँगरेज़-मराठा लड़ाई हुई थी; २. आसी (बूँदी राजपूताना); ३. आसापुरी कांगड़ा पंजाब; और ४. असीरगढ़का क़िला (खानदेश) यहाँ आशादेवीका कभी महत्त्व था। इनमें संख्या २,३ और ४ का प्रस्तुत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। परन्तु डॉ० हीरालाल कतिपय शिलालेखों और प्रमाणोंके आधारपर आसापुरीका अस्तित्व बुन्देलखण्डमे मानते हैं। (कर० च० भूमिका पृ० ३) वह कविके विजयपालकी पहचान १०९७ के किसी चन्देलवंशी राजासे करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० साहबने काफ़ी श्रम और खोजके बाद अपनी यह सम्भावना व्यक्त की है, पर ग्रन्थ-रचनाके उद्देश्य और दूसरे अन्तरंग प्रमाणसे बुन्देलखण्डकी आसापुरीका समर्थन नहीं होता। एक तो इस नामकी नगरी वहाँ नहीं मिली, दूसरे वहाँके किसी ऐतिहासिक राजासे इन राजाओंकी पहचान नहीं होती। तीसरे बुन्देलखण्डमें अपभ्रंश काव्य-साधनाकी कोई परम्परा नहीं मिली इसलिए इसे कविकी आसानगरी मानना ठीक नहीं। वैसे डॉ० साहब हैदराबादकी आसाईको भी उपयुक्त मानते हैं, परन्तु केवल नामके आधारपर ऐसा माननेमे उन्हें हिचक है। (वही, भूमिका पृ० २)। परन्तु अन्तरंग प्रमाणसे यही सिद्ध होता है।

इस काव्यके लक्ष्य हैं—श्रुतपंचमीका फल, पंचकल्याणक विधिकी प्रतिष्ठा। कवि शुरूमें ही कह देता है कि मैं करकण्डुके उस चरितका वर्णन करता हूँ जो कल्याणकविधिरत्नसे कलित है। यहाँ कल्याणक विधिका अर्थ पंचकल्याण विधानसे है। नायक करकण्डु, अन्तमें यह विधान करता भी है। उसने लयण भी बनवायो (देखो, वस्तुतत्त्व)। कविने लयणका वर्णन भी किया है। इससे यही जान पड़ता है, वह उक्त 'आसाइय' के आसपासका होगा, फिर करकण्ड चरिउके कई वर्णन पुष्प-

दन्तके वर्णनोंसे अनुप्राणित हैं। पुष्पदन्त मान्यखेटमें रहे। कविने उनका उल्लेख भी किया है।[1] बुन्देलखण्डमें ऐसे लयण मन्दिर नहीं हैं और न यह सम्भव है कि बहुत दूरसे आकर, कविने बुन्देलखण्डकी आशानगरीमें आश्रय लिया। फिर कवि, करकण्डुकी दक्षिण दिग्विजयका भी उल्लेख करता है। इन सब कारणोंसे 'आसाइय' ही कविकी आश्रय भूमि समझनी चाहिए। इनका समय भी प्राय: अनिश्चित है। पुष्पदन्तका उल्लेख करनेसे ये ९६५ के बादके तो ठहरते ही हैं। उनकी पुस्तककी पाण्डुलिपि कमसे कम १५०२ की लिखी मिलती है अत: कनकामर ९६५ से १५०२ के बीचमें कहीं हुए। पर पाँच साढ़े-पाँच सौ वर्षोंके अन्तराल-में-से उनका सही जीवन-काल निकाल लेना कठिन है। डॉ० हीरालाल-जीने करकण्ड चरिउमें अंकित विजयपालको चन्देलवंशी मानकर १०६५ के लगभग तिथि निश्चित की है। इसमें सन्देह नहीं कि यह रचना ११वीं के अन्त और १२वींके प्रारम्भके बीच लिखी गयी होगी। भाषा और काव्यशिल्पके आधारपर यही सिद्ध होता है।

कनकामरकी केवल यही रचना है। इसका उद्देश्य है 'दु:खसे रहित सुख-भरी चरित-कथा वस्तुकी रचना करना' (कर० च० १)। वह अपनी कथाको बिना किसी छलके व्यक्त करना चाहता है। उनकी रचनाका महत्त्व इस बातमे विशेष है कि एक तो इसमें कई कथाओंका संग्रह है, दूसरे वर्णन संक्षिप्त हैं, तीसरे लयण मन्दिरका वर्णन भी है। एक-दो जगह घटनाओंमें आकस्मिक मोड़ भी है। इसमें कई कथाएँ ऐसी हैं जो परवर्ती कालमें भी काव्यका आधार बनती हैं।

६. अब्दुल रहमान (१२वीं व १३वीं सदीका मध्य)

सन्देशरासककी उत्थानिकामें कविने अपना यह परिचय दिया है, 'पश्चिमी दिशामें बहुत पहलेसे म्लेच्छ देश है। उसीमें मीरसेण नामका जुलाहा हुआ। लेखक उसीका कुल-कमल था।' वह प्राकृत काव्य और गीत विषयोंमें प्रसिद्ध थे। म्लेच्छ देशसे सम्भवत: उनका तात्पर्य पश्चिमी भारतमें बसे हुए मुसलमानोंकी बस्तियोंसे है। क्योंकि अन्यत्र हम देख चुके हैं कि मुहम्मद बिन क़ासिमके समयसे ही सिन्ध मुसलमानोंके हाथमें रहा। सन्देशरासकपर लक्ष्मीचन्दने १४०९ ईस्वीमें टीका लिखी। अत:

---

१. कर० च० पृ० २।

इतना निश्चित है कि वह इसके पहले हुए; पर कितने पहले, इसपर मुनि जिनविजयने अन्तरंग प्रमाणके आधारपर निम्नलिखित तर्क देकर उन्हें शहाबुद्दीन ग़ोरीके अभ्युदयके कुछ पहलेका सिद्ध किया है :—

१. रहमानने सन्देशरासकमें मुलतानकी सुसंस्कृति और समृद्धिका चित्र खींचा है। इससे स्पष्ट है कि कविके समय मुलतान ध्वस्त नहीं हुआ था। मुहम्मद ग़ोरीकी चढ़ाईसे मुलतानका गौरव सदाके लिए लुप्त हो गया।

२. सन्देशरासकमें विजयनगर और खम्बायतका उल्लेख है। यह विजयनगर या विक्रमपुर अभीतक जैसलमेर रियासतमें है। यह रचना तबकी होगी जब खम्बायत खूब प्रसिद्ध था। चौलुक्य-वंशी सिद्धपाल और कुमारपालके समय खम्बायत कला और श्रीका केन्द्र था। दूर-दूरके व्यापारी यहाँ आते थे। १२वीं या १३वींसे खम्बायतका पतन होने लगा था।

३. कविकी रचना मध्यमवर्गके पाठकोंकी है। अतः उसमे भाषाकी शिथिलता है। यह अपभ्रंशका ह्रास-युग था। १२३० ईस्वीमें हेमचन्द्रका निधन हो चुका था। अतः यह कवि १२वीं और १३वींके बीचमें हुए। इस समय तक खम्बायत समृद्धिकी चरम सीमापर था। बादमें ग़ोरीने मुलतानको मिट्टीमें मिला दिया।

कविको प्राकृतका अच्छा ज्ञान था। उन्होंने मध्यवर्गीय पाठकोंके लिए यह रचना की है। वे शायद 'मुक्तक शृंगार' ज्यादा पसन्द करते थे। यदि सन्देशरासकमें वियोगिनी और पथिककी सूत्रकथा हटा दी जाये तो यह मुक्तकका आनन्द भी दे सकता है, कविके भाव और उद्‌गार स्वाभाविक हो सकते हैं। पर उनकी अभिव्यक्तिका ढंग शास्त्रीय है। मैं मुनिजीकी इस बातसे सहमत नहीं हूँ 'कि कवि स्वाभाविक भावोंके सीधे-साधे शब्दोंमें विविध चित्र देता है।' (सं० रा० पृ० ७)

कवि रहमानका महत्त्व यह है कि वह सन्धिकालमें उत्पन्न हुए। इसलिए उनके काव्यमें कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रह गयीं। दूसरे वह मुसलमान होकर भी अपभ्रंश लेखक हैं। यह इस बातका सबूत है कि इस युग तक मुसलमान इस देशकी भाषासे परिचित ही नहीं थे, उसमें काव्य-रचना भी करते थे। तीसरे उनके काव्य-उपादान भी भारतीय हैं। उनके रासकमें लोकभावना और साहित्यिकताका मेल है। प्रकृतिचित्रणमें

उद्दीपन है। पर स्वच्छन्द उक्तियाँ और ऋतु-उत्सवोंका भी मेल है। जायसी और घनानन्दमें इनकी कुछ बातोंका साम्य पाया जाता है। पर इनमें प्रेमका विरह है, विषमता नहीं। इनके बाद खुसरो १४वीं सदी प्रथम चरणके अन्तमें हुए।

७. जिनदत्त सूरि (वि० सं० ११३२)

यह एक युगप्रधान जैनाचार्य थे। वि० सं० ११३२ में इनका जन्म हुआ। कहा जाता है कि एक बार श्री जिनेश्वर सूरि धर्मदेव उपाध्यायके साथ 'धवलक'में चातुर्मासके लिए आये। वहाँ बच्छिग नामके श्रावककी धर्मपत्नी वाहडदेवी अपने पुत्रके साथ धर्म सुनने जाती थी। बालकके असाधारण लक्षण देखकर, एक साध्वीने गुरुजीके लिए उसे माँगा। माँने दे दिया। धर्मदेवने नौ वर्षकी अवस्थामें उसे दीक्षा दे दी। अब उसका नाम सोमचन्द रखा गया। सोममें अद्भुत प्रतिभा थी। गुरु लोग भी उससे प्रश्न करनेमें डरते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रशंसा सब ओर फैलने लगी। इतनेमें तत्कालीन युगगुरु जिनवल्लभसूरिका निधन होनेपर उनके उत्तराधिकारीका प्रश्न उठा। कितने ही साधु इस पदके उम्मीदवार थे। पर आचार्य देवभद्रके प्रयत्नसे सोमचन्दको इस पदपर बैठाया गया। जिनदत्तसूरि यही थे।

सूरिजीका व्यवहार बहुत उदार था। विहार उन्होंने खूब किया। एक बार उन्होंने अजमेरके अर्णोराजसे भी भेंट की थी। चैत्योंमें इन्होंने सुधारवादी आन्दोलन चलाया। चर्चरी ग्रन्थ इन्होंने बागड़ देशमें लिखा था। कहा जाता है कि इन्हें परकायप्रवेश विद्या सिद्ध थी। वि० सं० १२११में अजमेरमें अनशनके बाद इन्होंने शरीर त्याग किया। उनके कुल तीन ग्रन्थ हैं – चर्चरी, उपदेश-रसायन-रास और कालस्वरूपकुलकम्। इनके ५-६ प्राकृत ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। साहित्यिक दृष्टिसे सूरिजीका जो महत्त्व है वह यह कि इन्होंने उस समयके लोकप्रचलित काव्य रूपके आधारपर अपने धार्मिक काव्योंकी रचना की। इस तरह साहित्यकी बानगी धर्ममें सुरक्षित रहकर बच गयी।

८. जोइन्दु (६ठी सदी अनुमानित)

ये शान्त उदार और शुद्ध अध्यात्म कवि थे। कविने स्वयं अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा। अन्य स्रोतोंसे उनके बारेमें जो जानकारी

मिलती है, उसका विस्तारसे विचार कर डॉ० आ० ने० उपाध्ये यह निष्कर्ष निकालते हैं –

१. श्रुतसागरने (१६वीं सदी) परमात्मप्रकाशके कुछ दोहे उद्धृत किये हैं।

२. १४वीं और १२वीं सदीमें बालचन्द और ब्रह्मदेवने क्रमशः कन्नड़ और संस्कृतमें परमात्मप्रकाशपर टीका लिखी।

३. १२वींके उत्तरार्धमें जयसेनने आ० कुन्दकुन्दके समयसारकी टीकामें परमात्मप्रकाशका एक दोहा उद्धृत किया है।

४. हेमचन्द्रने रामसिंहके कुछ दोहे उद्धृत किये हैं, और रामसिंहने जोइन्दुसे।

५. चण्डके प्राकृत लक्षणमें इनका 'कालु लहेप्पिणु जिम-जिम मोह गलेइ' इत्यादि दोहा उद्धृत है।

अतः यह सिद्ध है कि जोइन्दु चण्डके पहले हुए; पर चण्डका समय अनिश्चित है। उनका ग्रन्थ भी अव्यवस्थित है। प्राकृत लक्षणके सम्पादक हर्नले उसे ई० पू० का मानते हैं। जब कि गुणे छठीसे अधिक पुराना नहीं मानते हैं। परन्तु प्राकृतलक्षणका व्यवस्थित रूप सातवींमें हुआ। निश्चित ही कवि चण्डसे पहले हुआ। जोइन्दुने अपनी कृतियोंमें आ० कुन्द-कुन्द और पूज्यपादके विचारोंका उपयोग किया है। कुन्दकुन्दका समय ई० की प्रथम सदी है, जब कि पूज्यपादका ५वीं सदी है। अतः इन तथ्योंको ध्यानमें रखकर यह कहा जा सकता है कि जोइन्दु पूज्यपाद और चण्डके बीच छठी सदीमें हुए।

परम्परासे इनके नामपर कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं, पर वास्तवमें इनकी रचनाएँ परमात्मप्रकाश और योगसार ही हैं। (पर० प्र० प्रस्तावना १०८) जोइन्दु अध्यात्मवादी थे, कवि नहीं। अतः उनकी कृतियोंमें आत्मानुभूतिका रस है। ग्रन्थके अन्तमें उन्होंने कलाकी छान-बीन करनेवालोंको इस विषयमें चेता भी दिया है। लोकभाषामें शुद्ध अध्यात्म-विचार व्यक्त करनेवाली दोहा शैलीका यह प्रथम नमूना है। अन्यत्र हम यह दिखा चुके हैं कि इस क्रान्तिमूलक विचारधाराका क्या कारण था। आ० शंकरके वेदान्तके पूर्वकी अध्यात्मधारा कैसी थी, इसका यह अच्छा निदर्शन है। उनके प्रभावका पता इसीसे चल जाता है कि उनके ग्रन्थों-पर कई टीकाएँ लिखी गयीं। अध्यात्म विचारोंमें वह वेदान्तियोंके निकट

हैं, बाह्य आडम्बरके विरोधी हैं। पारिभाषिक शब्दोंका यह अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं।

९. रामसिंह (११वीं सदी अनुमानित)

रामसिंह भी जोइन्दुकी परम्परामें हुए। इनकी एक मात्र रचना दोहा पाहुड़ है। डॉ० हीरालालने सप्रमाण यह बताया है कि इनपर जोइन्दुका प्रभाव है। वह इन्हें देवसेन और आ० हेमचन्द्रका मध्यवर्ती मानते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है जब यह सिद्ध हो जाये कि देवसेन ही सावय धम्म दोहाके कर्ता हैं, और पाहुड दोहाके कथित दोहे (३०, १२०) उसीसे लिये गये हैं। यह निश्चित है कि ये आचार्य हेमचन्द्रके पहले हुए। और एक भावुक तथा उग्र अध्यात्मवादी थे, शैव और तान्त्रिक पारिभाषिक शब्दोंका खुलकर इन्होंने प्रयोग किया है। रूढ़ियोंके कटु आलोचक हैं। कभी-कभी उनका स्वर सिद्ध कवियोंसे भी मिलने लगता है। अतः भाषा-शैलीके आधारपर हम इन्हें १०वीं के आसपासका मान सकते हैं।

१०. लक्ष्मीचन्द या देवसेन (१०वीं सदी अनुमानित)

सावय धम्म दोहाका असली लेखक कौन है यह अबतक निर्णीत नहीं हो पाया। ग्रन्थके मूल अंशमें कहीं भी लेखकका नाम नहीं है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियोंकी समाप्तिसूचक पंक्तियोंमें तीन भिन्न-भिन्न लेखकोंके नाम मिलते हैं। लक्ष्मीचन्द, जोइन्दु और देवसेन। डॉ० हीरालाल देवसेनको लेखक मानते हैं, जब कि डॉ० उपाध्ये लक्ष्मीचन्दको। इस सम्बन्धमें मूल अवतरण इस प्रकार हैं—

१. प, भ, भ प्रति में लक्ष्मीचन्दको रचयिता कहा गया है। श्रुतसागरने षट् प्राभृतकी टीकामें सावय धम्म दोहा के दो दोहे लक्ष्मीचन्द-के नामसे उद्धृत किये हैं।

२. भ प्रतिके एक अन्तिम दोहेमें जोइन्दुको लेखक, लक्ष्मीचन्दको पंजिकाकार तथा प्रभाचन्दको वृत्तिकार माना गया है।

३. प प्रतिमें यह उल्लेख है कि यह पं० लक्ष्मणके पठनार्थ बनाया गया।

इसपर डॉ० हीरालाल जैनके निम्न तर्क हैं—

१. लक्ष्मीचन्द दीक्षाके पहलेका नाम है, यह उनके स्वाध्यायके लिए लिखा गया है। टीकाकारोंने लक्ष्मीचन्दार्थ विरचितकी जगह भूलसे लक्ष्मीचन्द विरचित लिख दिया।

२. क प्रतिके अन्तमें 'देवसेने उवदिट्ठ' लिखा मिलता है। यह एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैन ग्रन्थलेखक हैं।

परन्तु डॉ० उपाध्ये अपने मतके समर्थनमें यह तर्क देते हैं—

१. प, भ और भ तीनों प्रतियाँ लक्ष्मीचन्दको लेखक बताती हैं।

२. लक्ष्मण और लक्ष्मीचन्द दो अलग व्यक्ति हैं। उसमें साफ़ लिखा है—'इति उपासकाचारे आचार्यश्रीलक्ष्मीचन्दविरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि', अतः पाठ सुधारका सुझाव ग़लत है।

४. यह आवश्यक नहीं है कि किसी लेखकका दूसरा ग्रन्थ भी होना चाहिए इसलिए यही उसके लेखक हैं।

इसके विरुद्ध डॉ० उपाध्ये देवसेनको कर्ता नहीं मानते।

१. क प्रति विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि उसमें श्लोकसंख्या अधिक है।

२. देवसेन अपने ग्रन्थके अन्तमें नाम देते हैं, इसमें नहीं है।

३. भावसंग्रह और सावय धम्म दोहाकी शैलीगत विशेषता अधिक महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि परम्परागत साहित्यमें ऐसा प्रायः होता है।

अतः लक्ष्मीचन्दके विरुद्ध डॉ० हीरालाल जैनकी विप्रतिपत्ति उचित नहीं है। और सिद्ध नहीं हो सका कि 'देवसेन इसके कर्ता हैं, अतः प्राप्त प्रमाणोंके आधारपर लक्ष्मीचन्द ही इसके कर्ता ठहरते हैं।

मेरे विचारसे टीका और प्रतियोंकी बातोंपर कुछ भी सिद्ध करना संदिग्ध ही रहेगा। यदि उक्त अवतरणोंपर ही निर्णय करना हो तो लक्ष्मीचन्दको ही कर्ता मानना चाहिए। जोइन्दुको इस ग्रन्थका कर्ता न माननेमें दोनों विद्वानोंने जो तर्क दिये हैं, उन्हें यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि दोनों इसमें एकमत हैं। लक्ष्मीचन्दके जीवन और साहित्यकी गति-विधिके विषयमें जाननेका कोई सूत्र हमें नहीं मिलता, पर यह निश्चित है कि यह रचना १०वीं सदीके आस-पासकी है। शैलीगत विशेषताओंकी चरचा अन्यत्र की है।

११. लुई या सिद्ध कवि

ये राढ़ देशके थे। इन्हें आदि सिद्धाचार्य भी कहा जाता है। म० म० हरप्रसाद इनको बंगाली मानते हैं। संस्कृतमें इनकी चार पुस्तकें हैं। उनके मतके अनुसार बुद्धि ज्ञान लाभ करनेके लिए है। तत्त्वस्वभाव दोहाकोष गीतिका दृष्टि इनकी अपभ्रंश रचना है। परन्तु यह प्राप्त

नहीं है। लुई पाद गीतिकामें इनके पदोंका संग्रह है। पर इसके दो ही पद मिले हैं।

१२. किलपाद

यह लुईके एक वंशधर थे। यह आचार्य और सिद्ध थे। इनकी रचना दोहाचर्या गीतिका दृष्टि है, पर अनुपलब्ध है।

१३. दीपंकर श्री ज्ञान

इनको म० म० हरप्रसाद बंगाली मानते हैं। दो जगह इनका भूटिया नाम अतिण दिया हुआ है। कई जगह भारतवासी भी कहा गया है। अतः म० म० हरप्रसाद, इस नामके दो व्यक्तियोंकी कल्पना करते हैं। एक-बीर साधन और बलविधि ये दो पुस्तकें इनकी लिखी मानी जाती हैं।

१४. भुसुकु

तारानाथ इनका घर सौराष्ट्रमे मानते हैं। पर यह बहुत समय तक मगध और नालन्दामें रहे। मंजुवज्रने इन्हें उपदेश दिया। बौद्ध चर्या-वतारके कर्त्ता और इनके जीवनलेखकने शान्तिदेवको ही भुसुक या राउत कहा है। हरप्रसादजी इन्हें पूर्वदेशका मानते हैं। शान्तिदेव एक और हैं। इन्होंने तन्त्रपर दो पुस्तकें लिखीं। उनमें सहजगीत उल्लेखनीय है।

१५. कृष्णाचार्य

ये कृष्णवज्र या कान्हपाद भी कहलाते हैं। इनके नामपर तिरपन पुस्तकें मिलती हैं। अपभ्रंशमे दोहा कोष और कान्हपाद गीतिका है। स्थान और समयके बारेमे मतभेद है। यह भी सन्दिग्ध है कि इनकी कितनी कृतियाँ थीं।

१६. धर्मपाद

धर्मपादका दूसरा नाम गुंडरीपाद भी है। इनके गानोंके कुल दो पद मिलते हैं। अधिक शब्द उनमें तद्भव हैं।

१७. टेंटया

भूटिया भाषामें इसका उच्चारण धेंतन होता है। इनका एक ही गीत मिला है। म० म० हरप्रसादने उक्त पदमें २४ पुरानी और १३ नयी

बंगलाके शब्द माने हैं। प्राय: सभी सिद्ध कवियों और उनकी भाषाको ये बंगाली कहते हैं।

१८. महीधर

महीधरका भी एक पद मिला है। सरहको सरोराह वज्र भी कहते हैं। इनके कई दोहाकोष और गीतिका हैं। जैसे दोहा कोष गीति, दोहाकोष चर्या गीति, दोहाकोष उपदेश गीति, तत्त्वोपदेश शिखर दोहा गीति।

१९. कम्बलाम्बर पाद

इनका दूसरा नाम शुद्धकम्बल भी मिलता है। अपनी प्रज्ञापारमिता उपदेश नामकी पुस्तकमें इन्होंने हेरूक भगवान्‌की उपासनाका क्रम लिखा है, तथा इसी तरह कंकणकी चर्या दोहा कोण गीतिका और विरूवकी विरूपगीतिका, विरूप पद चतुरशीति, कर्मचण्डालिका दोहा कोण गीति, विरूप वज्र गीतिका प्रसिद्ध हैं। 'शान्ति'के नामके कुल दो पद उपलब्ध हैं। इस नामका उल्लेख, म० म० हरप्रसादको कई जगह मिला है। अत: यह कहना कठिन है कि यह कहाँके रहनेवाले थे। सब्बकपादने संस्कृतमें कई पुस्तकें लिखी हैं। यह वज्रयोगिनीकी उपासना करते थे। आर्यदेवका कुल एक गान मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध लेखक आर्यदेवसे यह भिन्न हैं। कानेरी या वैरागीनाथके नामसे इनके गीत कंकालिनी प्रभृति देव देवियोंपर कई पुस्तकें लिखी हैं। जयनन्दीका भी एक गान मिलता है। डोम्बी, हेरुक नामके मगधके राजा थे। वह विरक्त हो गये। इनका एक गान मिलता है। भादेपाद और वीणापादका भी एक-एक ही गान मिलता है। मैत्रीपादकी गुरु मैत्रीगीतिका गुरु भट्टारक धृष्टिज्ञानकी वज्रगीतिका और गीतिका मिलती हैं। मातृचेटकी मात्रचेटिका उपलब्ध है। नाण्ड पण्डित भूटिया देशमें नारो कहलाते हैं। यह हेरूक या हेवज्रके उपासक थे। वज्रगीतिका और नागपण्डित गीतिका इनके दो ग्रन्थ हैं। कुक्करीपाद महामायाके उपासक थे। इनके दो गान मिलते हैं। अद्वयवज्रके मुख्य ग्रन्थ हैं—दोहाकोष, हृदय अर्थ गीता टीका, चतुरवज्रगीतिका, अद्वय वज्र बौद्ध संकीर्तन आदि; पर पद नहीं मिले। लीलापादने बौद्धकीर्तन पदावलि लिखी। स्थगणने दोहाकोष तत्त्व गीतिका लिखी है। महासुखता वज्रकी महसुखता गीतिका प्रसिद्ध है। 'नागार्जुन गुहा' दार्शनिक नागार्जुनसे भिन्न हैं। इनकी नागार्जुन गीतिका मिलती है।

अपभ्रंश काव्य

अभीतक जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें गद्य और दृश्य-काव्योंका अभाव है। समूचा साहित्य पाठ्य काव्यके अन्तर्गत है। उसके मुख्य भेद तीन हो सकते हैं—प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य। जो प्रबन्ध-काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे मुख्य रूपसे कथा-काव्य हैं। उनमें कथा और काव्यका अद्‌भुत मिश्रण है। इस काव्यधाराके भी दो भेद हैं—पुराण-काव्य और चरित-काव्य। चरित-काव्यके दो रूप हैं—एक शुद्ध या धार्मिक चरित-काव्य और दूसरा रोमाण्टिक। आगे इन सबकी विशेषताओं को परखनेका अवसर मिलेगा। खण्ड-काव्यकी रचनाएँ अधिक नहीं हैं, अतः उनके विभाजनका प्रश्न नहीं उठता। मुक्तक काव्यके दो भेद हैं—गीत-काव्य और दोहा-काव्य। विषय और शैलीकी दृष्टिसे इनके अवान्तर भेदोंका विचार बादमें किया जायेगा।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्यको कथा-काव्य कहना अधिक संगत है, क्योंकि उसमें कथाकी ही मुख्यता है। कथा चाहे पौराणिक हो या काल्पनिक। डॉ० कोचड़ने अपने 'प्रबन्ध'में इस काव्यका जो विभाजन दिया है, वह कई दृष्टियोंसे समर्थनीय नहीं माना जा सकता। एक तो वे पुराण-काव्य और चरित-काव्यमें भेद नहीं करते, दूसरे कई चरित-काव्यों-को उन्होंने खण्ड-काव्यमें गिना दिया है। तीसरे कीर्तिलता और पृथ्वीराज रासोको जो अवहट्टभाषाकी रचनाएँ है, अपभ्रंशकी सीमामें ले लिया है। अपने प्रबन्धमें उन्होंने १६वीं सदी तक अपभ्रंशाभास रचनाओंपर भी विचार किया है। मेरे विचारमें १२वीं सदीके बादकी अपभ्रंश रचनाएँ, विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखतीं और न वे युगका प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः उक्त विभाजन ही ठीक है। यह बात अवश्य है कि अपभ्रंश कथा-काव्यके वस्तुतत्त्वके विकास और अलंकरणकी कुछ अपनी विशेषताएँ है। ये सभी कथा-काव्योंमें समान रूपसे उपलब्ध हैं। दूसरी बातोंके विचारसे, इन कथा-काव्योंमें भेद है। अपभ्रंश कथा-काव्यके निर्माता एक विशेष युग और दृष्टिसे प्रभावित थे। कथा कहकर कुतूहल जगाना या मात्र मनोविनोद करना उनका लक्ष्य नहीं था। वे ऐसे कथा-साहित्यकी रचना करना चाहते थे, जिससे काव्य-कलाके विधान और

उद्देश्यकी पूर्तिके साथ नैतिकता और धार्मिक उद्देश भी प्रतिफलित हो जाये। इन कवियोंके लक्ष्यको संकीर्ण मानते हुए भी यह कहना पड़ता है कि कोरे साहित्यकारों या धर्मवादियोंकी अपेक्षा इनका दृष्टिकोण कुछ उदार और लोक-कल्याणकारी था। इनमें अधिकांश रचनाएँ जैन ही हैं। कथा-साहित्यकी यह विरासत इन्हें परम्परासे तो प्राप्त थी। इसमें प्रयुक्त कथाओंके सूत्र भारतीय पुराणोंसे मिलते-जुलते हैं। परन्तु कई उपादान पूर्व वैदिक युगके भी हैं। डॉक्टर विण्टरनिट्ज़के शब्दोंमें "जैन साहित्य-का पूर्व वैदिक साहित्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस साहित्यके कुछ अंश महाभारत दसवें खण्डके २६९, ३६४ पर्वोमें मिलते हैं।" उनकी धारणा है कि बौद्ध, जैन और वैदिक साहित्यमें कुछ संवाद और छन्द एक-से हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका सम्बन्ध पूर्व वैदिक धारासे होना चाहिए। (विण्टर० पृ० ७) प्रो० हर्टरने जैनकथा-साहित्यके रूप इस प्रकार निर्धा-रित किये हैं—१. धार्मिक आलोचनामें मिलनेवाली कहानियाँ, २. धार्मिक आख्यान, ३. चरित-काव्य, ४. पौराणिक कहानियाँ (राम-कृष्ण आदि), ५. प्रबन्ध कहानियाँ (साधु-साध्वियोंका जीवनचरित), ६. कथाकाव्य (विण्टर० पृ० १०)। आलोच्य साहित्यमें संख्या ४ और ६ के ढंगका साहित्य है। जान पड़ता है कि हर्टर साहबका यह विभाजन प्राकृत और संस्कृत पुस्तकोंपर अवलम्बित था।

प्रबन्ध-काव्यके भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रबन्ध-काव्य दो प्रकारका है — पुराण और चरित-काव्य। जैसे कवि पुष्पदन्तका महापुराण पुराण है पर स्वयंभूका पउम चरिउ पुराणकी अपेक्षा चरित-काव्य अधिक है। जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, ये सब इसी परम्परामें हैं। यद्यपि भविसयत्त कहाका नाम कथा है, चरित नहीं, तो भी आगे चलकर हम देखेंगे कि वह चरित-काव्यके अधिक निकट है। हाँ उसमें कल्पना और प्रसंगकी नवीन उद्भावना अवश्य है। प्रकीर्णकमें हमने इस बातका विचार किया है कि आख्यायिका चरित और कथामें विशेष अन्तर नहीं था। इन काव्योंमें अपने युगके प्रभावके अतिरिक्त, नयी-नयी काव्य शैलियाँ और उद्भावनाओंका समावेश भी है। परन्तु कथानककी विकास-शैली, कथारूढ़ियों तथा अन्य विशेषताओंको हृदयंगम करनेके लिए, वस्तु तत्त्वकी संक्षिप्त जानकारी बहुत आवश्यक है। इस बातको

ध्यानमें रखकर, नीचे हम मूल इतिवृत्तका स्थूल विवरण दे रहे हैं। उसके साथ केवल उन्हीं अवान्तर कथाओंका उल्लेख किया गया है, जो कथा विकासके नये मोड़की सूचक हैं। अलंकृत वर्णन, पौराणिक तत्त्वोंका प्रतिपादन, लम्बे-चौड़े उपदेश इत्यादि अंगोंका विवरण एक अन्य प्रसंगमें दिया ही गया है।

महापुराण

कवि पुष्पदन्तकी यह रचना कुल मिलाकर १०२ परिच्छेदोंमें समाप्त हुई है।[1] इसमें एक मुख्य कथा घटना या पात्र न होकर, अनेक कथाएँ, चरित्र और घटनाएँ हैं। यह कहना कठिन है कि इनका मुख्य आधार क्या है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः इनमें कविने पुरानी अनुश्रुतियों और अतीतकी घटनाओंको साम्प्रदायिक रंग देकर, काव्यात्मक रूपमें ढाला है। इसमें यदि कविकी अनुभूति, कल्पना और साहित्यिक वर्णन न हो तो यह कोरे तथ्योंका नीरस विवरण-भर रह जाये। कविने कथावस्तु अपने पूर्ववर्ती संस्कृत जैन पुराणोंसे ली है। इसमें मुख्य रूपसे त्रेसठ श्रेष्ठ पुरुषों (शलाकापुरुषों) का वर्णन है। जैन परम्पराके अनुसार महापुराण उसे कहते हैं जिसमें सभी तीर्थंकर, बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासुदेवका वर्णन हो। संस्कृतमें आ० जिनसेनका महापुराण प्रसिद्ध है। यह पुष्पदन्तके पहले हुए। प्रारम्भके सैंतीस परिच्छेदोंमें मुख्य रूपसे आदि तीर्थंकर रिसभका जीवन अंकित है। शेष परिच्छेदोंमें तेईस तीर्थंकर और उनके तीर्थकालमें होनेवाले बलभद्र आदिका वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि आदिनाथका जितना विस्तृत वर्णन है उतना दूसरोंका नहीं। बाक़ीको प्रायः एक-एक ही परिच्छेदमें वर्णित कर दिया है। राम और कृष्ण इसके अपवाद हैं। इनके वर्णनमें एकसे अधिक परिच्छेद रचनेमें मुख्य कारण इनकी लोकप्रसिद्धि ही है। एक वाल्मीकि रामायणका मुख्य पात्र है, तो दूसरा महाभारतका। हिन्दुओंके धार्मिक विश्वासमें वे विष्णुके अवतार भी हैं। अतः उनके चरितके विस्तारकी आवश्यकता थी। जैन मान्यताके अनुसार ये दोनों महापुरुष क्रमशः मुनिसुव्रत और नेमिनाथ तीर्थंकरोंके तीर्थकालमें हुए। संक्षेपमें महापुराणकी वस्तुकथा इस प्रकार है—

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें मगध देश था। उसमें राजा श्रेणिक राज्य

---

१. माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला-द्वारा तीन भागोंमें प्रकाशित।

करता था। एक दिन वनपालने आकर विपुलाचलपर तीर्थंकर महावीरके समवशरणके आनेकी खबर दी। राजा सपरिवार वहाँ गया और वन्दना भक्तिके बाद उसने पुराण-पुरुषोंके विषयमें पूछा। गौतम गणधरने जो कुछ कहा उसका सार यह है—कई कुलकरोंके हो चुकनेपर, विश्व सभ्यताके उस आदियुगमें नाभिराय नामका चौदहवाँ कुलकर उत्पन्न हुआ। उसका युग संक्रमणका युग था, क्योंकि भोगभूमिकी समाप्तिके बाद कर्मभूमिका प्रारम्भ हो रहा था। उसकी पत्नीका नाम मरुदेवी था। एक रात उसने सोलह सपने देखे। उसने इनका फल राजासे पूछा, उसने बताया कि तुम्हारे यशस्वी और प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा। रिसभ जिनके गर्भमें आनेसे छह माह पहले ही रत्नोंकी वर्षा होने लगी। इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अयोध्या नगरीकी नयी रचना प्रारम्भ कर दी। स्वर्गसे देवियाँ जिनदेवकी माताकी सेवा करने आयीं। निश्चित समयपर रिसभ-का जन्म होते ही देवलोकमें खलबली मच गयी। सभी निकायोंके देव अपने-अपने विमानोंमें बैठकर अयोध्याकी ओर चल पड़े। इन्द्र सदल-बल शिशु जिनको सुमेरु पर्वतपर ले गया। वहाँ पाण्डुकशिलापर उनका अभिषेक किया गया। देवोंने भक्तिमें खूब नाच-गान किया। बादमें माताको बालक सौंपकर इन्द्र देवलोक चला गया। जिन दिन-दूने रात चौगुने बढ़ने लगे। देवकुमारोंके साथ क्रीड़ा करने लगे। चूडाकर्मके बाद उनकी शिक्षा-दीक्षा घरपर ही हुई। वैसे उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं थी। सयाने होने पर पिताने विवाहका अनुरोध किया। पहले इन्होंने बन्धनमें न पड़नेकी इच्छा प्रकट की, पर पिताके विशेष अनुरोधपर उनके दो विवाह हुए। यशोवती और सुनन्दा दोनों रानियाँ सुन्दर थीं। समय बीतने पर यशोवतीके सौ पुत्र हुए। उनमें भरत सबसे बड़ा और प्रतापी था। एक लड़की ब्राह्मी भी हुई। सुनन्दाकी दो ही सन्तानें थीं—बाहुबलि और सुन्दरी। सन्तानकी शिक्षा-दीक्षाका भार स्वयं रिसभको सम्हालना पड़ा। कला और विद्याके अतिरिक्त राजनीतिका उपदेश भी उन्होंने विस्तारसे किया। लड़कियोंको ललित कलाओं और विविध भाषा साहित्यकी विशेष शिक्षा उन्होंने दी।

एक बार भयंकर अकाल फैलने पर प्रजा पीड़ित हो उठी। कल्पयुग का यह अन्त था और कर्मयुगका प्रारम्भ। रिसभ जिनको युद्ध, शिल्प और खेती वग़ैरहमें स्वयं जनताको शिक्षित करना पड़ा। राज्याभिषेक होनेके

बाद उन्होंने जनतामें सुशासनकी स्थापनाके साथ अपने राज्यका विस्तार किया। इस तरह काफ़ी समय बीतनेपर इन्द्रने सोचा कि अब आदि-जिनके वैराग्यका कोई कारण ढूंढ़ना चाहिए, नहीं तो संसारका कल्याण कैसे होगा। उसने सिखा-पढ़ाकर अप्सरा नीलांजनाको अयोध्या भेजा। वहाँ जाकर उसने रंगशालामें अपना अभिनय प्रारम्भ किया। इस नाचसे भरे गीत-नृत्यकी बारीकियोंसे पूर्ण उसके प्रदर्शनको देखकर दर्शक मुग्ध हो उठे। किन्तु अकस्मात् वह नर्तकी अचेत होकर धरतीपर गिर पड़ी। लोगोंने देखा कि उसके प्राण जा चुके हैं। उत्सवका रंग फीका पड़ गया। जनता उदास थी। यह सब घटना देखकर रिसभको संसारकी क्षणभंगु-रताका भान हो आया। उन्होंने दीक्षा लेनेका संकल्प कर लिया। इसका पता होते ही देवता दौड़े आये। धूम-धामके बीच रिसभने दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ दूसरे राजा और सामन्त भी दीक्षित हुए। वर्ष-भर वह एकासन तपमें लीन रहे; परन्तु उनके साथी डिग गये। उन्होंने अण्टसण्ट बातें शुरू कर दीं। जब वह तपमें रत थे तभी नमि और विनमि दो राजकुमार (कच्छ और महाकच्छके पुत्र) आकर उनसे धरती माँगने लगे। उनके हाथोंमें नंगी तलवारें थीं। उत्तर न पाकर वे बड़बड़ाने लगे। तब धरणेन्द्रने आकर उन्हें समझाया और विजयार्ध श्रेणीमें भूमि देकर सन्तुष्ट किया।

एक वर्ष बाद रिसभ आहारके लिए निकले। जनता आहारकी विधिसे अज्ञात थी, इसलिए तरह-तरहके उपहार लेकर दौड़ी। रिसभका इनसे कोई प्रयोजन नहीं था। अन्तमें हस्तिनापुरमें राजा श्रेणिकने विनय-पूर्वक ईखके रसका आहार उनको दिया। उस पुण्य वेलामें देवोंने रत्न बरसाये। राजाने खूब दान किया। तबसे इस दिनका नाम अक्षयतृतीया पड़ गया। विहार करते हुए वे पुरिमताल नगर पहुँचे और एक उपवन-में ठहर गये। वहीं उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। अब वह पूर्ण मुक्त थे। इन्द्रके नेतृत्वमें देवता लोग आये। कुबेरने समवशरणकी रचना की। सबने भगवान्‌की भक्तिमें गीत गाये, नृत्य किये। सारे संसारमें आनन्दकी वर्षा हो रही थी। सृष्टि, कालचक्र आदिका स्वरूप विस्तारसे बतानेके बाद रिसभ-देवने जिनधर्मका उपदेश किया। लोगोंने तरह-तरहके व्रत ग्रहण किये।

इधर शरद्‌के आनेपर भरतने अपनी दिग्विजय शुरू की। पहले वह गंगा पार कर पूर्वकी ओर गया। वहाँ उसे जंगली जातियाँ भी मिलीं।

उन सबको जीतकर वह दक्षिणकी ओर गया। वहाँके नरेशोंने निर्विरोध इसकी अधीनता मान ली। तब वह पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ा। सिन्धु नद लाँघकर वहाँके राज्य जीत लिये। रिसभ जिनकी वन्दनाके लिए उसने कैलास पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। रास्तेमें हिमवान् पर्वतके राजाको उसे जीतना पड़ा। आगे बढ़नेपर उसे एक गुहाद्वार मिला। वहाँ एक स्थान-पर अनेक विश्वविजेता मृत राजाओंके नाम अंकित थे। उन नामोंको पढ़-कर भरतका अपनी भौतिक विजयका घमण्ड पानी-पानी हो गया। इतनेमें गंगा नदीने मूर्त रूप धारण कर भरतकी स्तुति की। उपहार भी दिये। भगवान्की भक्ति और वन्दनाके बाद भरत अयोध्या लौट आया।

भरतके आनेकी खबरसे साकेतमें स्वागतकी तैयारी होने लगी। पहले उसने अपने स्कन्धावारमें विश्राम किया। फिर वह नगरमें प्रवेश करने लगा; परन्तु उसका चक्ररत्न वहीं अड़कर रह गया। मन्त्रियोंसे उसने इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा कि जबतक आपका अनुज बाहुबलि अजेय है, यह चक्र भीतर नहीं जा सकता। भरतने बाहुबलिके पास दूत भेजे। परन्तु उस वीरने अधीनताका यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। दोनों भाइयोंमें युद्धकी तैयारी होने लगी। दूसरे दिन रणभेरी बजते ही सेनाएँ आपसमें टकरा गयी। योधा बढ़-चढ़कर बातें करने लगे। वीर धराशायी होने लगे। रक्तकी धारा बह चली। यह व्यर्थ नरसंहार और विनाश देखकर मन्त्रियोंने दोनों भाइयोंसे द्वन्द्व-युद्धके द्वारा हार-जीतके निर्णयका अनुरोध किया। यह बात दोनोंने मान ली। जल-युद्ध, दृष्टि-युद्ध और मल्ल-युद्धमें जब भरत अपने छोटे भाईसे हार गया तो उसने उसपर अपना चक्र चला दिया। वह चक्र बाहुबलिके दायें हाथमें जाकर थम गया। भरतका सिर मारे लज्जाके नत हो गया; पर बाहुबलिको इस घटनासे घोर वेदना हुई। वह अपने किये पर पछताने लगे। भाईसे क्षमा माँगकर उन्होंने दीक्षा लेनेका संकल्प कर लिया। वह तप साधने वनमें चले गये। भरत भी राज्य करने लगा। एक दिन वह रिसभकी वन्दनाके लिए कैलास पर्वतपर गया। वन्दनाके बाद उसने पूछा, 'भगवन्, अभीतक बाहुबलिको सिद्धि क्यों नहीं मिली।' रिसभने उत्तर दिया, 'क्योंकि उसके मनमें अभी-तक अहंकार है कि मैं भरतकी धरतीपर तप कर रहा हूँ।' यह सुनकर भरत भाईके पास दौड़ा गया और उसके चरणोंपर गिरकर बोला, 'यह सारी धरती तुम्हारी है।' ठीक इसी समय बाहुबलिको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। देवोंने आकर इसका उत्सव मनाया।

भरत अयोध्या आकर अपना राज-काज देखने लगा। उसने ब्राह्मण नामके नये वर्णकी सृष्टि की। खूब दान-दक्षिणा भी दी। एक रात उसने कुछ बुरे सपने देखे। उनका फल पूछने वह रिसभ जिनके पास गया। रिसभने उसे बताया कि आगे तेईस तीर्थंकर, बलभद्र आदि होंगे। उन्होंने उसके तथा परिवारके दूसरे लोगोंके पूर्वभव भी विस्तारके साथ बताये। धार्मिक मतोंकी आलोचना, धर्मकी परिभाषा वगैरह भी की। उन्होंने यह भी कहा, 'मेरा नाती मारीचि ही आगे चलकर चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।' वहाँसे लौटकर भरतने अयोध्यामें शान्ति-कर्मविधान किया। एक आदर्श राजाकी जो दिनचर्या होनी चाहिए, वही भरतकी थी। उसने एक बार राजाओंकी सभा बुलायी और उसमें राज्यशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्रपर प्रवचन किया। कुछ समयके अनन्तर रिसभ जिनका निर्वाण हो गया। उनके मोक्षकल्याणकमें इन्द्र, भरत आदि सम्मिलित हुए। भरतको अपने पिताके निधनपर दुःख होना स्वाभाविक था। उसने काफ़ी समय राज्य किया। एक दिन अपने सिरके बाल सफ़ेद देखकर वह विरक्त हो उठा। उसने भी संन्यास ले लिया। कपड़े उतारते ही उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी।

रिसभके निर्वाण-लाभके पहले कविने कई प्रमुख चरित्रोंका वर्णन कई सन्धियों (२८–३६) में किया है। उदाहरणके लिए—१. जयदत्त-सुलोचना, २. नागदत्त और सुकेतु, ३. सुलोचना-द्वारा श्रीपालका वर्णन, ४. श्रीपालकी रोमाण्टिक घटनाओंका वर्णन। इनका मुख्य कथासे यही सम्बन्ध है कि ये भी रिसभ जिनकी वन्दना करने जाते हैं या उनसे दीक्षा ग्रहण करते है।

आगेके तैंतालीस परिच्छेदोंमे बीस तीर्थंकरों और उनके समयमे हुए प्रमुख व्यक्तियोंकी जीवन-गाथा अंकित है। साधारणतया एक परिच्छेदमें एक ही जीवनी है। परन्तु महत्त्वपूर्ण चरित्र या अवान्तर कथा होनेपर एकसे अधिक परिच्छेद तक कथा बढ़ गयी है। यहाँपर उन सब घटनाओंका वर्णन अनावश्यक है। क्योंकि उनके चित्रणमें प्रायः एक-सी धार्मिक रूढ़ियोंका पालन है। इस खण्डमें उल्लेखनीय प्रसंग है राम-रावणयुद्ध, परशुराम, राजा सगर, त्रिविष्टप् और हयग्रीवका जीवन। आगे इनके जीवनकी जानकारीका अवसर हमें मिलेगा। फिर रामकथाका उल्लेख यहाँ कई दृष्टियोंसे आवश्यक है। एक तो कविने इसका बारह सन्धियोंमें वर्णन किया है, दूसरे रामकी कथा स्वयंभूकी कथासे भिन्न है। आदि-

काव्यकी रामकथासे तो अन्तर है ही, महापुराणके अनुसार मुनिसुव्रतके समयमें राम-रावणयुद्ध हुआ। पहले कवि राम-लक्ष्मणके पूर्व भवोंका उल्लेख करता है। उसके बाद घटनाक्रम यह है—

काशी देशमें राजा दशरथ थे। उनके पहली पत्नी सुवेलासे राम उत्पन्न हुए और दूसरी रानी कैकेयीसे लक्ष्मण। इन दोनोंकी सहायतासे उन्होंने अयोध्यामें प्रवेश किया। भरत और शत्रुघ्न यहीं जन्मे। चारों पुत्रोंसे उनकी धाक चारों ओर फैल गयी। मिथिलाके राजा जनकने एक यज्ञ करना चाहा; परन्तु उन्हें डर था कि रावण कहीं विघ्न न डाले। इसलिए उसने दशरथके पास सहायताके लिए दूत भेजे। अनेक उपहार देकर दूतोंने कहा कि यदि राम-लक्ष्मण यज्ञकी रक्षा करेंगे तो उन्हें सुन्दर कन्याके साथ राज्य भी मिलेगा। यज्ञके समर्थनमें उसने राजा सगरका उदाहरण दिया। इसी प्रसंगमें नारद, पर्वतक और वसुकी कहानी आ गयी। नारद यज्ञके विरोधी थे। इन सब बातोंसे दशरथकी यज्ञपर-से आस्था उठ गयी। इसी समय पण्डितोंने राम-लक्ष्मणके अतुल वीर होनेकी घोषणा की। पिताकी आज्ञासे दोनों भाई नयी सेनासहित मिथिला गये। उन्होंने वहाँ जाकर जनकको हिंसा न करनेका अनुरोध किया। उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मणोंकी खोटी बातोंमें विश्वास करना ठीक नहीं। जनक उनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सीताका विवाह धूम-धामसे रामके साथ कर दिया। कुछ दिन वे वहीं रहे। फिर दशरथने दूत भेजकर उन्हें साकेत बुलवा लिया। रामको सात कन्याएँ और मिलीं। एक बार वसन्तमें वनक्रीड़ाके लिए वे चित्रकूट गये।

जिस समय अयोध्यामें दशरथका राज्य वृद्धिपर था उसी समय लंकामें रावणका। रावणकी वंश-परम्पराके सम्बन्धमें कहा जाता है कि सार-समुच्चय देशमें नागपुर नगर था। रावणके पुरखे वहींके रहनेवाले थे। एक बार सहस्रग्रीव अपने भाईसे लड़-झगड़कर त्रिकूट पर्वतपर आ बसा था। लंका उसी पर्वतपर बसी हुई है। उसका पोता पुलस्ति, रावणका पिता था। रावणकी पत्नी मन्दोदरी थी। एक बार वह विमान-में बैठकर कहीं जा रहा था। नीचे मणिवती विद्याधरी विद्या सिद्ध कर रही थी। रावणको देखकर वह विचलित हो गयी। उसने यह संकल्प किया कि मैं मरकर इसकी पुत्री होऊँ और इसके सन्तापका कारण बनूँ। ऐसा हुआ भी। वह मरकर रावणकी लड़की हुई। सीता यही थी। ज्योति-षियोंके कहनेपर उसने उसे नदीमें फिकवा दिया। मन्दोदरीको इससे

बुरा लगा। बहती हुई सीता एक किसानके हाथ लगी। उसने वनपालको दे दी, वनपालने राजा जनकको। जनकने उसे पाला-पोसा। रावणको यह सब ज्ञात नहीं था। एक दिन कलहकारी नारद रावणके पास आये। उन्होंने सीताके रूपकी प्रशंसा की। यह सुनकर वह सीतापर मुग्ध हो गया। राम और लक्ष्मणकी अजेय शक्तिको देखकर उसने सीताको उड़ानेका संकल्प किया। पहले उसने अपनी बहन चन्द्रनखाको दूती बनाकर भेजा। जिस समय वह साकेत आयी, उस समय चित्रकूटमें सीता क्रीड़ा कर रही थी। वह बूढ़ी दासी बनकर पहुँची। उसने सीताको फुसलाना चाहा, पर सीताने फटकार दिया। तब रावण पुष्पक विमानमें बैठकर मारीचके साथ वहाँ पहुँचा। मारीच सोनेका मृग बनकर रामके सम्मुख दौड़ने लगा। रामने उसका पीछा किया। इधर रावण रामका रूप धारण कर सीताको उठा ले गया। शिकारसे लौटनेपर जब सीता अपनी जगह नहीं मिली तो राम विह्वल हो उठे। खोजके लिए उन्होंने दूत भेजे। उन्हें एक पेड़पर अटका हुआ सीताके उत्तरीयका टुकड़ा मिला। इससे उन्होंने यह अनुमान कर लिया कि कोई सीताको आकाशमें उड़ा ले गया है। उधर राजा दशरथने सपनेमें यह सब देखा। उन्होंने इसकी सूचना रामके निकट पहुँचा दी। रामने रावणके वधकी प्रतिज्ञा की। मार्गमें उनकी पहचान सुग्रीवसे हो गयी। सुग्रीवने हनुमान्‌से परिचय करवा दिया। वह रामकी अँगूठी लेकर सीताका वृत्त लेने लंका गया।

सीता जबसे लंका आयी थी, तभीसे उसने खाना-पीना छोड़ दिया था। रावण सीताके लिए विकल हो रहा था। मन्दोदरीको यह मालूम हो चुका था कि सीता उसीकी बेटी है। उसने रावणको बहुत समझाया; पर वह नहीं माना। इसी बीच हनुमान्‌ने अँगूठी देते हुए रामका वृत्त सीताको सुनाया। इससे उसे बहुत सान्त्वना मिली।

लौटकर हनुमान्‌ने सब बात रामको बतायी। बहुत सोच-विचार करनेके बाद यह तय हुआ कि एक बार हनुमान् रावणके पास दूत बनकर जाये। वह गया भी। पहले वह विभीषणसे मिला। आगत-स्वागतके बाद उसने कहा, 'रावणकी भलाई इसीमें है कि वह राम-लक्ष्मणके रूठनेके पहले सीताको वापस कर दे।' विभीषण भी भाईकी अनीतिसे असहमत था। उसने जाकर रावणको समझाना चाहा; पर उसने यह 'रण्ड कहानी' सुननेसे भी इनकार कर दिया। निदान, हनुमान्‌को वापस लौट आना पड़ा। इसी बीच, सुग्रीव और बालिके विवादमें बीच-बचाव करनेके

लिए लक्ष्मणको किष्किन्धा जाना पड़ा। उन्होंने राज्य सुग्रीवको दिलवा दिया। वहाँ उन्हें कुछ मन्त्र भी सिद्ध हुए।

सेना इकट्ठी कर राम-लक्ष्मणने लंकापर चढ़ाई कर दी। विभीषण रामसे आ मिला। विद्याके बलसे हनुमान्‌ने लंकामें खूब उत्पात मचाया। रावणने लक्ष्मणपर अपना चक्र छोड़ा; पर वह लक्ष्मणके हाथमें आ गया। उसीसे लक्ष्मणने रावणका अन्त कर दिया। अपने भाईके वधसे विभीषण-को बहुत दुःख हुआ। रानियाँ भी रोयीं। मन्दोदरीने जिनदीक्षा ले ली। सबको समझा-बुझाकर विभीषणको राज्य देकर राम वहाँसे चले आये।

एक पर्वतपर विश्राम कर उन्होंने अपनी विश्व-विजय शुरू की। अयोध्या आनेपर उनका अभिषेक हुआ। शीलगुप्त मुनिसे उन्होंने कुछ ब्रह्म-नियम ग्रहण किये। बहुत समय बाद, लक्ष्मणकी मृत्यु हो गयी। राम उनका शव लेकर दर-दर भटकते फिरे। सीता भी खूब रोयीं। अन्तमें आत्मबोध होनेपर रामने जिनदीक्षा ले ली और तप साधकर मोक्ष प्राप्त किया।

आगेके तेईस परिच्छेदोंमें नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीरका जीवन-वृत्त है। परन्तु इसमें मुख्य वर्णन कृष्ण और कंसका है। ये नेमिके समय-में हुए। संक्षेपमें इसका कथानक यह है : शौरीपुरके राजा शूरसेनकी दो पत्नियाँ थीं—धारिणी और सुकान्ता। पहलीका बेटा अन्धक था और दूसरी-का नरपति। अन्धकवृष्णिका विवाह सुभद्रासे हुआ। उसके दो पुत्र हुए—समुद्रविजय और वसुदेव। नरपतिकी पत्नीसे उग्रसेन आदि कई पुत्र हुए। इसी समय हस्तिनापुरमें राजा हस्तीका पुत्र पाराशर हुआ। उसने सत्य-वतीसे विवाह किया। व्यास उसीका बेटा था। व्यासकी पत्नी सुभद्रासे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर उत्पन्न हुए। ये तीनों एक बार शौरीपुर गये। पाण्डुका प्रेम कुन्तीसे हो गया। विवाहके पहले जो सन्तान हुई, उसे उन्होंने यमुनामें बहा दिया। वह बालक चम्पाके राजाको मिला। बादमें वह कर्ण कहलाया। पाण्डु और कुन्तीसे पाण्डव उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्रका विवाह गान्धारीसे हुआ। दुर्योधन आदि उसीसे उत्पन्न हुए। वसुदेव एक बार घरसे चला गया और बहुत-सी रोमांचकारी घटनाओंके अनन्तर घर लौटा। जरासिन्ध उससे कुछ अप्रसन्न था। उग्रसेनकी पत्नीने कंसको जन्म दिया; पर अमंगल समझकर उसे बहा दिया। किसी तरह वह बच गया। बचपनसे वह साहसी और वीर था। कंसने वसुदेवकी सहायतासे पोदनपुर-नरेशको जीत लिया। इसपर उसे जरासिन्धने अपनी

कन्या और मथुराका राज्य दे दिया। राजा बनते ही कंसने पिताको जेल-में डाल दिया। उसने अपनी बहन देवकी वसुदेवको ब्याह दी। कंसने बचपनमें उससे विद्या सीखी थी। ज्योतिषियोंने यह घोषणा कर दी कि देवकीकी सन्तानसे कंसकी मृत्यु होगी। इसपर बहन दीक्षा लेनेपर उतारू हो गयी; पर भाईने समझा दिया। उसकी तीन जुड़वा सन्तानों-की कंसने हत्या करवा दी। अबकी बार जो बालक हुआ वह सात माहमें हो गया। वसुदेव चुपकेसे उसे ले गये। यमुनापर उन्होंने नन्दकी लड़की-से उसे बदल लिया। कंसने उस लड़कीको गड़वा दिया। इधर कृष्ण गोकुलमे बढ़ने लगे। धीरे-धीरे उनकी लीलाओंकी चरचा सब ओर फैलने लगी। कंसने उसके मारनेके बहुतेरे प्रयत्न किये। पहले पूतनाको भेजा, फिर एक राक्षसीको। अरिष्ट राक्षस बैल बनकर आया, कृष्णने उसे हरा दिया। उनकी इस वीरतासे उनके नामपर धवलगीत चल पड़े। यशोदा कृष्णके असाधारण कार्योंसे हैरान थी। एक बार उन्होंने गोवर्धन उठाकर गोकुलकी वर्षासे रक्षा की। कंसने कृष्णको मारनेके विचारसे कुछ प्रति-योगिताएँ कीं। कृष्णने सबमें बाजी मार ली। अन्तमें दोनोंमें घोर द्वन्द्व-युद्ध हुआ। कृष्णने कंसको पछाड़ दिया। कंसके वधपर देवोंने फूल बर-साये। आनन्द-बधावा होने लगा। कृष्णने गोपियोंके बोल और ताने सुनते हुए मथुरामें प्रवेश किया।

कंसकी पत्नी जीवजसाने जब यह खबर अपने पिता जरासिन्धको दी तो वह आगबबूला हो गया। उसने फ़ौरन बदला लेनेके लिए पुत्रोंको भेजा; पर वे भाग आये। अन्तमें काल यवनने यादवोंको खदेड़ दिया। कृष्णको पश्चिममें हटना पड़ा। इसी समय एक देव घोड़ा बनकर समुद्रमें घुसा, उससे समुद्र-में एक सूखा स्थल निकल आया। द्वारकाका निर्माण वहीं हुआ। कृष्ण उसीमें रहने लगे, जरासिन्धने दोबारा उनपर चढ़ाई की, परन्तु अबकी बार कृष्णने चक्रसे उसका सिर काट डाला। कुमार नेमि कृष्णके चचेरे भाई थे। एक बार उनकी भाभी सत्यभामाने जल-क्रीड़ाके समय, मजाक़में उनसे कुछ कह दिया। इसपर कुमारने कई असाधारण काम कर दिखाये। कृष्णने राजमतीसे उनके विवाहका प्रबन्ध किया। बरातके प्रस्थान समय मार्गमें एक बेड़ेमें कुछ पशु बँधे हुए थे, पूछनेपर नेमिनाथको बताया गया कि विवाहमें इन सबका वध किया जायेगा। यह सुनकर कुमार नेमि विरक्त हो गये। उन्होंने दीक्षा ले ली। तपस्याके बाद उन्हें केवलज्ञान हो गया। एक दिन जब आहारके प्रसंगमें वह द्वारका आये तो सब लोगोंने अपने

पूर्वभव पूछे। नेमिनाथने विस्तारपूर्वक सब कुछ बताया। उसके बाद कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकी जीवन-घटनाओंका विस्तारसे वर्णन है। उसकी माता रुक्मिणी थी। किसीने प्रद्युम्नको उड़ा दिया था; पर बादमें वह मिल गया। एक मुनिने कृष्णकी मृत्युकी भविष्यवाणी की। उन्होंने पाण्डवोंकी कथा भी बहुत थोड़ेमें कह सुनायी। उसका सार इतना ही था कि जब पाण्डव कपट-जुएमें हारकर द्रौपदीके स्वयंवरमें पहुँचे तो उसने अर्जुनके गलेमें वरमाला डाल दी। कुछ दिन विराट्के घर रहकर उन्होंने बादमें कौरवोंको हरा दिया।

कहा जाता है कि एक बार कुछ यादवकुमार नशेमें चूर थे। उन्होंने द्वैपायन मुनिको सताना शुरू किया। उनके शापसे द्वारका नगरी भस्म हो गयी। दोनों भाई बलभद्र और कृष्ण वहाँसे चल पड़े। एक बार वनमें कृष्णको प्यास लगी। बलभद्र पानी लेने गये। इतनेमें मृगके धोखेमें उन्हें एक भीलने तीर मार दिया। उनकी तत्काल मृत्यु हो गयी। लौटनेपर बड़े भाईको भाईकी मृत्युसे बहुत दुःख हुआ। बादमें उन्होंने दीक्षा ले ली। पाण्डव भी नेमिनाथकी शरणमें चले गये।

इसके अनन्तर महावीर तथा अन्य प्रसिद्ध पुरुषोंके चरित्रके बाद राजा श्रेणिकके पूर्व और उत्तर जन्मोंके उल्लेखके बाद कवि आवश्यक काव्य-रूढ़ियोंका पालन करके ग्रन्थ समाप्त कर देता है।

शैली

ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह पुराण-काव्य-कथासूत्र न तो सम्बद्ध है और न धारावाहिक। चरित्र या पात्रोंके आधारपर इसके कई स्वतन्त्र खण्ड किये जा सकते हैं। चरित्रके विस्तारसे किसी कथाका कई सन्धियोंमें वर्णन अवश्य है। सन्धिके संकोच-विस्तारका भी कोई नियम नहीं है, कोई सन्धि ११ कड़वकमें पूरी होती है तो कोई ४० में। यथार्थमें पुराण-काव्यकी शैलीमें कथाके विकासका उतना महत्त्व नहीं होता जितना कि पुराण कहनेका। कविका काम काव्यका पुट देकर उसे संवेदनीय बनाना है। अतः कथा अधिक गतिशील नहीं हो पाती। काव्यात्मक वर्णनोंके सिवा कुछ ऐसी रूढ़ियाँ भी इस काव्यमें हैं, जिनका निर्वाह आवश्यक होता है। वस्तुतः पुराण-काव्य अनेक चरित्रोंका एक संग्रह ग्रन्थ है। कवि इनको काव्यमें इसलिए निबद्ध करना चाहता है क्योंकि वे धर्मके अनुशासनके आनन्दसे भरे हैं।

स्थूल रूपसे इन पौराणिक रूढ़ियोंके दो भेद हैं—१. काव्य-सम्बन्धी रूढ़ियाँ, और २. पौराणिक या धार्मिक रूढ़ियाँ। काव्यगत रूढ़ियोंमें १. मंगलाचरण, २. ग्रन्थ-रचनाका लक्ष्य, ३. आत्मलघुता, ४. सज्जन-दुर्जनवर्णन, ५. स्तुति या प्रार्थना (कथाके मध्यमें), ६. आत्मपरिचय, और ७. श्रोता-वक्ता शैली।

इनमें रूढ़ि २, ३, ४, ५, और ६ का विचार दूसरे स्तम्भोंमें करेंगे। यहाँ केवल शेष रूढ़ियोंके विषयमें इतना कहना पर्याप्त है कि मंगलाचरण भारतीय काव्योंकी चिरकालीन विशेषता रही है। श्रोता-वक्ता शैलीका सम्बन्ध भी आध्यात्मिकता और पौराणिकतासे है। प्रत्येक कवि अपनी कथाका सूत्र प्राचीन साहित्यसे जोड़ना चाहता है। इसलिए वह श्रोता-वक्ताकी योजना करता है। श्रोता कथावस्तुके सम्बन्धमें प्रश्न करता है। तदनन्तर वक्ता अपना व्याख्यान शुरू कर देता है। कभी-कभी उसमें भी प्रश्नोत्तरके रूपमें भेद-प्रभेद होने लगते हैं, और विधान इतना उलझ जाता है कि मुख्य और अवान्तर कथा काफ़ी दूर जा पड़ती है। बीच-बीचमें इसीलिए लेखक श्रोता-वक्ताका निर्देश कर देता है। एक दो अप-वादको छोड़कर समूचे उपलब्ध अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें यह विशेषता है। हिन्दीमें रामचरितमानस इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। संस्कृत कथा-साहित्यमें कादम्बरी इसी तरहकी रचना है यद्यपि उसमें श्रोता-वक्ता पक्षियोनिके हैं। पृथ्वीराज रासो और कीर्तिलतामें भी यही बात है। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृतकी काल्पनिक कथाओंमें श्रोता-वक्ताकी यह नयी परम्परा शुरू हुई होगी। कतिपय अपभ्रंश मुक्तक-काव्यमें भी प्रश्नोत्तर-शैलीका विधान है।

पौराणिक रूढ़ियाँ—इनसे हमारा तात्पर्य उन धार्मिक मान्यताओंसे है, जो धार्मिक कथाकी अपनी विशेषताएँ होती हैं; पर जो काव्यका अंग बन बैठती हैं। उदाहरणके लिए तीर्थंकरके जन्मपर इन्द्रका अभिषेकके लिए आना एक जैन मान्यता है; लेकिन जब कोई ऐसी जैन कथा, काव्य-का विषय बनती है, तो यह, या इस प्रकारकी दूसरी मान्यताएँ भी साथ हो लेती हैं। कुछ विशेषताएँ तो सभी धर्मोंमे समान हैं और कुछ असमान; लेकिन इनका प्रयोग सब करते हैं। आलोच्य साहित्यके प्रबन्ध-काव्योंमें मुख्य रूपसे ऐसी रूढ़ियाँ ये हैं—१. सृष्टिका वर्णन, २. लोक-विभाजन, ३. धर्म-प्रतिपादन, ४. दार्शनिक खण्डन-मण्डन, ५. अलौकिक तथ्योंकी

योजना, जैसे आकाशवाणी, देवों-द्वारा रत्नवृष्टि, पहाड़ उठा लेना, आकाशसे गिर पड़ना इत्यादि, ६. पूर्वभवस्मरण, और ७. स्वप्नदर्शन।

इन तथ्योंकी योजनाका मुख्य आधार पुराण ही है। कविको यह सब बातें इतनी प्रत्यक्ष होती हैं कि उसे वर्णन करने-भरकी देरी होती है। फिर भी इन तथ्योंकी योजनाको हम एकदम निराधार नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इनमे भी युगके विश्वासकी झलक है। जहाँतक हमें मालूम है, संस्कृतके बाद कथा-साहित्य पालि और प्राकृतमें भी है। पर वे मुख्य रूपसे धर्म और प्रवचनोंकी भाषाएँ हैं जब कि यह भाषा काव्य-भाषा ही रही। धर्म और सिद्धान्तका स्वतन्त्र विवेचन करनेवाली पोथियाँ इसमें अभीतक देखनेमें नहीं आयीं; फिर भी धार्मिकता इसमें है। ये कवि धर्मकी बात कहनेका अवसर निकाल ही लेते हैं। दूसरे वस्तुतत्त्व पुराणसे लेनेके कारण अतिरंजित बातोंका आना स्वाभाविक था। तीसरे उस युगमें कुछ ऐसी लोक-प्रिय लोक-कथाएँ प्रचलित थीं जिनकी उपेक्षा इन कवियोंके लिए सम्भव नहीं थी। चौथा कारण यह है कि पौराणिक कथाओंमें कुछ ऐसी मानवी जातियोंका उल्लेख है जो कौतुक और चमत्कारकी जातियाँ समझी जाती थीं; जैसे वानर जाति, राक्षस जाति, नाग जाति इत्यादि। इनमें कुछकी कहानियाँ पुराणोंमे निबद्ध हो चुकी थीं और कुछकी गाथाएँ लोकमें प्रचलित थीं। पुराण-काव्यलेखकोंने उन्हें धर्म और काव्य-का सहारा लेकर एक जगह गूँथ दिया। इसीलिए आलोच्य साहित्यमें जहाँ एक ओर कथा-कहानियोंकी भरमार है, वहाँ दूसरी ओर काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति चित्रण, अलंकार आदि भी हैं। राजनीति, कामविज्ञान, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदिका भी समावेश है। अतः पुराण-काव्यकी कथा-वस्तुके संघटनका महत्त्व घटनाओंके क्रमिक विकास, सापेक्ष्यता या उनके मनो-वैज्ञानिक विश्लेषणमें न होकर इस बातमें है कि वे अपने विशेष लक्ष्य या धर्मको दृष्टिमें रखकर पुराण-कथाओं और लोक-कथाओंको काव्यात्मक शैलीमें ढालनेमे कहाँतक सफल हो सके हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार पुराण-काव्यपरम्परासे चरित-काव्योंकी धारा प्रवाहित हुई।

चरित-काव्य—आलोच्य अपभ्रंश चरित-काव्यके अन्तर्गत, १. पउम चरिउ, २. णायकुमार चरिउ, ३. जसहर चरिउ, ४. पउमसिरि चरिउ, ५. करकंडु चरिउ, और ६. भविसयत्त कहा हैं। इनमें पउम चरिउ पुराण-काव्यके निकट होते हुए भी चरित-काव्य है। णायकुमार चरिउ तथा करकंड

चरिउ रोमाण्टिक चरित-काव्य हैं, और जसहर चरिउ धार्मिक। बाक़ी चरित-काव्योंमें धर्मके साथ सामाजिक समस्याका भी अन्तर्भाव है। भविसयत्त कहा यद्यपि कथा है पर शैलीके विचारसे वह चरित-काव्यकी कोटिमें ही आता है।

पउम चरिउ

इसमें मुख्य रूपसे रामका जीवन-चरित अंकित है, फिर भी पौराणिकता उसमें है। अतः इसे दोनोंके बीचकी कड़ी समझना चाहिए। राजा श्रेणिकके पूछनेपर गौतम गणधरने जिनशासनके अनुसार रामकी कथाका जो वर्णन किया वह इस प्रकार है—

विद्याधर काण्ड—सबसे पहले कवि चौदह कुलकरोंका उल्लेख करता है, फिर संक्षेपमें रिसभ जिनकी मुख्य घटनाओंके अनन्तर ५वीं सन्धिसे राक्षस और वानर वंशोंका विकास बताता है। कहा जाता है कि अयोध्यामें महापुरुषोंकी परम्पराका अन्त होनेपर, बहुत समयके बाद, सगर चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ। उसके साठ हज़ार पुत्र थे। एक बार वे कैलास पर्वतपर रिसभ जिनकी वन्दना करने गये। वहाँपर स्थित जिन-मन्दिरकी सुरक्षाके लिए उसके चारों ओर उन्होंने खाई खोदना शुरू किया। इसपर धरणेन्द्र कुपित हो उठा और उसने सबको भस्म कर दिया। केवल भगीरथ और भीम शेष बचे। राजाको जब यह ख़बर लगी तो वह बहुत दुःखी हुआ। बादमें उसने भगीरथको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी सगर राजाका समधी राजा सहस्राक्ष था। उसने अपने पिताकी हत्या करनेवाले पुण्यमेघपर चढ़ाई करके उसे मार डाला। उसका पुत्र तोयदवाहन किसी तरह भागकर दूसरे तीर्थंकर अजित जिनके समवशरणमें पहुँच गया। सहस्राक्ष भी वहाँ आया, पर समवशरणमें प्रवेश करते ही उसका क्रोध जाता रहा। आगे चलकर इसी तोयदवाहनने लंका नगरीकी नींव डाली। यहींसे राक्षस वंश चला।

राजा सगरके बाद चौसठवीं पीढ़ीमें कीतिधवल अयोध्याकी गद्दी-पर बैठा। एक बार उसका साला श्रीकण्ठ सपत्नीक वहाँ आया। काफ़ी दिन रहनेके बाद जब वह जाने लगा तो बहनोईने रोक लिया। स्नेहवश उसने उसे वानर-द्वीप दे दिया। उसकी पहाड़ीपर उसने किष्क-पुर नगर बसाया। आगे चलकर उसकी सन्तानपरम्परामें अमरप्रभु

राजा हुआ। उसने लंकाकी राजकुमारीसे विवाह किया। नववधू जब ससुराल आयी तो आँगनमें बन्दरोंके सजीव चित्र देखकर डर गयी। इसपर अमरप्रभु चित्र बनानेवालोंपर अप्रसन्न हो उठा। तब मन्त्रियोंने उसे बताया कि वानरोंसे उसके परिवारका बहुत पुराना सम्बन्ध चला आ रहा है, उसे तोड़ना ठीक नहीं। उसने भी वानरको अपना राजचिह्न मान लिया।

हम देख चुके हैं कि लंकाके राक्षस वंशका रथनूपुरके सहस्राक्षसे पुराना वैर चला आ रहा था। अब उसके पुत्र इन्द्रने अपनी प्रभुता और बढ़ा ली यहाँतक कि लंका-नरेश मालिको भी उसने हरा दिया। मालिके भाई सुमालिके पुत्रका नाम रत्नाश्रव था। उसके तीन पुत्र थे—रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण। एक लड़की थी चन्द्रनखा। रावणके शौर्यकी धाक शीघ्र ही चारों ओर फैल गयी। एक दिन खेलता हुआ वह भण्डारमें पहुँच गया। वहाँ उसने मणियोंसे जड़ा हुआ हार गलेमें पहन लिया। विषैले साँप उस हारकी रक्षा कर रहे थे। उस हारमें रावणके दस मुख दिखते थे, इसलिए उसका नाम दशमुख पड़ गया। उसने अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं। मन्दोदरीके सिवा उसकी छह हजार रानियाँ और थीं। कुम्भकर्णने राजा वैश्रवणके क्षेत्रमें जाकर उत्पात मचाना शुरू कर दिया। उसके विरोध करनेपर रावणने उसका राज्य हड़प लिया। उसने किष्कपुरके राजा बालिको हराना चाहा, पर उलटो उसे हार खानी पड़ी। बालि अपने अनुज सुग्रीवको राज्य देकर तप करने चला गया; परन्तु रावण असलमें रथनूपुरके राजवंशसे बदला लेनेकी सोच रहा था। उसने यमपर आक्रमण कर कितनी ही जनताका उद्धार किया। यमने इसकी शिकायत इन्द्रसे की। इन्द्रने विचारके लिए मन्त्रिमण्डलकी बैठक बुलायी। सर्व सम्मतिसे चित्रांगदको सन्धिका प्रस्ताव लेकर रावणके पास भेजा गया। रावणने सन्धिकी ऐसी कड़ी शर्तें रखीं, जिन्हें स्वीकार करना दूतके लिए असम्भव था। वह युद्धका न्योता देकर चला गया। दोनोंमें लड़ाई हुई; पर इन्द्र हार गया।

रावण बहुत बड़ा जिन-भक्त था। एक बार नर्मदाके किनारे वह बालूकी वेदीपर जिन-प्रतिमा रखकर पूजा कर रहा था। इतनेमें वेगसे पानी बढ़ आया। उसका सामान बह गया। पता लगानेपर उसे मालूम हुआ कि ऊपरकी ओर राजा सहस्रकिरणने जलक्रीड़ाके बाद यन्त्रोंसे

रुद्ध पानीको छोड़ दिया है, उसीसे यह बाढ़ आयी है। रावणने उसपर हमला कर दिया। सहस्रकिरण भी लड़ा, पर बन्दी बना लिया गया। बादमें उसके पिताके कहनेपर रावणने उसे छोड़ दिया। रावण अब अपना राज्य करने लगा। उसने अनन्तरथ मुनिके पास यह प्रतिज्ञा की कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी, मैं उससे जबरदस्ती नहीं करूँगा। एक बार वह विमानसे जा रहा था। नीचे बालि तप कर रहे थे। उनके ऊपर आते ही विमान रुक गया। रावणने उतरकर उन्हें देखा तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने पर्वत-सहित उखाड़कर उन्हें फेंकना चाहा; पर धरणेन्द्रने आकर पर्वत दबा लिया। वह भारसे चिल्ला पड़ा। अन्तमें क्षमा माँगकर उसने अपनी जान बचायी।

एक बार नन्दीश्वरकी पूजाके अवसरपर बहुत बड़ा मेला हुआ। उसमे प्रह्लादराज अपनी पत्नी केतुमतीके साथ वरकी तलाशमें गया। उसने वहाँ कुमार पवनंजयको अपनी लड़की अंजना मँगनीमे दे दी। कुमार भावी पत्नीसे मिलनेके लिए बेचैन हो उठा। वह अपने मित्रके साथ चुप-चाप वहाँ आया; लेकिन उस समय अंजनाकी सहेली किसी और लड़केकी प्रशंसा कर रही थी। कुमारको यह बहुत बुरा लगा। पहले तो उसने विवाह न करनेका निश्चय किया; लेकिन बादमें लोगोंके समझानेपर मान गया। घर आकर उसने पत्नीसे कोई सम्बन्ध नहीं रखा। इधर रावणके बुलावेपर वरुणसे युद्ध करने चला गया। मानसरोवरपर चकवा-चकवीका वियोग देखकर उसे घरकी याद आ गयी। वह आकर रात-भर पत्नीके पास रहा, और पहचानके लिए कंकण देकर चुपचाप चला गया। इधर अंजना गर्भवती हुई तो सासने कलंक लगाकर घरसे निकाल दिया। वह मायके पहुँची; पर वहाँसे भी ठोकर ही मिली। अन्तमे उसने अपनी सहेलीके साथ एक गुफामे हनुमान्-को जन्म दिया। बादमें उसका मामा उसे अपने घर ले गया। युद्धसे लौटनेपर जब पवनंजयको पत्नीके निष्कासनका पता चला तो वह शोकातुर हो उठा। वह उसकी तलाशमें चल पड़ा। अन्तमें बड़ी कठिनाईसे दोनोंका मिलन सम्भव हुआ। रावणका वरुणसे दोबारा युद्ध छिड़नेपर हनुमान् गया। वरुणको हरानेका श्रेय हनुमान्को मिला। रावणने भी उसका योग्य सत्कार किया।

अयोध्या काण्ड—सागरबुद्धि मुनिने विभीषणके पूछनेपर उसे

बताया कि रावणकी मृत्यु दशरथकी सन्तानके हाथ होगी। फलत: विभीषणने अपने गुप्तचर जनक और दशरथका वध करने भेजे; पर नारदने उन्हें पहले ही इसकी सूचना दे दी। फलत: वे बच गये। बादमें राजा दशरथ कौतुकमंगलपुर कैकेयीके स्वयंवरमें गये। उसने उन्हें ही माला पहनायी। दूसरे उम्मीदवार इसपर बिगड़ गये। उन्होंने दशरथ-पर हमला कर दिया। कैकेयीकी सहायतासे दशरथ जीत गया और कैकेयीसे वर माँगनेको कहा। कैकेयीने यह बात भविष्यपर छोड़ दी। दशरथके चार पुत्र हुए—अपराजितासे राम, सुमित्रासे लक्ष्मण, कैकेयीसे भरत, और सुभद्रासे शत्रुघ्न। जनकके भी एक लड़की और एक लड़का थे—सीता और भामण्डल। भामण्डलको एक विद्याधर उड़ा ले गया। उसका पालन-पोषण वहीं हुआ। एक बार जनककी मिथिलाको शबर, पुलिन्द और म्लेच्छोंने घेर लिया। उन्होंने सहायताके लिए अयोध्या पत्र भेजा। दशरथने राम-लक्ष्मणको भेजा। दोनोंने जाकर वीरतापूर्वक उपद्रवियोंको दूर खदेड़ दिया। इसपर प्रसन्न होकर जनकने अपनी कन्या रामको देनेका संकल्प कर लिया। एक दिन सीता अपने बाल सँवार रही थी। पीछेसे नारद आ गये। उनकी छाया देखकर वह डर गयी। इसपर अनुचरोंने अपमानित करके नारदको निकाल दिया। वह भी गाँठ बाँध-कर चला गया। सीताका चित्रपट ले जाकर उसने भामण्डलको दिखाया। वह मोहित हो गया। उसके पिताने पुत्रकी बुरी हालत देखकर एक विद्याधर जनकको लेने भेजा। वह उसे उठा लाया। उसने जनकसे सीताकी माँग की तो जनकने कहा, 'मैं रामको दे चुका हूँ'। अन्तमें स्वयंवरकी व्यवस्था की गयी। उसमें भी जब भामण्डलको सीता नहीं मिली तो वह उसे उड़ा लानेके लिए चला। रास्तेमें अचानक जातिस्मरण हो गया। तब उसे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि उसकी प्रेमिका उसकी सगी बहन है। वह सीधा अयोध्या गया और सबसे क्षमा-याचना की। अपना बुढ़ापा देखकर दशरथने रामको राज्य देकर जिनदीक्षा लेनेका निश्चय प्रकट किया। उत्सवकी तैयारी होने लगी। ठीक समयपर कैकेयीने दरबारमें जाकर दशरथसे अपने दोनों वर माँगे—रामको वनवास और भरतको राज्य। इससे उन्हें बहुत ठेस लगी। फिर भी उन्होंने रामको बुलाकर सब बात बता दी। राम सहर्ष वन जानेके लिए तैयार हो गये। लक्ष्मणके क्रुद्ध होनेकी आशंका थी; पर रामने उसे समझा-बुझा दिया। भरतको जब यह मालूम हुआ तो उसने पिताको खूब खरी-खोटी सुनायी। जब राम

अपने भवनसे नंगे पैर निकले तो उनकी माँको बहुत दुःख हुआ। सीता और लक्ष्मण भी उनके साथ हो गये। उनके वनगमनसे माताएँ मूच्छित हो गयीं। सारे नगरमें शोककी लहर छा गयी। इधर दशरथने दीक्षाकी तैयारी की। भरत भी साधु बननेको उतारू हो गया; पर पिताने उसे किसी तरह समझा दिया। तब वह रामकी माँके पास गया। उन्हें होशमें लाकर उसने कहा, 'माँ, तुम धीरज रखो, मैं रामको अभी वापस लाता हूँ। मेरा इसमें जरा भी दोष नहीं है।' यह कहकर वह सीधा रामके पास नदीके तीरपर पहुँचा। उसके पीछे कैकेयी भी वहाँ गयी। रामने माँको प्रणाम कर कहा, 'माँ, तुम यहाँ व्यर्थ आयीं, क्योंकि तातने तुम्हें जो वचन एक बार दिया है मैं उसका सौ बार पालन करूँगा।' भरतको अयोध्या भेज राम आगे बढ़ गये। कुछ दूरपर उन्हें तापस वन मिला। वहाँसे चित्रकूट होते हुए वे दशपुर पहुँचे। वहाँ वज्रकर्ण और सिंहोदरके युद्धमें उन्हें बीच-बचाव करना पड़ा। वज्रकर्णने केवल जिनको नमस्कार करनेकी प्रतिज्ञा की थी। इसीपर सिंहोदरने उसपर चढ़ाई कर दी थी। लक्ष्मणने साधर्मी वज्रकर्णका पक्ष लेकर दोनोंमें सन्धि करवा दी। वहाँसे आधी रातको चलकर वे लोग कुबेरपुर पहुँचे, यहाँकी शासिका कल्याणमाला थी। वास्तवमें वह लड़की थी, परन्तु नररूप धारण कर राज्य करती थी। उसके पिता बालाखिल्यको भीलराज रुद्रभूतिने क़ैद कर लिया था। लड़केके अभावमें राज्य बचानेके लिए उसे ऐसा करना पड़ा। लक्ष्मणको देखकर वह मोहित हो गयी। उसने बुलवाकर उसे आधे आसनपर बैठाया। राम और सीताको भी वहीं बुला लिया। स्नानके बाद उन लोगोंने भोजन किया। लक्ष्मणने रुद्रभूतिको सजा देनेकी प्रतिज्ञा की। एक दिन बिना कुछ कहे, वे तीनों चल पड़े। मार्गमें रुद्रभूति सीताको देखकर आसक्त हो गया। उसने आक्रमण किया। पर लक्ष्मणके धनुषकी टंकारसे वे सब भाग गये। बादमें रुद्रभूतिने आत्मसमर्पण कर दिया। बालाखिल्य मुक्त हो गया। लक्ष्मण रुद्रभूतिको दण्डित करने जा रहा था; परन्तु रामने रोक लिया। वहाँसे चलकर उन्होंने एक विशाल वटवृक्षके नीचे डेरा डाला। इतनेमें घनघोर वर्षा शुरू हो गयी। उस पेड़पर एक यक्षका डेरा था। उसने इन्हें देखकर यक्षराजसे शिकायत की। उसने यह जान लिया कि ये महापुरुष हैं, और तत्काल विद्याके बलसे सुन्दर रामपुरी बसा दी। वह स्वयं वीणा लेकर उनके सामने स्तुति करने लगा। जब रामकी आँख खुली तो सारा दृश्य ही बदल चुका था। यक्षने उन्हें सुघोष वीणा दी।

वहाँसे वे जीवन्तनगर पहुँचे। इस नगरका राजा महीधर था। उसकी लड़की वनमाला लक्ष्मणको दी जा चुकी थी। परन्तु भरतने उसे पत्र-द्वारा यह बता दिया था कि लक्ष्मण वनको चले गये हैं, इसलिए अपनी लड़की किसी औरको दे सकते हो। यह बात सुनकर वनमालापर जैसे वज्र टूट पड़ा। वह आत्महत्याके उद्देश्यसे अशोककी पूजा करनेके लिए अशोकवनमें गयी। काफ़ी रात होनेपर, जब उसने देखा कि रक्षक सो गये हैं, तो पेड़पर लटककर उसने मरना चाहा। लेकिन इसी समय लक्ष्मणने आकर उसे गोदमें भर लिया। रक्षक उसपर झपट पड़े, पर लक्ष्मणने हटा दिया। असली परिचय मालूम होनेपर राजा अपने दामादको स्वागत-सत्कारके साथ नगरमे ले गया।

इसी बीच रामको पता चला कि नन्द्यावर्तका राजा अनन्तवीर्य भरतपर चढ़ाई करनेका षड्यन्त्र कर रहा है। उन्होंने छलसे उसे पराजित करनेकी योजना बनायी। नटका वेश बनाकर वे नन्द्यावर्त पहुँचे। सीता देवीको एक जिन-मन्दिरमें छोड़कर दोनों भाई दरबारमें पहुँचे। रामने अपना नाच-गाना शुरू किया। गीतमें उन्होंने राजाको भरतकी अधीनता मान लेनेकी सलाह दी। इसपर राजा इनपर झपटा; पर रामने उसे पकड़ लिया। ये उसे जिन-मन्दिरमें ले आये। वहाँ उसे भरतका सामन्त बनाकर मुक्त कर दिया। उसके बाद वे लोग क्षेमंजलि नगर गये। वहाँ राजा अरिदमनकी क्रूरशक्तियाँ झेलकर लक्ष्मणने जितपद्मासे विवाह किया। फिर उन्हें वंशस्थल नगर मिला। यहाँ देशभूषण और कुलभूषण मुनिपर उपसर्ग हो रहा था। रामने उसे दूर किया। बादमें मुनिने उप-सर्गका कारण बताते हुए पूर्वभवकी बातें सुनायीं। धर्मोपदेश भी दिया।

एक बार रामने दो जैन साधुओंको आहार दान दिया। उन्हें देखकर जटायु उनके चरणोंपर गिर पड़ा। उसके पंख सोनेके हो गये। रामने मुनिसे इसका कारण पूछा। मुनिने बताया कि पिछले जन्ममें यह पक्षी बौद्ध था और उसने एक जैन साधुके गलेमें मरा हुआ साँप डाला था। और पाँच सौ साधुओंको यन्त्रपीड़ा दी थी। बादमें उसे अपनी भूल मालूम हुई। सीताने उसे बेटेकी तरह अपने पास रख लिया।

रामने अब दण्डक वनमें प्रवेश किया। वहाँ रावणकी बहन, खरदूषण-की पत्नी चन्द्रनखाका बेटा शम्बूक वंशजालमे बैठकर सूर्यहास खड्ग सिद्ध कर रहा था। उसकी सिद्धिका समय निकट ही था। माँ भोजन

लेकर जा रही थी। इतनेमें लक्ष्मण वहाँसे निकले। वह खड्ग उनके हाथमें आ गया। उसे आजमानेके लिए उन्होंने बाँसको काटा। उससे शम्बूकका कटा हुआ सिर धरतीपर गिर पड़ा। यह देखकर उनके अचरजका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने आकर रामको सब हाल बताया। राम समझ गये कि यह अच्छा नहीं हुआ। उधर चन्द्रनखा भोजन लेकर पहुँची, तो अपने बेटेको मरा पाकर दहाड़ मारकर रोने लगी। लेकिन जब उसने राम-लक्ष्मणको देखा तो वह पुत्रशोकको भूलकर उनपर मुग्ध हो उठी। वह सुन्दरीका रूप धारण कर उनके पास गयी; लेकिन जब दोनों भाइयोंमें-से एकने भी उसे पत्नी बनाना पसन्द नहीं किया, तो वह क्रुद्ध हो उठी और बिकराल रूप बनाकर उसने इन्हें धमकी दी। उसने जाकर अपने पतिसे कहा। खरदूषणने चढ़ाई कर दी और रावणके पास सहायताके लिए पत्र भेजा। लक्ष्मण और खरदूषणमें जब घोर युद्ध हो रहा था, तब रावण भी आया; पर सीताको देखकर वह विह्वल हो उठा। उसने अवलोकिनी विद्याके परामर्शपर सिंहनाद किया। रामने समझा कि लक्ष्मणने यह सिंहनाद किया होगा। वे सीताको अकेली छोड़कर भाईकी सहायताके लिए गये। इतनेमें रावण सीताको उड़ा ले गया। रास्तेमें भामण्डलके अनुचर एक विद्याधरने रावणका प्रतिरोध किया, पर उसे हारना पड़ा।

युद्धमें रामको देखकर लक्ष्मणका माथा ठनक गया। उन्होंने कहा, 'देव, यहाँ आकर आपने ठीक नहीं किया, आप फ़ौरन सीतादेवीके पास जायें। सिंहनाद मैंने नहीं किया।' राम वापस आये, सब कुछ वैसा ही था; पर सीता नहीं थीं। वह विलाप करने लगे। इतनेमें घायल जटायु उन्हें दिखा, वह रावणसे लड़कर मरणासन्न था। रामने णमोकार मन्त्र सुनाकर उसकी मिट्टी ठिकाने लगायी। अब राम पेड़-पौधों और पशु-पक्षियोंसे पूछते हुए पागलोंकी भाँति भटकने लगे। अचानक दो चारण मुनियोंने यह सब देखा। उन्होंने रामको बहुत समझाया; पर रामने उनकी बात नहीं मानी। युद्धमें खरदूषणका काम तमाम करके लक्ष्मण वापस आये। भाईको सीताके बियोगमें दुःखी देखा। इसी समय विराधित उनकी शरणमें आया। सीताकी खोजका आश्वासन देकर वह उन्हें तमलंकार नगर ले गया।

लंका पहुँचकर सीताने नन्दनवनमें रहना ही ठीक समझा। चन्द्रनखा विधवा होकर रावणके पास सहायताके लिए आयी। किन्तु रावणने

सीताके ध्यानमें उसकी बात अनसुनी कर दी। उसके कहनेपर मन्दोदरी सीताको प्रसन्न करने गयी; पर सीताने उसे बुरी तरह डाँट दिया। दोनोंमें झपड़ हो गयी। रोनेकी आवाज़ सुनकर विभीषणको इस काण्डका पता चला। उसने सीताको ढाढ़स बँधाया। रावणको भी बुरा-भला कहा।

सुन्दर काण्ड—जिस समय राम सीताके वियोगमें व्याकुल थे, उसी समय विराधितको लेकर सुग्रीव सहायताके लिए उनके पास आया। उसकी पत्नी ताराको सहस्रकिरणने सुग्रीवका रूप धारण कर हर लिया था। राम इस शर्तपर उसकी सहायताके लिए राजी हो गये कि बादमें वह सीताकी खोज करेगा। लक्ष्मणने अपने प्रसिद्ध धनुषकी टंकारसे नक़ली सुग्रीवकी विद्या छीन ली, वह अपने असली रूपमें प्रकट हो गया। असली सुग्रीवको उसकी पत्नी मिल गयी; लेकिन घर जाकर सुग्रीव रामको भूल गया। रामने तब लक्ष्मणको उसके पास भेजा। सुग्रीवको अपनी भूलपर दुःख हुआ। उसने चारों ओर दूत भेजे। स्वयं भी गया। रास्तेमें उसकी रत्नकेशीसे भेंट हुई। वह सीताका पता जानता था। सुग्रीव विमानमें बैठाकर उसे रामके निकट ले आया। रामको उसने आँखों देखा सब हाल कह सुनाया। रामने लड़कर सीताको वापस लेनेका संकल्प किया; परन्तु हनुमान्के सहयोगके बिना युद्धमें जीतना असम्भव था। इसलिए लक्ष्मी-भुक्तिको दूत बनाकर हनुमान्के पास भेजा। हनुमान्की दो पत्नियाँ थीं—अनंगकुसुम खरदूषणकी लड़की थी, और पंकजरागा सुग्रीवकी। जब दूतने सुग्रीवकी जीत और खरदूषणके निधनकी खबर दी, तो एक प्रसन्नतासे नाच उठी जब कि दूसरी शोक-विह्वल हो गयी। हनुमान् पहले तो राम-पर बिगड़ा; लेकिन असली घटनाका पता लगनेपर बादमें वह रामके पक्षमें हो गया। वह दूतके साथ किष्किन्धपुरके लिए चल पड़ा। राम और सुग्रीवने धूम-धामसे हनुमान्का स्वागत किया। वह दूत बनकर विमानसे लंका गया। मार्गमें उसे अपने नाना प्रह्लादराजका नगर मिला। उसने माँके अपमानका बदला लेनेके लिए लड़ाई छेड़ दी। घोर युद्धके अनन्तर उसने बाप-बेटेको हरा दिया। बादमें अपना परिचय देकर उनसे क्षमा भी माँग ली। वह लंकाकी सीमापर पहुँचा। वहाँ कई राक्षसोंसे निपटकर भीतर प्रविष्ट हुआ। यहाँ लंकासुन्दरीसे उसकी मुठभेड़ हुई। बादमें दोनोंका प्रेम हो गया। इस प्रेमिकाने आगे चलकर हनुमान्की बहुत सहायता की। वह विभीषणके घर ठहरा। जब वह सीताके निकट गया तब उसका

मन्दोदरीसे द्वन्द्व हो रहा था। हनुमान्‌ने उसे डाँटा, इसपर मन्दोदरी उसपर खूब बिगड़ी। हनुमान् सीताको अपने कन्धोंपर बैठाकर ले जानेके लिए तैयार था; परन्तु उसने इस तरह जाना ठीक नहीं समझा। रामकी अँगूठी उसने सीतादेवीको दे दी और उनका चूड़ामणि ले लिया। लौटते हुए उसने रावणके उद्यानमें खूब ऊधम किया। पेड़ उखाड़कर उनसे कितने ही योद्धाओंको धरतीपर सुला दिया। वह स्वेच्छासे बन्दी होकर रावणके सम्मुख पहुँचा। उसने भी रावणको समझाया, पर वह नहीं माना। इसी बीच बन्धन तोड़कर हनुमान् रामकी ओर चला।

हनुमान्‌के आते ही रामने अभियानका डंका पिटवा दिया। योद्धा सजने लगे। पहले उन्होंने वेलन्धर पर्वतपर डेरा डाला, फिर लंकाके लिए चले। लंकाको देखते ही सैनिकोंमें वीर रसका संचार होने लगा। विभीषणने आकर रामसे भेंट की। रामके सम्बन्धी भी सहायताके लिए आ गये। उन्हे विमानकी प्राप्ति हुई। घमासान लड़ाई शुरू हो गयी। रावणने लक्ष्मणपर शक्ति मारी। वह मूच्छित होकर गिर पड़े। राम विलाप करने लगे। बादमें द्रोण गन्धराजाकी लड़कीके स्नान-जलसे लक्ष्मणको चेतना आयी। रावण शान्तिनाथमन्दिरमे विद्या सिद्ध करने गया। फिरसे लड़ाई शुरू हुई। अचानक रावणका चक्र लक्ष्मणके हाथ आ लगा। उन्होने उसीसे रावणका अन्त कर दिया। भाईकी मृत्युसे विभीषणको बुरा लगा। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मन्दोदरी आदिने दीक्षा ले लो। राम-सीताका मिलाप हुआ। लंकाविजयके अनन्तर दोनों भाई अयोध्या लौट आये। भरत रामको राज्य सौंप कर माँके साथ तप करने चला गया।

सीता गर्भवती हुई; परन्तु लोकापवादके कारण रामने उसे वनमें छुड़वा दिया। सीताकी उस असहाय अवस्थामे वज्रजंघने उसकी सहायता की। सीताने लव और कुशको जन्म दिया। जब दोनों बच्चे सयाने हुए तो दिग्विजयके लिए निकले। लक्ष्मण उनका सामना करने आया, घोर द्वन्द्वके बाद दोनोंका परिचय हुआ। वे एक हो गये। अपनी पवित्रताको प्रमाणित करनेके लिए सीताने आगमें प्रवेश किया। रामने एक केवलीसे धर्मोपदेश सुना। लक्ष्मणकी मृत्यु होनेपर राम बहुत दुःखी हुए और तप करने चले गये। हनुमान् आदि भी उनके साथ हो लिये। सीताने भी दीक्षा ग्रहण की। रामने मोक्ष प्राप्त किया और सीता-देवी घोर तप कर सोलहवें स्वर्ग गयीं।

शैली—पउम चरिउमें कुल नब्बे सन्धियाँ और पाँच काण्ड हैं—विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड और उत्तर काण्ड। विद्याधर काण्डमे रिसभ जिनके संक्षिप्ततम परिचयके बाद उन दो प्रमुख वंशोंका इतिहास दिया है जो आगे चलकर रामकी जीवन-कथासे निकटतम रूपमें सम्बद्ध हुए—एक है वानरवंश और दूसरा राक्षसवंश। ये दोनों विद्याधर जातियाँ कही जाती हैं। इनके इतिहाससे स्पष्ट है कि राक्षस और वानरवंशके सम्बन्ध हमेशा मैत्रीपूर्ण रहे। लंकाकी यदि किसीसे शत्रुता थी तो वह रथनूपुरवालेसे थी। उक्त वंशोंमें वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे और वे एक दूसरेकी सहायताके लिए तत्पर भी रहते थे। रामकी दक्षिण यात्रासे इनका बहुत निकट सम्बन्ध है। अत: इनका परिचय घटनाचक्रको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक था। इस काण्डका नाम कविने विद्याधर काण्ड रखा। इसका एक लक्ष्य यह बताना भी है कि वानर और राक्षस विद्याधर थे, न कि फूहड़ और नृशंस अनार्य। कला और संस्कृतिमें ये किसी प्रकार हीन नहीं थे। राम और रावणका युद्ध आर्य और अनार्य अथवा दैवी और आसुरी शक्तियोंका युद्ध न होकर मनुष्य जाति और विद्याधर जातिका युद्ध था। रामके जन्मके पहले ही रावणके समग्र राक्षसवंश चरम उत्कर्षपर था।

अयोध्या काण्डमें रामकी कहानी प्रारम्भ होती है। राम-वनगमनका मुख्य कारण कैकेयीका वरदान माँगना था। भरत यह नहीं चाहते थे, लक्ष्मण भी इसके पक्षमे नहीं थे; पर राम पिताकी आज्ञाको ही सबसे बढ़कर समझते थे। वनयात्रामें घटित हुई मुख्य घटनाओंका उल्लेख कर चुकनेपर कवि शम्बुकवध और चन्द्रनखाके अपमानकी घटनाका भी वर्णन कर देता है। भावी राम-रावणयुद्धका बीज यहींसे विकसित होता है। अयोध्या काण्डमे जिन घटनाओंका उल्लेख है उनमे कुछ तो जैनधर्मका प्रभाव बढ़ानेके उद्देश्यसे ग्रन्थित की गयी है, कुछ लक्ष्मणके शौर्यको व्यक्त करनेके लिए हैं; और कुछ उसके युगकी सामाजिक अवस्था और संस्कृतिका चित्र उपस्थित करती हैं। आगे चलकर लक्ष्मण और खरदूषणके युद्ध-प्रसंगमें रावण सीताको उड़ा ले गया। युद्धकी सम्भावना अब अधिक बढ़ गयी। सीताके लिए दोनों विकल हैं – राम भी और रावण भी। राम सीताकी खोजके लिए आतुर हैं और रावण सीताको मनानेमें पागल हो रहा है।

सुन्दर काण्डमें रामके कुछ सहयोगी मिलने लगते हैं, विराधित आ चुका था। अब सुग्रीव आया। पत्नी-हरणका मामला उसका भी था। लक्ष्मणने उसकी मदद की। इस काण्डमें उसने पहले सीताकी खोज की, फिर हनुमान्‌का सहयोग प्राप्त किया। हनुमान्‌को लंका भेजा गया। वहाँ उसने दौत्य भी किया। ऊधम भी मचाया। सीतासे भेंट की और लंकासुन्दरीसे रोमांस भी। जो भी हो उसके लौटनेपर युद्धके लिए रामने प्रस्थान कर दिया।

युद्ध काण्ड—युद्ध काण्डका प्रारम्भ विभीषण और रावणकी बातचीत-से होता है। विभीषणके अनुरोधपर रावण सीताको वापस करनेके लिए प्रस्तुत होता है; पर इन्द्रजीत उसे भड़का देता है। फलस्वरूप विभीषणको अपमानित अवस्थामें रामको छोड़कर दूसरा चारा नहीं रहता। हनुमान्‌-की सलाहसे जिस समय वह रामके पास पहुँचता है, ठीक उसी समय भामण्डल भी आता है। राम युद्ध टालनेकी दृष्टिसे अंगदको रावणके पास भेजते है। लक्ष्मण युद्धके पक्षमे हैं। अंगदका दौत्य असफल होनेपर युद्धके नगाड़े बज उठते हैं। तीन दिनों तक हार-जीतकी आँखमिचौनीके बाद चौथे दिन लक्ष्मण शक्तिसे घायल हो गये। हनुमान् विशल्याको लानेके लिए जाते हैं। बीचमें वह अयोध्या रुकते है। लक्ष्मणके घायल होनेके समाचारसे कैकेयीको बहुत दुःख होता है। वह राजा द्रोणघनसे अनुरोध करती है कि वह विशल्याको भेज दे। हनुमान् एक हज़ार कन्याओंके साथ विशल्याको ले आते हैं। उसके प्रवेश करते ही लक्ष्मण ठीक हो जाते हैं। इससे रावण चिन्तित होकर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर लेता है। विशल्या और लक्ष्मणका प्रणय-बन्धन। मन्दोदरीके अनुरोधपर रावण समझौतेके लिए अपना दूत भेजता है; पर वह अपना-सा मुँह लेकर वापस आ जाता है। रावण सीताको तरह-तरहके प्रलोभन देता है। वह उन्हें ठुकरा देती है। रावणका हृदय बदल जाता है। वह निश्चय करता है कि युद्ध जीतकर वह सीताको लौटा देगा। युद्ध होता है और उसमें रावण लक्ष्मणके हाथों मारा जाता है। विभीषण और रावणके अन्तःपुरके करुण क्रन्दनके बीच रावणका दाह-संस्कार। राम अपने दलके साथ उसमें सहयोग देते हैं। विभीषणको वह आश्वस्त करते हैं।

उत्तर काण्ड—उत्तर काण्डका श्रीगणेश एक प्रकारसे दीक्षा-

संस्कारसे होता है। रावणके कई सम्बन्धी मुनि अप्रमेय बलसे दीक्षा लेकर तप करने लगते हैं। विभीषणके अनुरोधसे राम सीताको स्वीकार कर लेते हैं। लंकामें धूम-धामसे प्रवेश होता है। राम और लक्ष्मण छह वर्ष वहीं रहते हैं। बादमें नारदके सन्देशपर वे अयोध्या वापस आते हैं। विभीषण अयोध्याको सोनेकी बना देते हैं। दोनों भाई अपनी माताओंसे मिलते हैं। भरत संसारसे विरक्त हो उठते हैं। वह और उसकी माँ कुलभद्रभूषण नामके मुनिसे दीक्षा ग्रहण करते हैं। शत्रुघ्न मथुराके राजा मधुपर आक्रमण कर उसका राज्य छीन लेता है। राम अपनी गर्भवती पत्नीके दोहदकी पूर्तिमें लगे हैं, उधर प्रजाके प्रतिनिधि सीताको लेकर उनसे शिकायत करते हैं। राम उसे निर्वासित करते हैं। उस असहाय अवस्थामें वह रामके बहनोई वज्रजंघकी शरणमें रहती है। वहीं लवण-अंकुश-को जन्म देती है। वज्रजंघ उनका विवाह राजा भृथुकी कन्याओंसे करना चाहता है। जब वह राजी नहीं हुआ तो दोनोंने उसपर चढाई कर दी। अन्तमें बात पक्की हो गयी। उन दोनों भाइयोंने और भी ऐसे राजाओंको मात दी कि जो रामके सम्मुख घुटने नहीं टेक रहे थे। नारद-से ज्ञात होनेपर अपनी माँका बदला लेनेके लिए दोनों राम-लक्ष्मणपर आक्रमण कर देते हैं। किसी तरह बीचमें पड़कर नारद दोनोंका परिचय कराते हैं। दोनों भाइयोंका अयोध्यामें राजकीय स्वागतके साथ प्रवेश हुआ। अभी सीताको अपनानेकी समस्या ज्योंकी त्यों थी। हनुमान् आदि-ने रामसे इस बारेमें विनती की। लंकासे त्रिजटाको बुलवाया गया। उसके अनुसार सीताकी अग्निपरीक्षा होती है, जिसमें वह जलकुण्डके एक कमल-पर बैठी हुई दिखाई देती है। राम उसे स्वीकार करते हैं; पर सीता दुनियासे ऊब चुकी थी। उसने एक साधुसे दीक्षा ले ली। इसपर राम उस साधुको मारनेके लिए तैयार हो गये, पर उनका दिव्य रूप देखते ही उनका क्रोध पानी-पानी हो गया। अन्तमें विभीषणकी प्रार्थनापर मुनि सकलभूषण प्रमुख पात्रोंके पूर्व जन्मका विस्तारसे वर्णन करते हैं। वस्तुतः गुणमालाको लेकर, पूर्व जन्मोंकी यह श्रृंखला चलती है, जो टूटते-जुड़ते राम-रावणयुद्धमें समाप्त होती है। रामने जब यह सब सुना तो उनका मन विरक्तिसे भर उठा। राम अयोध्या लौट आये। भामण्डलकी बिजली गिरनेसे मृत्यु हो गयी। हनुमान्‌ने भी दीक्षा ले ली। एक दिन स्वर्गमें दो देवताओंमें राम-लक्ष्मणके प्रेमको लेकर बातचीत होने लगी। उनमे-से एकने आकर राजभवनमें जोरसे कहा, 'राम मर गये।' यह ध्वनि

सुनते ही लक्ष्मणके प्राण-पखेरू उड़ गये। भाईके दुःखसे राम पागल हो गये। उन्हें विश्वास नहीं होता कि लक्ष्मण मर गये। वह उसे लिये-लिये घूमते फिरे। इसी बीच इन्द्रजीतके लड़केने अयोध्यापर हमला करना चाहा; पर देवोंने उसे असफल बना दिया। बहुत समय बाद रामकी आँखें खुलीं और उन्होंने दीक्षा लेकर तपस्याकी राह पकड़ी। साधनाकालमें भी उन्हें अनेक प्रलोभन दिये गये; पर वह डिगे नहीं। अन्तमें उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। रामने अपने पिता दशरथ तथा दूसरे लोगोंका भूत, भविष्यत् बताया। अन्तमें उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, मेघवाहन, तथा लवण और अंकुश दोनों भाई भी मोक्ष जाते हैं। अन्तमें कविका पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू इस उल्लेखके साथ कथाकी समाप्ति घोषित करता है —

'सुणो सुंदर, दूरे पयावहि राउ पुरन्दर,
जिवेहिं पगसिउ मोक्खु विरास हो, कम्म बंधुदिदु होई सरावहो'

मुनीन्द्र कहते हैं, हे इन्द्र सुत, तू रागसे अपनेको दूर रख। जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है कि मोक्ष विरक्तको ही मिलता है। जो रागी है, उसका तो कर्मबन्ध ही मजबूत होता है।

इस प्रकार देखा जाये तो उत्तर काण्डकी कथावस्तु सीताके निर्वासन और मिलनके बाद समाप्त हो जाती है; पर उसके बाद भी जो मुनीन्द्रके माध्यमसे कवि पूर्व जन्मकी परम्पराओंका उल्लेख करता है, वह राग-विरागकी दार्शनिक प्रक्रियाको सिद्ध करनेके लिए। पुष्पदन्त भी रामकथाका नियोजन पूर्व जन्मकी कर्म परम्पराके सन्दर्भमें करते हैं; परन्तु दोनोंकी कथामें अन्तर है। स्वयंभू प्रचलित रामकथाकी प्रमुख घटनाओं और पात्रोंके व्यक्तित्वको बनाये रखते हैं। इसके विपरीत पुष्पदन्तमें उनका एकदम त्याग है। इसमें सन्देह नहीं कि पुराण-काव्य शैलीकी सभी विशेषताएँ प्रस्तुत कृतिमें हैं। जहाँ-तहाँ अवान्तर कथा एक स्वतन्त्र आख्यानका-सा रूप भी ग्रहण करने लगती है, फिर भी किसी-न-किसी रूपमें वह मुख्य कथामें आ मिलती है। इस बातमें तो दो मत होनेका प्रश्न ही नहीं उठता कि पउम चरिउकी मुख्य कथा रामकी ही है। प्रस्तावनामें कवि स्वयं इस तथ्यको स्वीकार करता है कि वह रामकथाके माध्यमसे अपने-आपको प्रकट कर रहा है। दूसरे इसमें महापुराणकी भाँति कथाओंका जाल नहीं है। अपने काव्यकी कथाकी उपमा, जो कवि, नदीसे

देता है, वह साभिप्राय है। एक तरहसे वह अपने कथा-शिल्पकी विशेषता स्वयं बता देता है। एक नदीकी धारामें जो गतिवक्रता और समाहारशीलता चाहिए, वह स्वयंभूके पउम चरिउकी कथावस्तुमें है। उसमें पौराणिक रूढ़ियाँ अपेक्षाकृत कम ही स्थान पाती हैं। इन तत्त्वोंके आधारपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि पुराण-काव्योंकी तुलनामें चरित-काव्योंमें अलौकिकताका विस्तार कम होता है। उनमें लौकिकता और संक्षिप्तताकी प्रवृत्ति सर्वाधिक होती है। यह कहा जा सकता है कि महापुराणमें अनेक कथाओंका संगम होनेसे उसमें पौराणिकताका समावेश स्वभावतः होगा ही, यह तर्क समीचीन नहीं। कारण यह है कि एक कथात्मक काव्यमें भी पौराणिकता हो सकती है। उदाहरणके लिए आचार्य रविषेण-द्वारा नियोजित संस्कृत पद्मपुराणको ले लीजिए। यह ग्रन्थ पद्म चरित-का उपजीव्य भी है। यह होते हुए भी उसकी तुलनामें पद्म चरितमें विस्तार, अलौकिकता और धार्मिक तत्त्वोंकी प्रचुरता अधिक नहीं है। महापुराणमें यह बात नहीं। अतः कथावस्तु और उद्देश्य समान होते हुए भी शिल्पकी दृष्टिसे पुराण-काव्यों एवं चरित-काव्योंमें निम्न विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं—

पुराण-काव्य	चरित-काव्य
१. अलौकिकता	१. लौकिक तत्त्व
२. विस्तार	२. संक्षेप
३. अवान्तर आख्यानोंकी भरमार	३. मुख्य कथा एवं अवान्तर घटनाएँ भी यथासम्भव प्रयोजन-सहित
४. पौराणिक रूढ़ियों और धार्मिक तत्त्वोंका अधिक उल्लेख	४. अपेक्षाकृत कम
५. वस्तुतत्त्व असम्बद्ध	५. थोड़ा-बहुत सम्बन्ध और उद्देश्य-का निर्वाह

यह तुलना हमने उक्त दो ग्रन्थोंको लेकर की है। पउम चरिउकी कथा पौराणिक है; परन्तु जहाँ चरित-काव्यकी कथावस्तु एकदम पौराणिक नहीं है, वहाँ कथावस्तुका विकास अधिक सुसम्बद्ध और संवेदनीय है। पुराण-काव्यकी अपेक्षा चरित-काव्यकी सन्धि-योजनामें लाघव है। किसी भी सन्धिमें बीससे अधिक कड़वक नहीं हैं। कमसे कम दस हैं। कड़वककी रचनामें भी महापुराणमें निश्चित परिमाण नहीं है। परिमाण तो पउम-

चरिउमें भी नहीं है, पर अन्तर उतना नहीं है। साधारणतया दोनोंमें एक विशेषता यह है कि सन्धिके प्रारम्भमें ध्रुवक-द्वारा मुख्य वर्णित घटनाकी सूचना कवि दे देता है। जहाँ एक ही कथा कई सन्धियोंमें रहती है। वहाँ भी मुख्य कथांशकी सूचना दे दी जाती है। इससे आगेकी घटना समझनेमें सुगमता होती है।

रिट्ठणेमि चरिउ या हरिवंशपुराण

इसके लेखक स्वयंभूदेव हैं। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ क्रमशः ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना और डॉ० हीरालाल जैन, जबलपुरके पास हैं। इसमें सब ११२ सन्धियाँ और १९३७ कड़वक हैं। ९२ सन्धियाँ स्वयं स्वयंभू-रचित हैं, शेषमें कुछ उनका और उनके पुत्र त्रिभुवन एवं जसकीतिका हाथ है। ग्रन्थमें चार काण्ड हैं – यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर काण्ड। जैसा कि पौराणिक काव्योंकी परम्परा होती है वस्तुतः पहले और दूसरे काण्डों-में यादव और कुरु वंशोंके उद्भव और विकासका ऐतिहासिक विवरण है, शेषमें उन परिस्थितियों और कारणोंका चित्रण है, जिनमें महाभारत सम्भव हुआ। कृष्णकी कथा यादव काण्डमें आती है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उक्त वंशके केन्द्रीय व्यक्ति वही हो सकते थे। उत्तर काण्डमें हार-जीतके विश्लेषणके सन्दर्भमें आध्यात्मिक निष्कर्षोंके अंकनके साथ कथा-का उपसंहार है। कथाके विन्यास और चरित्रोंके चित्रणमें कवि अपनी परम्पराके पूर्व कवियोंसे अनुप्राणित है। पद्मचरितकी भाँति प्रस्तुत काव्यमें भी वह, साहित्यकी पूर्व परम्पराका प्रसन्न होकर उल्लेख करता है –

> इंदेण साप्पिउ वायरणु रसु महिं वासें विन्थरणु
> पिंगलेण छंद पय पत्थारू मम्मह दंडियाहि अलंकारू
> वाणेण समिप्पिउ घणघणउ, तं अक्खरडंबरु अप्पणउ
> छउमुहणे सम्मप्पिय पद्धडिय
> पारंभिय पुणु हरिवंस कहा, ससमय परसमय वियारसहा
>
> – रि० णे० च० १.२

अपभ्रंश कवियोंका यह स्वभाव है कि पूर्व परम्पराके निर्देश और आत्मविनयके सन्दर्भमें वे अपनी काव्य-प्रेरणाओंके आदर्शोंका संकेत कर

देते हैं। दूसरे शब्दोंमें इसका अभिप्राय है कि कविने अपनी कृतिमें भरतके रस-सिद्धान्त, भामह और दण्डीके अलंकारवाद, पिंगलके छन्दशिल्प और बाणकी शब्द-विन्यास शैलीका समन्वय किया है। एक भाषा-काव्यमें इनका समाहार अपने-आप महान् कौशल है। चतुर्मुखका पद्धडिया-बन्धकारके रूपमें उल्लेख भी साभिप्राय है। यह बताता है कि पद्धडियबन्ध-का प्रारम्भ अपभ्रंशमें स्वयंभूके पहले हो चुका था। चतुर्मुखने हरिवंश-पुराण अर्थात् पाण्डव और कृष्ण-कथापर पद्धडियाबन्धमें अपभ्रंशमे काव्य-रचना की थी इसलिए स्वयंभूने हरिवंशपुराणके सन्दर्भमें उसका पुण्य स्मरण करना उचित समझा। धाहिल कविने भी चतुर्मुखको हरिवंश-पुराणका लेखक माना है। चतुर्मुखने हिन्दी दृष्टिकोणसे हरिवंशपुराणकी रचना की थी। तभी इन कवियोंने जैन दृष्टिकोणसे उसे काव्य निबद्ध करनेका प्रयास किया। धाहिलने यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है। स्वयंभूने भी इस सम्बन्धमें एक हलका-सा संकेत दिया है जैसा कि ऊपरके अवतरणसे साफ़ झलकता है। स्वयंभू कहते हैं,

पारंभिय पुणु हरिवंस कहा, ससमय परसमय वियारसहा।

यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। यह उनके उदार दृष्टिकोणको बताता है। वह कहता है कि मै भी हरिवंशकथा प्रारम्भ करता हूँ जो स्वशास्त्र और परशास्त्रको सहन करनेमें समर्थ है। इस प्रकार कवि अपने काव्यमे कृष्ण-कथाके नियोजनमे एक प्रकारसे मध्यम मार्ग अपनाता है। वस्तुतः आलोच्य कृतिके सम्पूर्ण सम्पादन और समकालीन एवं पूर्ण परवर्ती कृष्ण कथाओंके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर ही उनके उक्त कथनको कसा जा सकता है।

करकंड चरिउ

यह मुख्यतः रोमाण्टिक चरित-काव्य है। समूची कृति १० सन्धियोंमे पूरी होती है। मुख्य कथा यह है – अंग-नरेशकी चम्पा नगरीमें राजा धाडीवाहन रहता था। कुसुमपुरकी पद्मावतीसे उसका प्रेम हो गया। वह कौशाम्बीके राजा वसुपालकी लड़की थी, पर अनिष्ट समझकर माँ-बापने उसे नदीमें बहा दिया था और कुसुमपुरके मालीने उसे पाल लिया था। राजकन्या समझकर राजाने उससे विवाह कर लिया। रानीने कुछ सपने देखे। उनसे राजाने जान लिया कि उसके यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।

गर्भवती होनेपर रानीको वर्षामें राजाके साथ हाथीपर बैठकर नगर घूमनेकी इच्छा हुई। राजाने विद्याके बलसे सब व्यवस्था कर दी। हाथी उन दोनोंको लेकर भागा। दोनोंके प्राण संकटमें देखकर रानीने राजासे पेड़की डाल पकड़ लेनेको कहा। उसने वैसा ही किया। हाथी भागता हुआ तालाबमें घुसा। रानी उसमें कूद पड़ी। वहाँसे निकलकर वह वनमें गयी। उसके आनेसे वन हरा-भरा हो गया। इसपर वनपाल उसे अपने घर ले गया; किन्तु उसकी पत्नीने इसका विरोध किया। पद्मावतीको वहाँसे हटना पड़ा। उसने श्मशानमें पुत्रको जन्म दिया।

वहाँ एक विद्याधर चण्डाल बनकर रहता था। उसने बच्चेको अपने पास रखनेकी अनुमति माँगी। उसने जब यह बताया कि इस बालकके बड़े होने और राजा बननेपर वह भी शापसे छूट जायेगा, तो रानीने उसे अनुमति दे दी। बचपनमें बालकके हाथमें खुजली हो गयी थी अतः उसका नाम ही करकण्डु हो गया। विद्याधरने कला और विद्यामें उसे खूब निपुण बना दिया। पद्मावती वैसे साध्वी हो गयी थी, फिर भी कभी-कभी ममतावश बच्चेको शक्करके लड्डू देने जाती। एक बार दो जैन यति वहाँ आये। पूछनेपर उन्होंने बताया कि जो इस झुरमुटके तीन बाँसोंको काटेगा, वह धरतीका स्वामी बनेगा। एक ब्राह्मणने यह सुन लिया, वह बाँस काटकर ला रहा था; परन्तु करकण्डुने उससे वे बाँस ले लिये। उसे यह विश्वास दिया कि वह राजा बननेपर उसे मन्त्री अवश्य बनायेगा। इसी समय दन्तीपुरका राजा मर गया। उसके सन्तान न थी। अतः मन्त्रियोंने यह निर्णय दिया कि हाथी जिसके ऊपर मङ्गलकलशका जल डाल देगा वही गद्दीपर बैठेगा। संयोगकी बात, उसने मरघटमें जाकर करकण्डुपर मंगलकलश उँड़ेल दिया, प्रजाजन यह देखकर दंग रह गये। उनके सम्मुख प्रश्न था कि चण्डालपुत्रको राजा कैसे बनाया जाये? जब विद्याधरने सब रहस्य प्रकट किया, तो करकण्डु राजा घोषित कर दिया गया। उसने धूम-धामसे नगर-वनिताओंके कटाक्षोंके बीच नगरमें प्रवेश किया। करकण्डुने उक्त ब्राह्मणको अपना मन्त्री बनाया।

एक दिन सौराष्ट्रका कोई व्यक्ति राजा अजयवर्माकी लड़की मदनावली-का चित्र लेकर आया। कुमार उसे देखकर मुग्ध हो उठा। लड़की गीतोंमें इसका नाम सुनकर इसे चाहने लगी थी। यह चित्र उसीने भेजा था। करकण्डुने अपना आदमी भेजकर लड़कीको बुलवाकर उससे विवाह कर

लिया। इतनेमें चम्पानरेशने दूत भेजकर कुमारसे अधीनता माननेको कहा। इसपर वह बौखला उठा। उसने दूतको बिदा कर चम्पाके लिए कूच कर दिया। गंगापार दोनोंमें संघर्ष छिड़ गया। इसी बीच करकण्डुकी माँने आकर पिता-पुत्रका परिचय कराया। इससे युद्धका दृश्य मिलनके दृश्यमें बदल गया। पिताने भी चम्पाका राज्य पुत्रको देकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

अब करकण्डु दक्षिणकी विजययात्राके लिए प्रस्थान किया। पहले उसने दूत-द्वारा अधीनताका प्रस्ताव भेजा। परन्तु चोलराजने यह उत्तर दिया कि मैं जिनेन्द्रको छोड़कर किसी औरको नमस्कार नहीं करता। कुमारने तेरापुरमें डेरा डाला। वहाँके राजा शिवने उससे भेंट की। वह उसके साथ वहाँके आश्चर्यजनक स्थान देखने गया। पर्वतपर एक बामी थी जिसपर प्रतिदिन एक हाथी फूल चढ़ाता था। कुमारने उसे खुदवाया। उसमें-से एक जिनप्रतिमा निकली। कुमार उसे देखकर ध्यान-मे लीन हो गया। देवोंने उसपर फूल बरसाये। उस मूर्तिपर एक गाँठ थी, कुमारने शिल्पीसे उसे तरासनेके लिए कहा। गाँठके टूटते ही उससे पानीकी धारा बह निकली, इसपर राजा बहुत पछताया। तब एक देवने आकर उसकी सहायता की। उसने इसका इतिहास भी बताया। असलमें दो विद्याधर यहाँ आकर बस गये थे। उन्होंने इस लयणका निर्माण कराया था, बादमें दो विद्याधर पोदनपर्वतसे एक जिनप्रतिमा लेकर आ रहे थे। विश्रामके लिए यहाँ ठहरे। जब वे जाने लगे तो प्रतिमा नहीं उठी। उन्होंने दोक्षा ले ली। उनमें एक विद्याधर यह देव था जो इस प्रतिमाकी रक्षा कर रहा था। इसने करकण्डुको भी लयण बनवानेकी सलाह दी। कुमारने उसके ऊपर एक और लयण बनवा दी। इतनेमें एक मतवाला हाथी आया। सेनामें भगदड़ मच गयी। कुमारने उसका पीछा किया। कुछ दूर जाकर वह हाथी ग़ायब हो गया। लौटकर उसे पता चला कि उसकी पत्नी लापता है। वह बहुत ही दुःखी हुआ। एक विद्याधरने (जिसे कुमारने णमोकार मन्त्र सुनाया था) आकर उसे राजा नरवाहनदत्तकी कहानी बताते हुए समझाया।

उसने अच्छा शकुन देखकर कुमारको दक्षिण जानेका परामर्श दिया। उसने दो कथाएँ भी सुनायीं। वह वहाँसे सिंहलद्वीप गया, उसे एक बड़ा वटका पेड़ मिला। उसने उसे तीरोंसे छेद दिया। किसीने राजाको इसकी खबर कर दी। वह स्वयं कुमारको लेने आया। उसने अपनी लड़कीसे

उसका विवाह कर दिया। कुछ दिन उपरान्त भारी दहेज देकर उसने कुमारको बिदा कर दिया। वे लोग नावसे समुद्र-यात्रा कर रहे थे। इतनेमें एक बड़ा मच्छ आ गया। कुमार कूद पड़ा और उसके पेटमें घुसकर उसे फाड़ दिया। उसे एक विद्याधरी उठा ले गयी। उसके पीछे योधा भी कूद पड़े, रतिवेगा घबरा गयी। उसने पद्मावतीकी स्तुति शुरू की, देवीने प्रकट होकर शीघ्र पति मिलनेका वरदान दिया। विद्याधरीने पितासे पूछकर कुमारसे शादी कर ली। देवीने अरिदमनकी कथा उसे सुनायी। रतिवेगा धर्माचरण करने लगी। एक दिन कनकप्रभा विद्याधरी रतिवेगाको करकण्डुके पास ले गयी। पतिको देखकर वह फूली नहीं समायी।

अब करकण्डुने दक्षिणपर आक्रमण किया। चोलराज और पाण्ड्य-नरेश लड़ने आये। वे हार गये। करकण्डुने उनके मस्तकपर पैर रखना चाहा; परन्तु उनके मुकुटोंमें जिनप्रतिमा देखकर वह बहुत पछताया। उसने क्षमा माँगी। वे दोनों राजा तप करने चले गये। इसी समय एक विद्याधर मदनावलीको उसे सौंप गया। उसने यह भी बता दिया कि पूर्व भवके वैरके कारण उसने ऐसा किया था। करकण्डु सकुशल अपनी राज-धानी लौट आया।

एक दिन उद्यानपालने जैन साधुके आनेकी सूचना दी, कुमार उनकी वन्दना करने गया। धर्मोपदेशके अनन्तर उसने तीन प्रश्न पूछे—

१. मुझे हाथमें खुजली क्यों हुई थी ?

२. माँका पति-बिछोह क्यों हुआ ?

३. मेरी पत्नीके हरे जानेका क्या कारण था ?

मुनिके उत्तर इस प्रकार थे –

१. पिछले भवमें तुमने कीचड़-भरे हाथों जिनदेवको कमल चढ़ाया था।

२. पूर्व जन्ममें माँने दुराचार किया था, पर बादमें उपवास किया।

३. पिछले भवमें तुमने साँपके मुखसे कबूतर छुड़ाया था। वह साँप मरकर विद्याधर हुआ। उसने बदला लेनेके लिए मदनावलीका अपहरण किया।

बादमें मुनिने उपवासका महत्त्व बतलाया। घर आकर कुमारने पंच-कल्याणकविधान किया। अन्तमें उसने जिनदीक्षा ग्रहण की, उसके सभी

साथियोंने भी उसका अनुकरण किया। मरकर वह सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुआ।

आलोचना—जैसा कि डॉ० हीरालालने लिखा है (करकण्डु चरिउकी भूमिका) कि करकण्डुको बौद्ध साहित्यमें प्रत्येकबुद्ध माना गया है। श्वेताम्बर साहित्य भी उन्हें यही मानते हैं। अतः यह पूर्वबुद्ध युगके ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध होते हैं। काव्यकी दृष्टिसे मैं करकण्डु चरिउको पौराणिक रोमाण्टिक काव्य मानता हूँ। यहाँ कथाकारका लक्ष्य नायकके ऐतिहासिक जीवनपर प्रकाश डालना नहीं है। उसका प्रयत्न यह है कि पौराणिक और लोक-कथाओंके मिश्रणसे कथावस्तुको रोचक कैसे बनाया जाये। अवान्तर घटनाओंका विचार अलग शीर्षकमे किया गया है। यहाँ विचारणीय नायककी कथा है। उसकी जीवन-कहानीके तीन भाग हैं—

१. जन्मसे लेकर दन्तीपुरका राजा बनना, २. पितासे युद्ध और दिग्विजय, ३. श्रेष्ठ जीवन और धर्मानुष्ठान।

उसकी दिग्विजयमे धर्म और रोमांस साथ-साथ चलता है। युद्ध तो उसे नाम मात्रको करना पड़ा। युद्धका कुछ फल भी नहीं है; क्योंकि वह उनसे क्षमा माँग लेता है।

इसमे वर्णनकी अपेक्षा कथाओंकी योजना अधिक है। इस कथाके माध्यमसे कवि तीन लक्ष्योंपर ज़ोर देना चाहता है—१. करकण्डु जैन था, २. जिन-भक्ति और उपवासका महत्त्व, ३. जैन लक्षणका इतिहास। श्रोता-वक्ता शैलीको छोड़कर पौराणिक काव्यकी शेष रूढ़ियोंका निर्वाह इसमे भी है, अवान्तर कथाओंमे-से कुछ तो उदाहरण स्वरूप है, और कुछ स्वतन्त्र रूपमें। कथाके विकासमे उनका स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। कभी-कभी कोई अवान्तर कथा इतनी बढ़ जाती है कि मूल कथाकी गतिमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इतिवृत्तात्मकताकी अपेक्षा इसमे संग्रहात्मकता अधिक है।

णायकुमार चरिउ

यह भी एक रोमाण्टिक कथा-काव्य है। कविने श्रुतपंचमीके व्रतका महत्त्व बतानेके लिए यह कहानी कही है। मगधके कनकपुरका राजा जयन्धर था। उसकी रानी विशालनेत्रासे श्रीधर नामका पुत्र हुआ। एक

कोई व्यापारी सौराष्ट्रके गिरिनगरकी राजकुमारीका चित्र लेकर आया। राजा उसपर मुग्ध हो गया। मन्त्रीको भेजकर उसने लड़की बुलवाकर विवाह कर लिया। नयी रानीका नाम पृथ्वीदेवी था। राजा अन्त:पुरके साथ जलक्रीड़ाके लिए गया। रास्तेमें सौतका ठाठ-बाट देखकर नयी रानीको बुरा लगा। वह चुपचाप जिनमन्दिर चली आयी। स्तुतिके बाद मुनिका उपदेश सुनने लगी। मुनिने उसके यशस्वी पुत्र होनेकी भी बात कही। इतनेमें राजा खोज करता हुआ वहाँ आया। उसने पुत्रकी बात उसे भी बता दी। दोनों वन्दना भक्ति करके घर चले गये। कुछ समय बाद उसने सपने देखे। उससे आशा और बढ़ गयी। राजाने पुत्रजन्म धूम-धामसे मनाया। एक बार वह कुमारको लेकर मन्दिर गया, पर किवाड़ नहीं खुले; परन्तु बालकके अँगूठेसे छूते ही खुल गये। एक बार बच्चा वापीमें गिर गया। उसकी माँ भी उसमें कूद पड़ी। नीचे एक नागने उन्हें बचा लिया। बादमें उस नागने बच्चेको गोदमें ले लिया। इससे उसका नाम नागकुमार पड़ गया। पढ़ाई-लिखाई उसकी वहीं हुई।

कुमार अब पूर्ण युवक था। उसने दो गन्धर्व-कुमारियोंकी वीणा-वादनमें परीक्षा ली। वे कुमारियाँ उसपर मोहित हो गयीं। उसे उनसे विवाह करना पड़ा। कुमार जलक्रीड़ा करने गया था। माँ उसे कपड़े देने गयी थी; परन्तु उसकी सौतने उसे कलंक लगा दिया। राजा चुप रहा। फिर भी राजाने कुमारको अधिक घूमने-फिरनेसे मना कर दिया। इसपर नयी रानी चिढ़ गयी। उसने बेटेको घूमनेके लिए उकसाया। एक दिन वह हाथीपर बैठकर नगरमें निकला। उसे देखकर कितनी ही कुमारियाँ उसपर रीझ गयीं। उनके अभिभावकोंने राजासे इसकी शिकायत की। राजा इसपर बहुत बिगड़ा। उसने कुमारकी माँके गहने-कपड़े छीनकर अधिकारसे वंचित कर दिया। कुमारको यह बुरा लगा। वह द्यूतघरमें गया। जुएमें बहुत-सा माल जीतकर माँको दे दिया। कुमारसे जुएमें हारनेवाले कई राजपुरुष भी थे। राजा कुमारकी कला देखकर दंग रह गया। उसने एक दुष्ट घोड़ेको वशमें कर लिया। उसकी प्रगतिसे सौतेला भाई श्रीधर उससे जलने लगा। एक दिन जब एक दुष्ट हाथीको श्रीधर न पकड़ सका तो कुमारने उसे वशमे किया।

राजाने कुछ समयके लिए नागकुमारसे बाहर घूम आनेके लिए कहा। मथुरामें व्याल और महाव्याल दो राजकुमार थे। वे अपने मन्त्रीको

राज्य देकर पाटलिपुत्रके राजा श्रीवर्माकी लड़कियोके स्वयंवरमें गये। दोनोंके विवाह हो गये। उन्होंने मिलकर अपने ससुरके शत्रुको मार भगाया। छोटा भाई वहीं रहा, पर बड़ा भाई कनकपुर नागकुमारसे भेंट करने आया। नागकुमारको देखते ही उसकी आँख ठीक हो गयी। तब वह कुमारका रक्षक हो गया। जब श्रीधरके आदमी नागकुमारको मारने आये, तो इसने उसे बचा लिया। वे दोनों मथुरा चले गये।

कुमारने मथुरामें एक वेश्याका आतिथ्य स्वीकार किया। उसके कहनेपर शीलवतीको राजाकी क़ैदसे मुक्त किया। महाव्यालने भी इस मन्त्री राजासे अपना राज्य वापस ले लिया। वहाँसे कुमार कश्मीर गया। व्याल उसके साथ था। उसने कश्मीर-नरेश नन्दकी लड़कीको वीणामें हरा दिया। नन्दवती इसपर मोहित हो गयी। दोनोंका विवाह हो गया। कुछ दिन रहकर उसने हिमालयके भीतरी भागोंकी सैर की। वहाँ जिन-मन्दिर और गुहामन्दिरोंके दर्शन किये। एक भीलराजकी पत्नीका गुहराज भामासुरसे उद्धार किया।

आगे बढ़नेपर कंचनगुहामें उसे सुदर्शना देवी मिली। उसने बहुत-सी विद्याएँ कुमारको दीं। पहले ये विद्याएँ जितशत्रुने सिद्ध की थीं; पर वह बादमें विरक्त हो गया। देवी योग्य अधिकारीको ये विद्याएँ देकर प्रसन्न हुई। और भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर वह वहाँसे लौटा।

अपने साथियोंके साथ वह विषवनमें पहुँचा। उसने विषैले आम खा लिये; पर उसे कुछ भी असर नहीं हुआ। इसपर दुर्भख भीलने पाँच सौ भीलोंके साथ उसकी अधीनता मान ली। उसके बाद कुमारने राजा अरिवर्माकी सहायता की। जीतनेपर उसने नागकुमारको अपनी लड़की जयावती ब्याह दी। इतनेमें कुमारको एक लेखपत्र मिला। उसमें एक विद्याधरसे सात कन्याओंके उद्धारकी अभ्यर्थना थी। उसने विमानसे जाकर उन लड़कियोंका उद्धार किया। बादमें कुमारसे उनका विवाह हो गया।

एक बार महाव्याल मदुरा गया। वह बाजारमें घूम रहा था कि राजकुमारी मलयसुन्दरी उसे देखकर मोहित हो गयी, पर वह झूठ-मूठ चिल्लाकर बोली—इसने मुझे रोक लिया है। अनुचर दौड़े, पर महाव्यालने उन्हें हरा दिया। मलयसुन्दरी उसे ही मिल गयी। नागकुमारने उज्जयिनीकी कुमारी मेनकासे विवाह किया। वहाँसे महाव्यालके साथ दक्षिण भारतकी यात्रा करने गया। उसने तिलकसुन्दरीको मृदंगमें

हराया। तोयद्वीप पहुँचकर उसने वृक्षपर टँगी हुई कितनी लड़कियोंका उद्धार किया। ये सब भी कुमारको ही मिलीं। वहाँसे वह पाण्ड्य देश गया। अन्तमें उसने त्रिभुवनतिलकद्वीपके मण्डलीक राजाकी सुकन्या लक्ष्मीमतीसे विवाह किया। इसपर उसका विशेष अनुराग था।

वह पृथ्वीश्वर नामके मुनिके दर्शन करने गया। विविध दार्शनिक और धार्मिक विचार सुननेके बाद उसने नयी पत्नीके प्रति विशेष आसक्तिका कारण पूछा। मुनिने कहा, 'तुम दोनोंने पिछले भवमें श्रुत-पंचमीका व्रतानुष्ठान किया था। उसीका यह पुण्यफल है। तदनन्तर उन्होंने श्रुतपंचमीके विधानका स्वरूप और महत्त्व समझाया। कुमार पिताके घर आ गया। कुमारको अभिषिक्त कर जयन्धर तप करने चले गये। चिरकाल तक योग्यतापूर्वक राज्य करनेके बाद उसने भी जिनदीक्षा ले ली। उसने मोक्ष लाभ किया।

आलोचना—णायकुमारका जीवनचरित जैन लेखकोंमें प्रिय रहा है। इसमें वर्णित घटनाएँ अतिरंजित और रोमाण्टिक हैं। यद्यपि कथा-का प्रारम्भ स्वाभाविक ढंगसे होता है। जयन्धरकी नयी पत्नीकी सौतसे ईर्ष्या, दोनों पुत्रोंमें अनबन इत्यादि स्वाभाविक घटनाएँ हैं। पर इन बातोंका कुमारकी भावी असाधारण लीलाओंसे कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। कुमारकी पारिवारिक स्थितिका यथार्थ चित्रण भी यहाँ कविको अभिप्रेत नहीं। असलमें इस कथा-काव्यकी सृष्टि विशेष लक्ष्यको लेकर हुई है। यह है कुमारका वह लोकोत्तर रूप वर्णित करना जो कि उसे श्रुतपंचमी व्रतके असीम पुण्यसे प्राप्त हुआ है। अपने श्रावक पाठकों-का ध्यान आकृष्ट करनेके लिए इससे लुभावना जीवनचरित दूसरा नहीं हो सकता। कुमारका सौन्दर्य तो देखिए, दुनिया-भरकी लड़कियाँ उसे ही पसन्द करती हैं और उसकी शक्ति भी ऐसी कि सब उससे हार मानते जाते हैं। उस युगमें ऐसी कथाकी माँग थी। कुमार पुण्यकी महिमासे इतनी असाधारण लीलाओंका नायक बन सका। इस कथा-काव्यकी कुछ घटनाएँ और प्रसंग ऐसे भी हैं जो तत्कालीन समाजका यथार्थ चित्रण करते हैं। आगे इसका विचार किया जायेगा। पौराणिक काव्य-रूढ़ियोंका इसमें भी प्रयोग है। खण्डन-मण्डन भी है ही। यह एक विचित्र स्थिति है कि जैनधर्म विरक्तिमूलक है, पर इन रोमाण्टिक कथा-काव्योंमें धर्मके अनुष्ठानका फल ऐहिक भोगोंकी प्रचुर उपलब्धि दिखाया

गया है। यह बात अवश्य है कि अन्तमें नायक सब कुछ भोगकर दीक्षा ग्रहण कर लेता है। और इसी तरह उसका मोक्ष सध जाता है।

जसहर चरिउ

जसहरका जीवन भी जैन साहित्यमें अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। संक्षेपमें कहानी इस प्रकार है—

"औधेय देशका राजा मारिदत्त था। वह यौवनके अवगुणोंसे सम्पन्न था। उसके नगरमे एक भैरवाचार्य आये। राजाने उन्हें बुलवाया। आचार्यने राजासे अपनी डींग हाँकते हुए कहा, 'तुम जो चाहते हो माँग लो, मुझे अनेक विद्याएँ सिद्ध हैं।' राजाने आकाशमें चलनेकी विद्या सीखनेकी इच्छा व्यक्त की। भैरवाचार्यने बलिके लिए सभी जीवोंके जोड़े मँगवाये। राजकर्मचारी इसकी व्यवस्था करने लगे। योगिराज ठाट-बाटसे ठहरा दिये गये।

सब व्यवस्था हो चुकनेपर बलि प्रारम्भ हुई, पर सबसे पहले मनुष्य जोड़ेकी आवश्यकता हुई। भैरवाचार्यने राजासे कहा। राजाका संकेत पाते ही कर्मचारी नर जोड़ेकी खोजमे निकले। उसी समय वहाँ एक श्रमण संघ आया। वह पास ही ठहरा था। उसमें अभयरुचि और उसकी बहन भी थी। वे दोनों नगरमें भिक्षाके लिए आ रहे थे, मार्गमें राजकर्मचारी उन्हें पकड़कर वधस्थानपर ले आये। राजा उनके भोले और सुन्दर चेहरे देखकर चकित रह गया। उसने उनसे परिचय पूछा। कोलाहल शान्त होनेपर बालक अभयने इस तरह कहना शुरू किया—

उज्जैनमें राजा जसबन्धु था। उसकी रानीका नाम चन्द्रमती था। मैं उसका बेटा यशोधर हूँ। पढ़-लिखकर जब मैं सयाना हुआ तो पिताने अमृतमतीसे मेरा विवाह कर दिया। वह राज्य देकर तप करने चले गये। पत्नीपर मैं बहुत आसक्त था। शामको मैं सात भूमियाँ पार करके आठवें कक्षमें पहुँचा। रातको मैं लेटे-लेटे अपनी पत्नीकी सुन्दरताके बारेमें सोचता रहा। अमृतमती मुझे सोया जान चुपचाप उठी और कहीं जाने लगी। मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे हो लिया। मैंने देखा कि वह अपने कुबड़े प्रेमीके पैरोंपर गिड़गिड़ा रही है पर वह उसे लातकी ठोकरसे हटा रहा है। थोड़ी देर बाद वे आलिंगनमें बद्ध हो गये। मैं यह देखकर आपेमे नहीं रहा। मैंने पहले तलवारसे दोनोंका काम तमाम करनेका

विचार किया, पर शीघ्र ही मैंने विचार बदल दिया। मैंने इस बारेमें किसीसे कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन खोटे सपनेकी बात कहकर दीक्षा लेनेका अपना संकल्प व्यक्त किया। मेरी माँ इसपर राज़ी नहीं हुई। वह सपनेकी शान्तिके लिए जीव-बलिका आग्रह करने लगी। मैंने बहुत समझाया, पर वह मानी नहीं। अन्तमें आटेके मुर्ग़ा-मुर्ग़ीकी बलि देकर ही वह सन्तुष्ट हुई। मैं तो संकल्प कर ही चुका था। किसी तरह अमृतमतीने यह जान लिया कि मैं उसके पापको जानता हूँ। उसने एक चाल खेली, उसने मेरी बिदाईके लिए प्रीतिभोजका आयोजन किया। इसके बाद वह भी दीक्षा लेनेको कह रही थी। मैंने हाँ कह दिया। उसने माँ-बेटेको भोजनमें विष देकर दोनोंके जीवनका अन्त कर दिया। यह सब देखकर मेरा बेटा बेहोश हो गया। पर मन्त्रियोंने समझा-बुझाकर उसे गद्दीपर बैठा दिया। उसने धूम-धामसे मेरा श्राद्ध किया। मरकर मैं मुर्ग़ा बना और माँ मुर्ग़ी। एक शिकारीने हमें पकड़कर कोतवालके हवाले किया, और उसने राजाके। अब हम अपने बेटे जसवईके घर थे। एक दिन अमृतमती अपने जारसे प्रेम-केलि कर रही थी। मैं उसपर झपटा, पर उसने मेरी टाँग तोड़ दी। फिर कुत्तेने साफ़ कर दिया। हम दोनों मरकर साँप और नेवले हुए। उसके बाद नदीमें मच्छ हुए। संयोगसे मेरे बेटेने श्राद्धमे ब्राह्मणोंको खिलाया। उसमे पकड़कर, कढ़ाहीमें तलकर, हमारे शरीर उन्हें परसे गये। इस तरह हमारा ही मांस खाकर वे लोग स्वर्गमे हमारे सुखके साधन जुटा रहे थे। इस प्रकार नाना योनियोंमें भटककर हम लोग तरह-तरहके दुःख उठाते रहे। उधर अमृतमतीको कोढ़ हो गया। पापके फलसे उसका रोम-रोम गल गया। अन्तमे हम दोनों मुर्ग़ा हुए। कोतवाल हमे पकड़कर ले जा रहा था। मार्गमें उसका एक मुनिसे विवाद हो गया। अन्तमे उसने व्रत ग्रहण कर लिये। हम लोग यह सब सुन रहे थे कि राजा जसवईके शब्दभेदी तीरसे आहत होकर हम दोनोंकी जीवन-लीलाका अन्त हो गया। हम दोनों उसीकी रानी कुसुमावलीके गर्भमें आ गये। मैं लड़का हुआ, और माँ लड़की। हमारा नाम था अभयरुचि और उसका नाम अभयमती। एक दिन राजा जसवई शिकारी कुत्तोंको लेकर शिकार खेलने गया। उसकी भेंट मुनि सुदत्तसे हुई। उन्होंने उसे सदुपदेश देकर पूर्व भव बताये। राजाने दीक्षा ले ली। उन्होंने राजा मुझे बनाया था। मैं भी अपने सौतेले भाईको राज्य देकर मुनिके संघमें शामिल हो गया। वही मैं अभयरुचि हूँ और यह अभयमती।

यह सुनाकर वह मारिदत्तको अपने गुरुजीके पास ले गया। उन्होंने सबके पूर्व भव बताये। राजाने दीक्षा ग्रहण कर ली। बालक-बालिकाने अनगार धर्म अंगीकार कर लिया। यहाँतक कि चण्डमारी देवीने भी पाँच अणुव्रत ग्रहण किये। इस प्रकार वह दृश्य ही बदल गया।"

आलोचना—प्रस्तुत कथाका मुख्य लक्ष्य जीव-बलिका विरोध है। कथानकका विकास कुछ नाटकीय ढंगसे होता है। चण्डमारीके मन्दिरमें खूब भीड़ है। नर-बलिके लिए बालक और बालिका लाये जाते हैं। राजा उनसे परिचय पूछता है। इसके बाद अभयरुचि अपने मुँह आपबीती सुनाने लगता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसका समूचा कथानक धार्मिक और दार्शनिक उद्देश्योंसे भरा हुआ है। कहीं-कहीं आध्यात्मिक संकेत भी है। बहुत-सी पूर्व भवकी घटनाओंसे उस समयकी स्थितिका अच्छा चित्र आ जाता है। जीवहिंसाके सिवा श्राद्ध आदि प्रथाओंका भी विरोध है; लेकिन कवि अपनी ओरसे कुछ न कहकर घटनाओंके माध्यमसे कहता है। एक ही कविकी रचना होनेपर भी णायकुमार चरिउकी भाँति इसमें अतिरंजित घटनाएँ नहीं हैं। उसमें रोमाण्टिक प्रवृत्ति अधिक थी, तो इसमें जीवदया। इसमें कविका आदर्श ऊँचा है और शैली उत्तम-पुरुषमें होनेसे आत्मीय है। पौराणिक काव्यकी सभी रूढ़ियाँ इसमें हैं। कविने अपनी रचनाको धर्म-कथानिबद्ध कहा है।

पउमसिरि चरिउ

इसकी कथावस्तु छोटी है। इस धर्म-कहानीमें यह बताया गया है कि कपटका फल दूसरे जन्ममें भी भुगतना पड़ता है। कहानी थोड़ेमें यह है—

"मध्यदेशके वसन्तनगरमें जितशत्रु राजा था। उसी नगरमें धनसेन नगरसेठ था। धनदत्त और धनवह उसके दो पुत्र थे। धनश्री नामकी एक लड़की थी। वह वैश्रवणके पुत्र शंकरसे ब्याही थी; परन्तु किसी रोगसे उसकी अकाल मृत्यु हो गयी। तब दोनों भाई अपनी दुःखी विधवा बहनको घर ले आये। वह पूजापाठमें अपने दिन बिताने लगी। एक मुनि अभय-घोष वहाँ आये। इसने भी उनसे कुछ व्रत ग्रहण किये। अब वह दूने उत्साहसे धार्मिक कार्योंमें खर्च करने लगी। लेकिन उसकी दोनों भाभियों-को इस तरह धन खर्चना ठीक नहीं लगा। उन्होंने इधर-उधर इसकी चरचा की। किसी तरह यह धनश्रीको मालूम हो गया। उसने सोचा कि

यदि भाभियाँ मेरे भाईके कान भर देंगी, तो फिर मुझपर नियन्त्रण हो जायेगा। इससे छल करके दोनोंका बिगाड़ करा देना ठीक है। एक समय यशोमती सज-बनकर अपने पतिके कमरेमें जा रही थी। धनश्रीने शीलपर भाषण देना शुरू कर दिया। उधर यह सब सुनकर भाईने समझा कि अवश्य ही मेरी पत्नी कुलटा होगी। उसके आते ही उसने लात मारकर पलंगसे गिरा दिया। वह रात-भर रोती रही। दूसरे दिन उसने सब बात धनश्रीसे कही। उसने समझा-बुझाकर भाईसे मेल करा दिया। इसी तरह उसने दूसरी भाभीको चोरीकी बुराई बताना शुरू किया। उसके पतिने भी रातमें उससे बुरा बरताव किया। बादमें ननदने मेल करा दिया। अब कोई उसकी आलोचना करनेवाला नहीं रहा और वह मनमाना खर्च करने लगी। मरकर वह स्वर्गमें उत्पन्न हुई।

दूसरे जन्ममें, धनदत्त और धनवइ, साकेतपुरमें अशोकके यहाँ समुद्रदत्त और उदधिदत्त नामके पुत्र हुए। धनश्री हस्तिनापुरमे सेठके घर पद्मश्री नामकी लड़की हुई। यशोमती और जशोदा कौशलपुरमे जन्मीं। धीरे-धीरे पद्मश्री सयानी हुई। वह एक दिन अपूर्वश्री उद्यानमे वसन्तोत्सव मनाने गयी। वहाँ एक लताकुंजमें उसकी भेंट समुद्रदत्तसे हो गयी। दोनोंकी प्रणयलीला शुरू हो गयी। पद्मश्रीने अपने हाथसे गूँथकर उसे बकौलीकी माला पहनायी। इतनेमें वे लोग अपने-अपने घर चले गये। पद्मश्रीको घरपर कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वह वियोग-मे विकल थी। इधर समुद्रदत्तका भी बुरा हाल था। पद्मश्री गुपचुप अपने प्रेमीसे मिलना चाहती थी; परन्तु वसन्तसेना सहेलीने कुलीनताके नामपर उसे समझा दिया। समुद्रगुप्तका पिता शरणके घर अपने पुत्रके लिए उसकी लड़की माँगने आया। उसने स्वीकृति दे दी। धूम-धामसे दोनोंका विवाह हो गया। कुछ दिन समुद्रगुप्त ससुराल ही रहा; पर अचानक ही माँकी बीमारीकी चिट्ठी आनेपर उसे जाना पड़ा। वहाँ जाकर वह पद्मश्रीको भूल गया, एक दिन चकवा-चकवीका वियोग देखकर उसे याद आयी, और वह ससुरालको चल पड़ा। पद्मश्री प्रिय-वियोगमें सूखकर काँटा हो गयी थी। उसे आया देखकर उसकी खुशीका ठिकाना नहीं रहा। रातको वे दोनों संलाप कर रहे थे कि एक यक्षने बग़लके कमरेसे यह कहना शुरू किया – 'कल तो तूने मुझे संकेत-द्वारा आनेको कहा था, और अब किसी दूसरेके साथ है।' यह सुनकर समुद्रगुप्तको उसपर सन्देह हो गया। वह अपने घर चला आया। उन

दोनों भाइयोंने कान्तिमती और कीर्तिमतीसे विवाह किया। (ये उनकी पूर्व भवकी पत्नियाँ थीं) पद्मश्रीके पिताको बहुत दुःख हुआ। एक दिन मुनिसे पद्मश्रीको अपने छोड़े जानेका कारण मालूम हो गया। उसने जिन-दीक्षा ले ली। वह विहार करती हुई साकेतपुरमें पहुँची। कान्तिमती और कीर्तिमतीने उसका स्वागत किया। आहार भी दिया। एक दिन कान्तिमती हार गूँथ रही थी कि पद्मश्री आयी। वह हार छोड़कर भोजन लाने चली गयी। इतनेमें वह यक्ष मोर बनकर हार निगल गया। अपना हार न पाकर उसने साध्वी पद्मश्रीको हारकी चोरी लगा दी। उसे अपनी बद-नामीसे दुःख हुआ। वह सब विकल्प छोड़कर तपमें लीन हो गयी। उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। अब यक्ष अपनी भूलपर खूब पछताया। उसने उसी तरह मोर बनकर हार उगल दिया। सब लोग आश्चर्यचकित थे, पद्मश्रीने उन्हें धर्मोपदेश दिया और अपने पूर्व भव बताये।"

आलोचना—वस्तुतः पउमसिरि चरिउकी कथावस्तुका आधार पारिवारिक घटना है। यदि उसमें-से एक दो अलौकिक घटनाएँ निकाल दी जायें, तो वह एक शुद्ध पारिवारिक कहानी बन जाती है। इसमें अवा-न्तर कथाएँ कम हैं। दैवी घटनाएँ भी नहींके बराबर हैं। यद्यपि इसकी कथावस्तु पौराणिक है, फिर भी वह सामाजिक चरित-काव्यके अधिक निकट है। उसका लक्ष्य भी पारिवारिक है, वह यह कि पारिवारिक जीवनमें कपट एक बहुत बड़ी बुराई है। कपटपूर्ण धर्माचरणसे, कपट न करना, लाखगुना अच्छा है।

इसमें पद्मश्रीके दो जन्मोंकी कथा है। पात्र भी वही हैं। पिछले जन्ममें उसने जो बोया, दूसरेमें वही काटा। हम चाहें तो दोनों जन्मोंकी घटनाओंको अलग-अलग देख सकते हैं। दोनोंमें पारिवारिक जीवनके दो रूप हैं। पहले जन्मकी घटनामें यह बताया गया है कि विधवा बहन भाईके घर रहकर धर्ममें धन फूँकती है। भाभियोंको वह पसन्द नहीं है। तब ननद छलसे भाई-भाभियोंमें मनमुटाव उत्पन्न कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेती है। सम्मिलित कुटुम्बमें ऐसा होता है, कविने उसे केवल धार्मिक पुट दे दिया है। दूसरे जीवनकी घटनाओंमें पिछले जन्मके कर्म-फलके साथ गन्धर्व विवाहकी बुराईका भी परिणाम दिखाया गया है। पहले दोनोंका प्रेमपूर्वक विवाह होता है, पर बादमें पतिकी विरक्ति हो जाती है। पत्नी साध्वी बन गयी। इसके पहले दोनोंके वैवाहिक जीवनके वर्णनमें उस युगके धनी दम्पतिके विलासपूर्ण जीवनका अच्छा

चित्रण किया है। युवक-युवतीमें प्रेम होना, फिर स्त्रीके चरित्रपर सन्देह करना, हार चोरी जाना, कान्तिमतीका पद्मश्रीपर सन्देह करना आदि बातें स्वाभाविक हैं, पर कविने उन्हें सामाजिक या स्वभावगत बुराई न मानकर पुण्य-पापके फल माना है और यथासम्भव उसका मार्मिक उपचार खोजा है। इसीलिए उसे यक्षके मोर बनकर ही निगलनेकी कल्पना करनी पड़ी। जो भी हो, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पउमसिरि चरिउकी कथावस्तु अधिक स्वाभाविक है और इसपर अपने युगकी सामाजिक स्थितिकी पूरी छाप है।

भविसयत्तकहा

इस कथा-काव्यमें भी णायकुमार चरिउकी तरह, श्रुतपंचमीके व्रतानुष्ठानका फल वर्णित है। पर दोनोंकी शैलीमें अन्तर है। थोड़ेमें कथा यह है –

"कुरुजांगल जनपदके गजपुर नगरमें धनवह नामका सेठ रहता था। उसकी पत्नी कमलश्रीसे बहुत समय तक कोई सन्तान नहीं हुई। उन्होंने मुनिसे इसका कारण पूछा। मुनिने कहा कि शीघ्र ही तुम्हारा प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा। कुछ समय बाद कुमार भविसका जन्म हुआ। घरवालोंने खूब आनन्द-बधावा किया। लाड़-प्यारमें पलकर लड़का सयाना हो गया। वह सब विद्याओंमें खूब दक्ष था। इधर अकारण ही धनवह कमलश्रीसे उदासीन रहने लगा। वह जितने निकट आती वह उतना ही दूर रहता। इसका कारण पूछे जानेपर धनवहने केवल यह कह दिया, 'मैं नहीं जानता ऐसा क्यों हो रहा है। तुम चाहो तो अपने पीहर जा सकती हो।' वह पीहर चली गयी। जब कुमार खेलकर लौटा तो माँको न पाकर वह भी मामाके घर चला गया। कुमारने अपनी दुखिया माँको समझा-बुझाकर ठीक कर लिया। उसने भी पुत्रमें पतिके दुःखको भूलनेका अपना स्वभाव बना लिया। कुमारके शील और विनयसे सभी प्रभावित थे।

धनवहने धूम-धामसे दूसरा विवाह कर लिया। नयी पत्नी खूब बनठनकर मन्दिर जाती। इधर-उधर सामाजिक कार्योंमें उपस्थित होती। उसके भी एक लड़का हुआ। उसका नाम बन्धुदत्त था। उसकी संगति अच्छी नहीं थी। नगरके प्रत्येक ऊधममें उसका हाथ रहता। एक दिन उसने अपने पितासे बाहर व्यापार करनेकी आज्ञा माँगी। पहले तो

उसने मना किया, पर बादमें अनुमति देनी पड़ी। उसने नगरमें यह मुनादी करवा दी कि जो वणिक्पुत्र उसके दलके साथ चलेगा, उसकी वह सहायता करेगा। जब भविसको इसका पता चला, तो उसने भी माँसे आज्ञा माँगी; परन्तु माँने कहा, 'बेटा, एक तो परदेश जाना ठीक नहीं, दूसरे वह सौतका लड़का है, न जाने क्या अमंगल कर दे, और फिर तुम्हारे बिना मैं कैसे यहाँ रहूँगी ?' भविस नहीं माना, वह अपने भाईसे जाकर मिला। वह उसे ले चलनेको राजी हो गया; परन्तु बन्धुदत्तको माँने उसके कान भर दिये। कमलाने भी शकुन मनाकर बेटेको बिदा कर दिया।

कई देश और द्वीप पार करके वे लोग मदनागगिरि पहुँचे। सब लोग उतरकर पहाड़पर घूमने लगे। बन्धुदत्त चालाकीसे भविसको वहीं छोड़कर चलता बना। दलके लोग इस घटनासे कुढ़कर रह गये। भविसको अपने भाईकी करनीपर घोर ग्लानि हुई। निराश भटकते हुए उसे एक गुफा मिली। उसे पार कर वह उजड़ी बस्तीमें पहुँचा। उसने देखा कि राजभवन सुनसान पड़े हैं और पास ही जिनमन्दिर है। मन्दिरमें जाकर उसने स्तुति की, कमलका फूल तोड़कर चढ़ाया, फिर वहीं एक पत्थरपर लेट गया।

इसी समय भविसके पूर्व जन्मके मित्र अच्युत स्वर्गके देवको मुनि यशोधरने बताया कि उसका मित्र संकटमें है। देव भविसकी मददके लिए दौड़ा आया। इसका नाम मणिभद्र यक्ष था। वह कुमारको जगाकर पासके ही एक मकानमें ले गया। वहाँ एक राजकुमारीसे उसकी भेंट हुई। वे दोनों वहीं रहने लगे। बादमें यक्षने उन दोनोंका विवाह करा दिया। जिस देवके उत्पातसे उस बस्तीकी यह दुर्दशा हो रही थी, कुमारने उक्त देवकी सहायतासे उसे हरा दिया। अब वह भी कुमारका सहायक हो गया। बात-बातमें उसके वहाँ १२ वर्ष बीत गये।

इधर गजपुरमें पुत्रके न लौटनेसे कमलश्री बहुत व्याकुल थी। वह तरह-तरहके शकुन मनाती और व्रत-उपवास करती। उधर बन्धुदत्तकी माँ भी अपने बेटेके लिए चिन्तित थी।

एक दिन भविसकी पत्नीने उसका घर और देश देखनेकी इच्छा प्रकट की। वे दोनों सामान बाँधकर समुद्र-तटपर आकर जलयानकी प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय बन्धुदत्त अपने दलके साथ वहाँ आया। वह सब धन गँवा चुका था। भविसको पहचान कर उसने क्षमा माँगी और अपना दुखड़ा सुनाया। कुमार पसीज गया। उसने पूरे दलको

भोजन कराया और आवश्यक वस्तुएँ भी दीं। बन्धुदत्तने बड़े भाईको फुसला लिया। कुमार उसके साथ चलनेको राजी हो गया पर उसने फिर धोखा दिया। जब भविस किसी कामसे बाहर गया था तभी बन्धुदत्तने शंख बजाकर प्रस्थान कर दिया। भविसकी पत्नी भी उसी यानमें थी। सब लोग अपनी जन्मभूमिकी याद करके प्रसन्न थे, पर बन्धुदत्तके कपटपूर्ण व्यवहारसे उन्हें भीतर-ही-भीतर बुरा लग रहा था। भविसने लौटकर देखा तो यान वहाँ नहीं था। वह सन्न रह गया। बार-बार वह सोचता कि उसको पत्नीपर क्या बीत रही होगी, उसकी माँकी क्या हालत होगी, कहीं पत्नी शक्ति या प्रलोभनमें आकर अपना शील न गँवा बैठे।

मार्गमें बन्धुदत्तने नववधूको बहुत फुसलाया। वह बातोंमें नहीं आयी। बन्धुदत्त बलप्रयोग करनेपर उतारू हो उठा। इसी समय समुद्रमें तूफ़ान आया और लहरोंने यानको उछाल दिया। वह कहींका कहीं जा लगा। यह सब जलदेवीने किया था। एक अजनबी द्वीपमें पहुँचकर उन्होंने रत्न बेचकर आवश्यक चीजें खरीदीं और फिर घरकी ओर चले। वे लोग यमुना तटपर पहुँचे। गजपुरमें इसकी खबर पहुँचनेपर उत्सव मनाया जाने लगा। इधर कमलश्रीकी बुरी दशा थी। वह आत्मघातपर उतारू थी; परन्तु शासन देवीने सपना देकर उसे रोक दिया। अपने लोगोंको फिरसे पाकर सबके सब प्रसन्न थे, परन्तु कमलश्रीको भविसका पता कहीं भी नहीं चला। नववधू और खूब धन देखकर स्वरूपवती बन्धुदत्तपर फूली नहीं समायी। चारों ओरसे धनवइको बधाई आने लगी। जब भविसका पता न लगा तो कमलश्री पागलोंकी तरह सड़कपर बकने लगी। उसकी इस दशापर लोग तरह-तरहके अनुमान करने लगे। उधर भविष्यानुरूपाको देखने स्त्रियाँ पहुँची, पर वह किसीसे नहीं बोलती। इसपर बन्धुने यह बहाना बना दिया कि वह नया देश होनेसे सकुचाती होगी। स्वरूपवतीने बन्धुसे सच बात पूछी, पर उसने बात बना दी। स्वरूपवती बहूरानीसे बोलती, पर उसे किसी भी बातका सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। कमलश्रीने यह प्रतिज्ञा कर ली कि यदि एक माहके भीतर मेरा बेटा नहीं मिला तो मैं आत्मघात कर लूँगी। एक मुनिने उसे बताया कि शीघ्र ही उसका बेटा उसे मिल जायेगा।

उधर कुमार हताश होकर तिलकद्वीप पहुँचा। उसने मणिभद्रको याद किया। उसकी सहायतासे बिमानमें बैठ शीघ्र ही वह अपनी माँसे मिला। माँने उसे गोदमें भर लिया, दधि अक्षत दूर्वासे उसका स्वागत किया।

फिर एकान्तमें माँ-बेटेमें बातचीत हुई। दूसरे दिन कुमार भविसने अनेक उपहार ले जाकर राजासे भेंट की। अपने बचपनके साथीको पाकर राजाने भी उसका खूब सम्मान किया, राजाने उसे बेरोक-टोक दरबारमें आनेकी छूट दे दी।

बन्धुदत्त और भविष्यानुरूपाके विवाहकी तैयारी होने लगी। कमलश्रीको भी निमन्त्रण गया। पुत्रसे पूछकर वह नये कपड़े और गहने पहनकर वहाँ गयी; पर उसने भविसके आनेका पता किसीको नहीं दिया। धनवइ उसे देखकर बहुत शरमाया, उसके नये कपड़े और गहने देखकर स्वरूपवती ताड़ गयी। कमलश्री भी नववधूसे मिलने गयी, दोनों-की खूब बातें हुईं। उसने भविसकी नागमुद्रा उसे दे दी। स्त्रियोंने इसकी ख़बर स्वरूपवतीको दे दी।

विवाहके दिन भविस सीधा राजदरबार गया। उसने राजासे अनुरोध किया कि धनवइ और उसके पुत्रको यहाँ बुलाया जाये। राजाने ऐसा ही किया पर धनवइने पुत्रका विवाह होनेसे आनेमें आनाकानी की। इस-पर भविसने कहा, 'मुझे इस विवाहपर आपत्ति है। अतः अभियुक्तों-को इससे पहले यहाँ बुलाया जाये।' राजाने तत्काल दोनोंको दरबारमें उपस्थित होनेकी कड़ी आज्ञा दी। धनवइ पुत्रको लेकर दरबारके लिए चल पड़ा। रास्तेमें उसने बेटेसे असली बात पूछनी चाही, पर उसने कहा कि किसीने शत्रुतावश ऐसा किया है। चलते हुए उसने दूसरे वणिक्-पुत्रोंको भी अपने साथ ले लिया। दरबारमें जाकर बन्धुदत्तने गरजकर कहा, 'जो हमारे वैभवको देखकर जलता है वह सामने आये।' यह सुनकर भविस सामने आ गया। उसे देखकर उसका चेहरा उतर गया। वणिक्-पुत्र भी सुन्न हो रहे थे। राजा उन्हें डाँटने लगा; परन्तु भविसने बीचमें टोककर उन्हें क्षमा करवा दी। इसपर वणिक्पुत्रोंने यह हाल राजाको बता दिया। उसने बाप-बेटेको हथकड़ी डलवाकर जेलमें बन्द करा दिया। दूसरे दिन नगर-प्रमुखोंकी सभामें यह मामला रखा गया। काफ़ी विचार परामर्शके बाद सभ्योंने यह निर्णय दिया, 'भविसको धन और पत्नी दिलवाकर दोनोंको मुक्त कर दिया जाये।' धनवइ नगर-सेठ भी था। राजाने भी यह फ़ैसला मान लिया। परन्तु जब वणिक्पुत्रोंने वधू उड़ाने और उसे अपमानित करनेकी बात राजाको सुनायी तो राजा आगबबूला हो गया। उसने पंचोंका निर्णय रद्द करके पिता-पुत्रको कारावास दे दिया। इसपर जनतामें रोष फैल गया। राजाने भविसको

बुलाकर उसकी राय जाननी चाही, उसने भी कह दिया, 'जनताकी रायका सम्मान होना चाहिए।'

चरोंने आकर राजाको जन-प्रतिक्रियाका पूरा विवरण दिया। राजाने नगर-प्रमुखोंको बुलाकर उनकी राय पूछी। उन्होंने एकमत होकर यही कहा कि 'बन्धुदत्तको चाहे आप कड़ा दण्ड दें या निकाल दें, परन्तु धनवइको छोड़ दिया जाये।' राजाने धनवइको मुक्त कर दिया।

इसके अनन्तर ही भविसने राजासे विनय की कि उसकी पत्नीकी भी परीक्षा ले ली जाये क्योंकि बन्धुके पास रहनेसे लोग उसके चरित्रमें आशंका कर सकते हैं। राजाने दो सयानी चतुर स्त्रियाँ भविष्यानुरूपाके पास भेजीं। उन्होंने जाकर कहा, 'राजाने बन्धुदत्तका सम्मान किया है, और भविसको देश-निकाला दिया है, इसलिए तुम उसका खयाल छोड़ दो या फिर उसके लिए दरबारमें जाकर प्रार्थना करो'—यह सुनकर वह दरबार चल पड़ी, तब दूतियोंने जाकर राजा और सभाको बताया कि वह पूर्ण पवित्र है। भविष्यानुरूपाका जनताने जय-जयकार कर स्वागत किया। राजा आसनसे उठ गया। धनवइ नवदम्पतिको लेकर घर आया। उनके गृह-प्रवेशका उत्सव धूम-धामसे हुआ। रातको दोनों शयनकक्षमें काफ़ी देर तक सुख-दुःखकी बातें करते रहे। बन्धुदत्तको देशसे निकाल दिया गया।

कमलाने अपने व्रतका उद्यापन किया। पूरे जैन संघको दावत दी। कुछ दिन रहकर वह अपने पिताके घर चली आयी। क्योंकि उसके पतिने अभीतक अपनी भूल स्वीकार नहीं की थी। राजाकी आज्ञासे उसे यहाँ रहना पड़ा था। उसके साथ उसकी बहू भी हो ली। उसके जानेपर धनवइने व्यंग्यमें कहा कि वह राजाकी आज्ञाको भी कुछ नहीं समझती। इसपर कमलाकी सहेली कंचनमालाने उसका पक्ष लेते हुए कहा, 'तुम्हींने तो सौतके संकेतपर उस बेचारीका हृदय दुखाया, अब भी तुम्हारे दिमाग़में स्वरूपवती है। तुम जान-बूझकर उसका अपमान कर रहे हो।' यह बात धनवइको लग गयी, जाकर उसने कमलासे क्षमा माँगी। वह उसे आदरपूर्वक अपने घर ले आया।

भविसके दिन चैनसे कट रहे थे। एक रात उसकी पत्नी कुछ उदास थी क्योंकि भविस राजाकी लड़कीसे विवाह करने जा रहा था। कुमारने उसे विश्वास दिलाया, उसकी ऐसी इच्छा नहीं है। परन्तु उसने कहा, 'कौन कह सकता है कि तुम दूसरा विवाह नहीं करोगे।' तब भविस बोला,

मैं सुमित्राको हृदयसे नहीं चाहता, फिर सम्पत्तिकी देख-रेख करनेके लिए एक पत्नी और चाहिए। इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है ?

कुछ समय बाद पोदनपुरके सिन्धुनरेशका दूत यह प्रस्ताव लेकर आया कि गजपुरनरेशको उसकी अधीनता मान लेनी चाहिए। अधीनताकी दो शर्तें थीं—१. कर दो, और २. अपनी लड़की ब्याह दो। राजाने सभ्योंकी रायसे दूतको कोरा जवाब देकर बिदा कर दिया। युद्धकी तैयारी शुरू हो गयी। भविस भी युद्धमें लड़ा। उसने सिन्धुनरेशको बन्दी बना लिया। विजयके उपरान्त राजाने कुमारको राज्यश्री और कन्या दोनों अर्पित कर दीं, उसका अभिषेक हुआ और दूसरा विवाह भी। अब प्रश्न बन्दी शत्रुओंका था। उसकी माँने कहा कि या तो शत्रुको मुक्त कर दो या समाप्त। उसने मन्त्रियोंको बुला परामर्श करके शत्रुओंको मुक्त कर दिया।

भविष्यानुरूपाके गर्भ रह गया, उसे तिलकद्वीप घूमने और चन्द्रप्रभुके मन्दिरमें वन्दना-भक्ति करनेकी इच्छा हुई। मुनियों-द्वारा भेजे गये विमानमें बैठकर वे दोनों वहाँ गये। उन्होंने दो मुनियोंके भी दर्शन किये। उन्होंने इन दोनोंके भवान्तरोंका हाल सुनाया, जिनधर्मका उपदेश तो हुआ ही। यह सब सुनकर कुमारका हृदय विरक्त हो उठा। घर आकर उसने पुत्रको गद्दी सौंप दी। प्रजाको उपहार बाँटे। उसने और उसकी पत्नी दोनोंने दीक्षा ग्रहण की और मरकर वे स्वर्ग गये। वहाँसे वे अपने पूर्व भवोंके स्थान देखने गये।

लम्बे समय बाद भविसका पुत्र भी शिकार खेलने गया, वहाँ उसने मृगके एक जोड़ेको मरा हुआ देखा, वह भी विरक्त हो गया, उसने दीक्षा ले ली।

आलोचना—उपलब्ध अपभ्रंश कथा-काव्योंमें सचमुच ही भविसकी कहानी करुण और यथार्थ है। कथाकारने घटनाओंका वर्णन और पात्रोंका चित्रण बहुत ही सहृदयतासे किया है। मनुष्य-हृदयको छूनेवाली प्रत्येक घटनाका वह सूक्ष्म विश्लेषण करता है। कथाके विकासमें दो प्रकारकी घटनाएँ स्पष्ट रूपसे हैं—अतिरंजित और स्वाभाविक। यद्यपि णायकुमार चरिउकी तरह यह कथा भी श्रुतपंचमी व्रतका फल बतानेके लिए लिखी गयी है, और दोनों कथाओंका प्रारम्भ सापत्न्य द्वेषसे होता है, फिर भी भविसयत्त कथामें घटनाओंका विकास सम्बद्ध, स्वाभाविक और संवेदनीय है। नागकुमारको बहुत-सी बातें अपनी ही माँकी विचित्र

प्रकृतिके कारण झेलनी पड़ीं। पिताकी सहानुभूति उसे प्राप्त थी। वह जो बाहर घूमता फिरा वह बहुत कुछ अपने रोमाण्टिक स्वभावके कारण। लेखकने मार-कूटकर उन सारी घटनाओंको एक सूत्रमें पिरोया है; परन्तु भविसयत्तकहामें यह बात नहीं। यहाँ तो घटना मनुष्यकी दुर्बलता लेकर विकसित होती है। भविसकी माँको उसके पिताने केवल इसलिए पीहर जानेके लिए कह दिया कि वह उसे अब अच्छी नहीं लगती। वह भी माँके पास चला गया। उसके बाद धनवइके दूसरे विवाह, और नयी पत्नीके ठाठ-बाटको देखकर, कमला और उसके आत्मीय जनोंमें ईर्ष्याका होना स्वाभाविक ही था। तदनन्तर पुत्रका लालन-पालन, विदेश यात्राका प्रस्ताव, माँका मना करना, बन्धुदत्तसे भेंट, बिदाई आदि घटनाओंका स्वाभाविक ढंगसे विकास होता है। तिलकद्वीप और उससे सम्बन्ध रखने-वाली घटनाएँ अवश्य ही अतिरंजित हैं; लेकिन वहाँसे स्वदेश लौटनेके बादसे लेकर भविसके राज्याभिषेक तककी घटनाएँ स्वाभाविक हैं। उनका विकास भी मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढंगसे होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि शुद्ध मानवीय घटनाओंके भीतर इन अतिरंजित घटनाओंको रखनेकी क्या आवश्यकता थी। मेरी समझसे इसके तीन कारण हो सकते हैं—१. धार्मिक प्रभाव, २. प्रचलित परम्परा, और ३. लोकरुचिका अनुकरण। पउमसिरि चरिउके कथानकमें भी स्वाभाविकता और सामाजिकता है, पर उसमें दो भवोंकी घटनाओंका वर्णन होनेसे कुछ अस्वाभाविकता ही है। कथाकार धनपालकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह घटनाओंके विन्यास-में पात्रोंके व्यक्तित्वके विकासका पूरा ध्यान रखते हैं। अतिरंजित स्थलको छोड़कर उनकी घटनाएँ व्यर्थ नियोजित नहीं जान पड़तीं। यदि भविस राजासे कहकर अपनी पत्नीके चरित्रकी परीक्षा लेता है तो उसकी पत्नी भी, उसके दूसरे विवाहके प्रसंग आनेपर आश्वासन ले लेती है। अपमानिता कमला तबतक धनवइके घर नहीं जाती जबतक वह क्षमा माँग उसे लेने नहीं जाता। विवाहमें घर जाती है, पर काम होनेपर चली आती है, सौतके न रहनेपर भी वह नहीं रहती। परन्तु धनवइके व्यक्तित्वको बचानेके लिए कविने बीचमें सखी कंचनमालाकी सृष्टि कर दी। भविसमें जो सद्गुण और सफलता हम देखते हैं उसका श्रेय उसकी माँको है। राजा होनेपर भी वह उसे परामर्श देनेसे नहीं चूकती। एक बातसे और इसके कथानकका महत्त्व बढ़ जाता है। पउमसिरि चरिउमें पद्मश्री

पतिपरित्यक्ता होकर आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश कर लेती है। परन्तु कमला अपने लौकिक दायित्वसे मुक्त नहीं होती, वह धर्मका सहारा लेती है, और वात्सल्यसे प्रेरित होकर वह अन्यायको चुपचाप सह लेती है, पर अपने कर्त्तव्यको ईमानदारी, सचाई और पूरी ममतासे निभाना चाहती है। यहाँ धर्म, भावका अंग है न कि भाव धर्मका। धार्मिकताके अनुरोधसे यदि धनपालने इसमें पूर्व भव और तिलकद्वीपका दैवी अंश न बढ़ाया होता तो यह कथा आधुनिक कथा-साहित्यके बहुत निकट होती। वैसे भी अधिक दूर नहीं है। उद्देश्य, चरित्र-चित्रण, कथा-विकासकी दृष्टिसे मैं ऐसे अबतकके उपलब्ध अपभ्रंश चरित-काव्योंमें इसे पहला स्थान देनेके पक्षमें हूँ।

हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराणके लेखक कवि धाहिल १० और ११वी के बीच हुए। उनकी माताका नाम केसल्ल और पिताका सूर था। कविने अपने गुरुका नाम अम्बसेन बताया है। उसने प्रस्तावनामें कवि-परम्पराका विस्तृत ब्यौरा दिया है। चतुर्मुखके बारेमें उसकी यह उक्ति महत्त्व रखती है—

'हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिया जह या
तेह विरयमि लोय पिया जणो ण णासेइ दंसणं पउरे।'

इससे जान पड़ता है कि चतुर्मुखने पाण्डव और कृष्णपर प्रबन्ध-काव्य लिखा था। धाहिलकी रचनाका उद्देश्य हरि और पाण्डवोंकी कथा-को जैन दृष्टि और परम्पराके अनुसार काव्यात्मक रूप देना था। चतुर्मुख स्वयंभूसे प्राचीन कवि है। स्वयंभूने चतुर्मुखके कई अवतरण स्वयंभू छन्दमें दिये हैं। सन्देशरासककार अब्दुल रहमानने भी चतुर्मुखका उल्लेख किया है। इस प्रकार चतुर्मुख अपभ्रंशके सबसे प्राचीन, ज्ञात, पर अनुपलब्ध कवि सिद्ध होते है। खोज करनेपर, सम्भव है, उनकी रचनाएँ उपलब्ध हो जायें? उनकी रचनाएँ अपभ्रंश काव्यधाराकी एक महत्त्वपूर्ण खोयी कड़ी जोड़ देंगी, इसमें सन्देह नहीं।

११२ सन्धियोंके प्रस्तुत हरिवंश पुराणमें सन्धिके नियमोंका विधिवत् पालन नहीं है। इसमें अपभ्रंश काव्यकी सभी रूढ़ियोंका निर्वाह है। शैली अलंकृत है, और कथा रसवन्ती। समूची रचना जैन स्वभावसे आपन्न है। यह अभी अप्रकाशित है, इसकी पहली सूचना डॉ० हीरालालने

सन् १९२५ में दी थी। इसकी एक प्रति, बड़ा तेरह पन्थियोंके जैन मन्दिर, जयपुरमें है।

जम्बूसामि चरिउ

जम्बूसामि चरिउ एक अप्रकाशित रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्र भण्डारमें है। इसके रचयिता वीर कवि ग्यारहवीं सदीके प्रथम चरणमें हुए। इनके पिताका नाम देवदत्त और माताका सन्तुआ था। वीरकी कई पत्नियाँ थीं। इनके पिता देवदत्त भी कवि थे, उन्होंने पद्धडियाबन्धमें 'वरांग चरित' की रचना की थी। वह अपने पिताकी गिनती स्वयंभू और पुष्पदन्तके समकक्ष करते हैं—

संते संयंभुए एवे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया
जायम्मि पुप्फयन्ते तिण्णितहा देवयत्तंमि ॥ ५·१ ॥

बीच-बीचमें संस्कृतमें आत्मप्रशंसा भी है। परन्तु कथाके प्रवाहमें वह सभी काव्य-रूढ़ियोंका निर्वाह करता है। इसमें जन्म-जन्मान्तरोंके सन्दर्भमें जम्बूस्वामीका जीवन वर्णित है। वह कथाका नायक है। उसके वर्तमान यश, प्रताप और वैभवके मूलमें उसके पूर्व भवोंका घटनाक्रम सम्बद्ध है। वह इस बातका प्रतीक है कि 'मनुष्य' जो कुछ होता है वह अपनी अतीत घटनाओंका फल होता है। नये धार्मिक अनुष्ठानसे वह अपने भविष्यको सुधार सकता है और वर्तमानको सन्तुलित रख सकता है। चरित-काव्योंके अन्य कथा-नायकोंकी भाँति उसके जीवनकी समाप्ति भी विरक्तिमें होती है। श्रोता-वक्ता शैली, कथाकी आर्षपरम्परा वही जानी-मानी राजा श्रेणिक और गौतम गणधरसे प्रारम्भ होती है। उसीका चरित्र, इसमें केन्द्रीय चरित्र है, शेष पात्र और घटनाएँ उसीके परिप्रेक्ष्यमें नियोजित हैं। नाना साहित्यिक शैलियों और वर्णनोंके अनुसरणके मोहसे कथानक अस्वाभाविक हो उठा है। शेष बातें अपभ्रंश चरित-काव्योंके अनुरूप हैं। नाना रसोंसे उद्वेलित कथा अन्तमें शान्तिमें प्रशमित होती है।

जम्बूस्वामीके जिस जीवनकी घटनाएँ प्रस्तुत काव्यमें वर्णित हैं, उसकी परम्परा कई जन्म पहले प्रारम्भ होती है। मगध देशके वर्धमान गाँवमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी थे। उनके दो पुत्र थे, एक १८ वर्षका, दूसरा १२ वर्षका। पिताकी मृत्यु और माँके सती हो जानेपर एक भाई भवदत्त दिगम्बर मुनि हो गया। दूसरा अपने विवाहकी तैयारीमें लगा

हुआ था। आखिर अपने भाईके कहनेपर वह भी दीक्षित हो गया, पर उसका मन बार-बार संसारकी ओर जाता। दोनों भाई अनेक जन्म-परम्पराओंमें घूमते रहे, अन्तमें भवदत्त ही जम्बूस्वामीके नामसे उत्पन्न हुआ। उसके पिताका नाम अरहदास था। जम्बूस्वामीमें वे सब गुण एक साथ थे, जो किसी युवकमें दुर्लभ होते हैं। अनेक घटनाओंके केन्द्रमें होकर भी जम्बूस्वामीका मन संसारमें नहीं लगता था। निदान, एक नहीं चार-चार कन्याओंसे उनका विवाह कर दिया गया। स्वामीके मनमें भोग और योगमें जब कभी द्वन्द्व उठ खड़ा होता, पत्नियाँ उसके वैराग्यका मज़ाक़ उड़ातीं, इसी बीच विद्युच्चोरसे उसका विवाद होता है। अन्तमें जम्बूस्वामी विरक्त हो जाते हैं। इस प्रकार समूची कथा प्रतीक रूपमें ग्रहीत है। राग और विरागका द्वन्द्व दिखानेके लिए सारी घटनाएँ और जन्मपरम्पराएँ वर्णित की गयी हैं। मनुष्य रागसे ऊपर उठना चाहता है, पर सांसारिक परिस्थितियाँ उसे ऊपर नहीं उठने देतीं। जम्बूस्वामीका चरित्र इसी बातका निदर्शन है। लगातार साधना-के बाद ही व्यक्ति उनपर विजय प्राप्त कर सकता है।

सुदंसण चरिउ

आमेर शास्त्र भण्डारमे इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, एक डॉ० हीरालाल जैनके पास है। कवि नयनन्दीने १२ सन्धियोंके प्रस्तुत काव्यमें सुदर्शनके चरित्रका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उनकी 'सकल विधि-विधान' रचना भी मिलती है। इनका समय ११वीं सदी है। सुदर्शन चरित्रकी रचना, अवन्तीनरेश भोजराजके समय हुई। सम्भवतः रचना धारा नगरीमें हुई। जैसा कि निम्न पुष्पिकासे ज्ञात होता है—

"आरामगाम पुरवरणिवेसे सुपसिद्ध अवंती नाम देसे
तहिं अत्थि धार नयरी गरिट्ठ।
तिहुयण नारायण सिरि पिकेउ तहिं णरवर पुंगमु भोय देउ
णिव विक्कम कालहो नव गएंसु एयारह संवच्छरसएसु
तहिं केवल चरिउ अमच्छरेण णयणंदे विरइउ वित्थरेण।"

यह माणिक्यनन्दीके शिष्य थे। पहली सन्धिमें कथाकी परम्परा है। दूसरीमे गौतम गणधर बताते हैं कि भरत क्षेत्रके अंगरथमें चम्पापुरी नगर था। उसमे धाडीवाहन राजा रहता था। उसकी रानी अभया थी। उसी नगरमें ऋषभदास सेठ था। उसकी पत्नीका नाम अर्हदासी था। उसके

यहाँ, पूर्व जन्मका एक गोपाल, णमोकार मन्त्रके प्रभावसे सुदर्शन नामसे पुत्र हुआ। वह अनिन्द्य सुन्दर और मेधावी था। युवतियोंको आकृष्ट करनेमें उसे कामदेव समझिए। सुदर्शन सागरदत्तकी लड़की मनोरमापर रीझ गया। वह उसे पानेके लिए व्याकुल हो उठा। दोनोंका विवाह हुआ। धाडीवाहन राजाकी पत्नी अभया और कपिला नामकी एक अन्य स्त्री भी उसपर आसक्त हो गयी। रानीने पण्डिता नामक धायके माध्यमसे सुदर्शनसे मिलनेका उपाय किया। किसी तरह सुदर्शन रानीके पास पहुँचा, पर रानी उसे फुसलानेमें असमर्थ रही। तब उसने सुदर्शनपर उलटा आरोप लगाकर पकड़वा दिया। उस समय व्यन्तर देवताने उसकी रक्षा की। व्यन्तरसे युद्धमें धाडीवाहन हार गया। अन्तमें राजा और सुदर्शन संन्यासी बन गये। अभया और कपिला नरक गयीं। जन्म-जन्मान्तरोंके वर्णनके साथ कथा परिसमाप्त होती है। यह भी धार्मिक उद्देश्यसे लिखित प्रबन्ध-काव्य है, जिसमे घटनाएँ और कथाएँ कतिपय धार्मिक मान्यताओंको सिद्ध करनेके लिए कथानकमें चिपकायी गयी हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, अपभ्रंश प्रबन्धोंके इतिवृत्तके बन्धको, अपभ्रंश कवियोंके धार्मिक कोणसे देखना चाहिए। सुदर्शनचरितमें रानी अभयाका सेठपुत्र सुदर्शनके प्रति अपने पतिकी उपस्थितिमें आकृष्ट होना एक सामाजिक विसंगति है, यह स्वीकार्य है। पर यह सामन्तवादपर वणिक्वादकी विजय है ? उसके मूलमें धार्मिक पुण्य काम कर रहा है। बहुत बार, ये कवि नहीं बताते कि आखिर, रानी अभया या कपिलाके इन सामाजिक आकर्षणका मनोवैज्ञानिक या पारिवारिक कारण क्या था ? तो भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता, इसमें सबसे बड़ा कारण मानव स्वभाव ही है। सुदर्शन भी भावुक और प्रेमी है, वह मनोरमाके प्रति आकृष्ट होता है, पर अपनी नयी असामाजिक प्रेमिकाओंके प्रति नहीं। उसके चरित्रकी यह गतिशीलता और स्थिरता ही ऊँचा उठाती है ? यह बात भी अनुसन्धानकी अपेक्षा रखती है। सुदर्शनको पूर्व भवके गोपका अवतार क्यों बताया गया ?

अन्य अपभ्रंश चरित-कवियोंकी भाँति नयनन्दीके भी काव्यादर्श थे। उसके अनुसार तरुणियोंके विद्रुमजड़ित अधरों, सरस इक्षुदण्ड, अमृत चन्दन और चन्द्रमामें वह रस नहीं, जो अलंकार युक्त काव्यके कथनमें रस होता है—'सालंकरे सुकहभणिदे जं होदि कव्वे।'

इसी प्रकार प्रकृतिवर्णन और छन्दोयोजना परम्पराके अनुरूप है। प्रकृति

प्रायः संयोग-वियोगके सन्दर्भमें वर्णित है। शृंगारकी अन्तिम परिसमाप्ति शान्तमें है। स्त्रियोंके चार भेदोंकी कल्पना है। यह भी तत्कालीन प्रबन्ध-काव्योंकी एक प्रवृत्ति थी। पर इसका सम्बन्ध नायिका-भेदसे जोड़ना उचित नहीं। जहाँ अलंकृत भाषा नहीं है, वहाँ लोकोक्ति और मुहावरोंसे भाषा अपने स्वाभाविक निखारपर है। युद्ध वर्णनमें कामशास्त्रीय उपमानोंकी योजना है। यह अपभ्रंश प्रबन्ध-कवियोंकी सामान्य प्रवृत्ति है। उक्ति-छलसे कविने अपनी रचनाको निर्दोष स्वीकार किया है। यह निर्दोषता चरित्रगत है, प्रबन्धगत नहीं। उसका कहना है कि रामायणमे राम और सीताका वियोग है। महाभारतमें यादव, पाण्डव और धृतराष्ट्रके वंशोंका भयंकर क्षय हुआ; परन्तु सुदर्शनके चरितमें कलंककी एक रेखा भी नही? यह कथन ही कविके आध्यात्मिक दृष्टिकोणको स्पष्ट कर देता है। सकलविधिविधान एक कर्मकाण्डात्मक रचना है, शुद्ध काव्य नहीं।

पास चरिउ

प्रस्तुत काव्यकी दो प्रतियाँ—हस्तलिखित—आमेर शास्त्र भण्डारमें हैं। कवि पद्मकीर्तिने २३वें तीर्थंकरका चित्रण किया है। कुल १८ सन्धियोंके इस काव्यमें कवि अपनेको जिनसेनका शिष्य बताता है। यह दसवीं सदीके आस-पासकी रचना है। डॉ० हीरालाल इसे शक संवत् ९९९ की मानते हैं।

पासणाह चरिउ

इसके लेखक श्रीधर आयरवाल १२वीं और १३वींके सन्धिकालमें हुए। आयरवालका तत्सम अग्रवाल है। पासणाह चरिउके अतिरिक्त इन्होंने दो चरित-काव्य सुकुमाल चरिउ और भविसयत्त चरिउ भी लिखे। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डारमे हैं। कविकी माँका नाम बील्हा और पिताका गोल्ह था। श्री नट्टलसाहुकी प्रेरणासे इस काव्यकी रचना हुई। बीचमें संस्कृत छन्दोंमें कवि अपने प्रेरणादाताकी प्रशंसा भी करता है। पार्श्वनाथकी कथा ज्योंकी त्यों है। वर्णन परम्परागत है। उसमें दिल्लीका सुन्दर वर्णन है। सुकुमाल चरिउकी कथावस्तु भी जैन प्रबन्ध-काव्य-परम्परामें काफ़ी लोकप्रिय रही है।

सुकुमाल चरिउ

सुकुमाल चरिउ एक दूसरा चरित-काव्य है। इसके रचयिता भी कवि

श्रीधर गुजराती थे। प्रस्तुत कृति अहमदाबादमें राजा गोविन्दचन्द्रके समय लिखी गयी। कविने प्रत्येक सन्धिकी पुष्पिकामें अपने आश्रयदाताका उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रुतपंचमीका माहात्म्य बतानेके लिए उसने भविसयत्त कहाकी रचना की। भविसयत्तका आख्यान भी जैन-परम्परामें काफ़ी लोकप्रिय रहा है।

सुलोचना चरिउ

सुलोचना चरिउ कवि देवसेनगणीकी रचना है। राक्षस संवत्सरमें यह ग्रन्थ समाप्त हुआ। ज्योतिष-गणनाके अनुसार यह संवत्सर पड़ता है जुलाई १०७५ या जुलाई १३१५। कविने पूर्वकवियोंकी लम्बी सूची दी है। वाल्मीकि, व्यास, श्रीहर्ष, कालिदास, बाण और मयूर यह तो हुई संस्कृत कवियोंकी परम्परा। अपभ्रंश कवियोंमे हलिय, गोविन्द, चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि हैं। इनका जन्म १३०५ के पूर्वमें कभी हुआ। सुलोचनाकी कथा पुष्पदन्तके महापुराणमें भी है। जैन कथाओंमें यह कथा भी काफ़ी लोकप्रिय रही है। धवल पुराणकारने भी इसके चरित-पर एक काव्य लिखा। मुख्य रूपसे इसमे सुलोचनाका चरित्र अंकित है। इसी प्रकार प्रद्युम्न चरितपर सिंह कविने रचना की है। उसके पिताका नाम रल्हण है और माताका जिनमती। यह गुर्जर कुलका था। पण्डितोंका अनुमान है कि सिद्ध कविने पहले इसका निर्माण किया था। उसके बाद सिंहने उसे समाप्त घोषित किया। काव्यमें सौराष्ट्रके प्राकृतिक सौन्दर्यकी झलक है।

सनत्कुमार चरिउ

सनत्कुमार चरिउके रचयिता श्रीहरिभद्रसूरि श्रीजिनचन्द्र सूरिके प्रशिष्य थे। इसकी रचना अणहिल पाटनमें १२वीं सदीके अन्तिम चरणमें हुई। चालुक्यवंशी सिद्धराज और कुमारपालके अमात्य पृथ्वीपालके आश्रयमें रहकर उन्होंने इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने मल्लिनाथ चरितकी प्राकृतमें रचना की। सनत्कुमार चरिउ १९२१ में डॉ० हरमन जैकोबी-द्वारा सम्पादित हो चुका है। वैसे यह नेमिनाथ चरितका ही एक अंग है; परन्तु कथानककी दृष्टिसे इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। सनत्कुमार गजपुरके राजा अश्वसेन और रानी सुहदेवीका पुत्र था। राजसी परम्पराओंमें पलकर कुमार बड़ा होता है। वसन्तके एक सुहावने

दिन वह एक सुन्दरीको देखता है। दोनों एक दूसरेपर मुग्ध। मदनायतन-में उनका मिलन। इसी बीच भोजराज पुत्र कुमारको जलधिकल्लोल नामक एक प्रसिद्ध घोड़ा देता है। वह कुमारको लेकर उड़ जाता है। राजधानीमें हाहाकार। कुमारकी खोजका शासकीय आदेश। सनत्कुमार-का मित्र अश्वसेन भी उसे खोजते-खोजते मानसरोवर जा पहुँचता है। वहाँ एक किन्नरी अपनी गीतलहरीमें कुमारका वर्णन कर रही थी। उससे कुमारका वृत्तान्त ज्ञात होता है। इस बीच कुमार अनेक रमणियोंको अपना बना चुके थे। जिस युवतीसे प्रारम्भमें प्रेम था, उसे यक्ष हर ले गया था। बादमें उससे विवाह। इसके बाद उसके वीर कार्यो और साहसी घटनाओंका उल्लेख है। अन्तमें चक्रवर्ती पद पाकर रूपकी क्षीणतम विरक्ति उन्हें संन्यासी बना देती है। दीर्घकालीन साधनाके बाद वह मुक्त होते है। अन्य रोमाण्टिक चरित-काव्योंकी भाँति ही आलोच्य कृतिका शिल्प, शैली और चरित्र-चित्रण है।

अन्य कथा-साहित्य

अपभ्रंशमें कुछ कथा-साहित्य भी उपलब्ध है। कथाके प्रति मानव जातिका आकर्षण सभ्यताके आदि युगसे रहा है। इसीलिए कथाओंके माध्यमसे मनुष्य अपने आदर्शों, विचारों और मतोंको अभिव्यक्त करता रहा है। अपभ्रंशमें भी धार्मिक उपदेशों और स्वमतके समर्थन अथवा सैद्धान्तिक बातोंके प्रतिपादनके लिए कथाओंका सहारा लिया गया है। तीन कारणोंसे हम उनका विचार ठीक नहीं समझते—एक तो उनका स्वर एक दम साम्प्रदायिक और उपदेशात्मक है, दूसरे बहुत-सी परम्परा मुक्त हैं, उसमें कहानीकारकी कल्पनाकी थोड़ी भी झलक नहीं, तीसरे काव्यात्मक दृष्टिकोणसे इन कथाओंका कोई मूल्य नहीं। उनमें कुछको कथा कहना भी कठिन है। डॉ० कोछड़ने इस प्रकारकी कुछ कथाओंका परिचय दिया है। धर्म-परिक्खा, हरिषेण वि० स० १०४४। कथा कोष-रचयिता कवि १२वीं सदी। इसमें सभी प्रकारकी कथाओंका संग्रह है। रत्नकरण्ड शास्त्र-रचयिता श्रीचन्द कवि। वस्तुतः इसमें आचार्य समन्तभद्र-के रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी कथात्मक व्याख्या है। स्थूलभद्र कथा—इसमें स्थूलभद्र और कोशाका आख्यान है। ब्रह्मचर्यकी महिमा बतानेके लिए इसकी रचना की गयी है। छकम्मोवएस अमरकीर्ति-द्वारा रचित वि० सं० १२४७ की कृति है। उसने इसके अतिरिक्त दूसरे चरित-काव्योंकी

रचना की। अनुवयरयण पईउ—वि० सं० १३१३ में : १२५६ ईसवीमें लिखित। कवि लक्खण इसके लेखक हैं। इसमें प्रत्येक अणुव्रतका माहात्म्य कथाके माध्यमसे समझाया गया है। डॉ० जैनने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल भाग १, पृ० १८१ में दस अपभ्रंश कथाओंके नाम दिये हैं। पं० परमानन्द जैनने भी कोई एक दर्जन अपभ्रंश कथाकृतियोंका उल्लेख किया है। यहाँ इनका विश्लेषण अप्रासंगिक है।

सम्बन्ध-निर्वाह और भावुकता—आचार्य शुक्लने ये दोनों प्रबन्ध-काव्यके आवश्यक गुण माने हैं। सम्बन्ध-निर्वाहमें मुख्यतया इन बातोंका विचार होता है—

१. आधारिक और अवान्तर कथामें सन्तुलन हो;
२. घटनाओंमें कार्य-कारणयोजना; और
३. अवान्तर कथा मुख्य कथाको गतिशील बनानेमें सहायक हो।

(जा० ग्र० पृ० ७३)

किन्तु मेरी सम्मतिमें इस प्रकारके कथामूलक चरित-काव्योंमें ऐसे कथानककी आशा करना व्यर्थ है। इसीलिए संस्कृत महाकाव्योंमें यह आवश्यक नहीं माना गया। शुक्लजीने काव्यके दो भेद किये हैं—चरितप्रधान और घटनाप्रधान, पर जिन काव्योंको लक्ष्यमें रखकर उन्होंने यह विभाजन किया है, उन्हे देखते हुए ऐसा करना युक्तिसंगत नहीं जँचता। बात यह है कि ऐसे काव्यमे चरित और घटनाको विन्यासकी दृष्टिसे अलग-अलग दिखाना कठिन ही नहीं असम्भव है। नाटकमें यह सम्भव हो, पर काव्यमें नहीं, विशेषतः उन काव्योंमें जिनमें कि शुक्लजीने यह भेद लक्षित किया है। घटनाप्रधानमें अवान्तर कथाएँ एक मुख्य सूत्रमें अन्वित रहती हैं। जब कि चरित-काव्यमे नायकके साहसपूर्ण कार्योंका उल्लेख रहता है। जहाँतक आलोच्य साहित्यका सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि उसमें ऐसा भेद करना ठीक नहीं। फिर भी जहाँ सम्बन्ध-निर्वाह या वैज्ञानिक विश्लेषणके स्थल दिखे, मैंने यथाक्रम उल्लेख कर दिया है। शुक्लजीने रामचरितमानस और पद्मावतको घटनाप्रधान माना है, मेरी स्पष्ट सम्मतिमें वे भी वस्तुतः चरित-काव्य हैं, एक पौराणिक और दूसरा रोमैण्टिक। शुक्लजीने इनमें क्रमशः मुख्यः कार्य माने हैं—'रावणवध' और 'पद्मावतीका सती होना' (जा० ग्र० पृ० ७३)। ये दोनों राम और पद्मावतीके मुख्य जीवन-कार्य हो सकते हैं; परन्तु देखना चाहिए कि कविका अपना लक्ष्य

क्या है ? स्पष्ट ही उनका लक्ष्य है, क्रमशः रामकी भक्ति और प्रेमकी पीरका महत्त्व दिखाना। यही कारण है कि रावणवध और पद्मावतीके सती हो चुकनेपर काव्यकी समाप्ति नहीं होती, प्रत्युत कवि अपनी धार्मिक आस्थाका तल्लीनतासे वर्णन करते रहते हैं। अतः इनमें नायकका कार्य मुख्य न होकर कविका लक्ष्य ही मुख्य है। यह बात हमें भाषा चरित-काव्योंमें भी दिखाई देती है। घटनाप्रधान काव्योंमें नायकका चरित आदिसे इति तक अंकित करना आवश्यक नहीं, चरित-काव्यमें आवश्यक है। रामचरितमानस और पद्मावतमें पूरा ही जीवन है। शुक्लजीने कार्य-कारणयोजना दिखानेके लिए समुद्रसे प्राप्त पाँच रत्नोंका उल्लेख विशेष रूपसे किया है क्योंकि अलाउद्दीन सन्धिके समय उन्हीं रत्नोंको माँगता है। जहाँतक मैं समझता हूँ, पाँच रत्नोंका उल्लेख, सम्बन्ध-निर्वाहको सूचित करनेके लिए नहीं, अपितु योगमतके प्रभावके कारण है। जायसी इससे प्रभावित थे, और इस मतमें ५ की संख्याका महत्त्व है। [शैवमत ५ मन्त्र मानता है और योगमत ५ उपाय। ये हैं वास, जप, ध्यान, स्मृति और प्रसाद] कार्यकी तीन अवस्थाओं—प्रारम्भ, विकास और नियतिकी योजनाके विषयमें यही समझना चाहिए। क्योंकि कुशल लेखक अपनी कथाके विकासका थोड़ा-बहुत ध्यान रखता ही है।

किसी कविकी भावुकताको पहचाननेके लिए शुक्लजीने तीन लक्षण माने हैं—मार्मिक स्थलोंकी पहचान, भावोंका विस्तार और भावोंकी गहराई। मैं यह मानता हूँ कि ये भावुकताके गुण हो सकते हैं; परन्तु यथार्थमें भावुकताका सम्बन्ध कविके दृष्टिकोणसे होता है। मान लीजिए कोई प्रबन्ध-कवि भक्त है, तो निश्चय ही वह कथामें ऐसे प्रसंग खोज-खोजकर लायेगा जिसमें उसकी भक्ति-भावना रम सके। उक्त तीन बातोंके सिवा, प्रकृति-चित्रण, अलंकार-योजना या अन्य काव्यात्मक विवरणोंमें कविके इस भावुक दृष्टिकोणका प्रभाव पड़ता है। प्रबन्ध-कविकी भावुकता जिस रूपमें होगी, उसी रूपमें मुक्तक-कविकी हो, यह नियम नहीं बनाया जा सकता। इन तथ्योंके आधारपर अपभ्रंश कवियोंकी भावुकताको परखनेका प्रयत्न या निर्देश प्रायः सभी प्रकरणोंमें किया गया है। कथाके कौशल-पूर्ण विन्यासको देखते हुए इसे कथा कहनेकी तबीयत होती है, परन्तु कविने चरित-काव्यके तथोक्त उपादानोंको भी मिला दिया है। अतः यह भी चरित-काव्योंकी सीमामें ही आता है। वास्तवमें देखा जाये तो अपभ्रंश कवि चरित-काव्य और कथा-काव्यमें भेद नहीं करते। आचार्य

हेमचन्द्रके काव्यानुशासनसे भी इस मतका समर्थन होता है[1]।

आत्मपरिचय और मंगलाचरण – अपना परिचय और मंगलाचरणकी प्रवृत्ति अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी एक अनिवार्य विशेषता है। परिचय संक्षिप्त और संकेतात्मक होता है। इससे, कविका समय, जन्म-स्थान और वंश-परम्पराके निर्णयमें बहुत सहायता मिलती है। इसे काव्यात्मक परिचय कहना अधिक ठीक होगा। स्वयंभू कवि अपने परिचयमें कहते हैं कि 'पद्मिनीसे जन्मा मैं, पिता मारुतदेवके अनुरागसे भरा हूँ (पउमिणि गब्भसंभूए मारूयदेव अणुराएं)। आत्मपरिचयकी तुलनामें, अपने काव्यका परिचय देनेमें, अपभ्रंश कवि विशेष सजग दिखाई देता है। उदाहरणके लिए, स्वयंभूका कवि दृढ़ताके स्वरमें अपना यह विश्वास प्रकट करता है कि बुधजनरूपी भ्रमरोंसे परिचुम्बित उसका काव्यकमल अमर होकर रहेगा। कभी-कभी, आत्मपरिचयके प्रसंगमें ये कवि अपनी काव्य-रचनाकी प्रेरणाओंका भी उल्लेख कर देते हैं। पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। यह प्रसंग या तो काव्यके प्रारम्भमें आता है, जिसे उत्थानिका कहते हैं या फिर प्रशस्तिमें जो ग्रन्थके अन्तमें होती है। जीवनके प्रसंगमें इसका विचार किया गया है। मंगलाचरणमें प्रायः इष्टदेवकी वन्दना होती है या फिर सरस्वतीकी। कभी-कभी वह अपने काव्यके प्रयोजनोंका भी संकेत दे देता है।

आत्मलघुता व्यक्त करना अपभ्रंश कवियोंका विशेष गुण है। कवि कालिदासने भी रघुवंशके प्रारम्भमें विनय प्रकट करते हुए कहा है कि मेरा रघुवंशका वर्णन करना वैसा ही है जैसा बौने आदमीका समुद्र तैरना। लेकिन उत्तरकालीन संस्कृत साहित्यमें आत्मगर्वोक्तिका भाव अधिक बढ़ा। इसके दो कारण हैं—एक तो राज्याश्रय और दूसरे दार्शनिक और तार्किक विद्वानोंका काव्य-रचनामें प्रवृत्त होना। अपभ्रंश कवि प्रायः इससे दूर ही हैं। कवि स्वयंभू अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहते हैं –

बुहयण सयंभु पइं विण्णवइ मइं सरिसउ अण्णु णाहिं कुंकइ।
वायरणउ कयावि ण जाणियउ णउ वित्ति सुत्तु वक्खाणियउ।
णउ पच्चाहरहो तत्ति किय णउ संधि हैं उप्परि बुद्धि किय।
णउ सुणउ सत्त विहत्तियउ छव्विहउ समास पउत्तियउ।
छक्कारउ दस लकार ण सुय वीसोवसग्ग पच्चय बहुय।

---

१. देखिए : प्रकीर्णकमें 'आचार्य हेमचन्द्र और कथा काव्य।'

ण बलाबल धाउ णिपाय गणु ण उ लिंग उणाइ वक्कु वयणु ।
णउ णिसुणिउ पंच महायकव्वु णउ भरहु गेउ लक्खणु विसव्वु ।
णउ बुज्झिउ पिंगल पित्थारु णउ मम्मह दंडि अलंकारु ।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रड्ढा बद्ध कव्वु करमि ।
सामण्ण भास छुडु सावडउ छुडु आगम जुत्ति कावि घडउ ।
छुडु होंतु सुहासिय वयणाइं गामिल्लभास परिहरणायाइं ।

इसका अर्थ है कवि इन सब बातोंका जानकार है। तभी वह निषेध कर रहा है। उनके काव्यको देखनेसे यही जान पड़ता है कि उन्हें काव्य और शास्त्रका अच्छा अभ्यास था। एक तरहसे उन्होंने यह भी बता दिया कि उनके काव्यके स्रोत ये हैं – भरत, भामह, दण्डी, जैन आगम और पाँच महाकाव्य। अर्थात् उनकी रचना व्याकरण, साहित्य, छन्द और धर्म सभी शास्त्रोंसे सम्मत है। कवि पुष्पदन्त अपने बारेमें यह कहते हैं –

णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि ।
जइ विरइय जय वंदेहिं आसि मुणिंदहिं सा कह केम समाणमि ।
(म० पु० १, ९)

इसके बाद वह कहते है कि मैं अकलंक, कपिल, वैशेषिक, वैदिक, बौद्ध और चार्वाक (दर्शनों) को नहीं जानता। न मैं दत्तिल और विसाहिल-को जानता हूँ। भरत मुनि और पतंजलिकी रचनाओंका मैंने अभ्यास नहीं किया। इतिहास और पुराणोंका भी ज्ञान मुझे नहीं है। भावाधिप, भारवि, भरत, व्यास, कोहल, कालिदास, चतुर्मुख, स्वयंभू, श्रीहर्ष, द्रोण, ईशान और बाणको भी नहीं जानता। इसके अनन्तर उसने व्याकरण, जैनागम, अलंकार, शास्त्र, पिंगल विस्तारके प्रति अपना अज्ञान प्रकट किया है। (म० पु० संधि १, कड० ९ पूरा) अन्तमे वह कहता है –

हउं बप्प णिरक्खर कुक्खिमुक्खु वेसें णर हिंडम्मि चम्मरुक्खु ।
अइ दुग्गमु होइ महा पुराणु कुडएण मवई को जल णिहाणु ।
(वही पृ० १०)

अपने प्रयत्नके औचित्यके विषयमें उनका कहना है –

तं हउं विकहमि भत्ति भरेण कि णहि ण भमिजइ महुहरेण ।

इसके अतिरिक्त, पुष्पदन्तने संस्कृत पद्योंमें आत्म गौरवकी भी व्यंजना की है। स्वाभिमान और विनयका उनके स्वभावमें विचित्र मेल था। कवि

अपनेको निरक्षर कहता है परन्तु ज्ञात अपभ्रंश कवियोंमें शायद वही सबसे अधिक साक्षर थे।

कनकामर भी प्रायः अपनी अल्पज्ञता उक्त कवियोंके स्वरमें स्वर मिलाकर ही व्यक्त करते हैं —

वायरणु ण जाणमि जइवि छंदु

(कर० च० पृ० १)

धनपाल अपनी अकिंचनताकी घोषणा इस तरह करते हैं —

मैं गुणहीन और अर्थहीन हूँ, प्रतिभा और वैभव दोनोंमें क्षीण होनेसे मैं विद्वानोंकी सभामें शोभा पाने योग्य नहीं हूँ। निर्धन व्यक्तिकी कोई शोभा नहीं होती और धन बिना पुण्यके नहीं मिलता। फिर भी मैं थोड़ा-बहुत प्रयत्न करता हूँ। जिसकी जितनी बुद्धि होती है वह उतनी ही अभिव्यक्ति कर सकता है। महाकवियोंकी कथासे क्या, चन्द्रमाके उदय होनेपर क्या जुगनू अपना चमकना बन्द कर देता है।

(भवि० क० पृ० १)

कवि रहमान पहले अपनेसे पूर्वके कवियोंका वर्णन करते हैं, फिर कहते है कि मुझ-जैसे कवियोंकी प्रशंसा कौन करेगा। तब भी वह इस कामसे विरत नहीं हो सकता। क्योंकि चन्द्रोदय होनेपर भी घरमें दिया जलाया ही जाता है।

(सं० र[illegible] पृ० ३, ४, ५)

जोइन्दु ग्रन्थके अन्तमें इतना कहते हैं —

जं मइं किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु।
तं वरणाणि खमंतु महु, जे बुज्झहिं परमत्थु।

मैने जो कुछ कहा वह उचित-अनुचित रहा होगा, परन्तु जो परमार्थके यथार्थ वेत्ता हैं वे मुझे क्षमा कर ही देंगे। उनका अर्थ यह है कि जो ज्ञानी परमार्थको जानते हैं वे भाषाके माध्यमकी त्रुटियोंको नहीं देखेंगे और मूर्खसे क्षमा-याचनाका कोई महत्त्व ही नहीं है। डॉ० अग्रवाल लिखते हैं कि अपने पूर्ववर्ती कवियों और लेखकोंको नमस्कार करनेकी यह पद्धति गद्य-कथाओंमें आवश्यक अंग समझी जाती थी। बाणके पहले सुबन्धुमें भी यह हम पाते हैं। बाणके बादके लेखकोंमें यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ी हुई मिलती है, जैसे धनपालकी तिलक-मंजरीमें। प्राकृत और अपभ्रंशके प्रायः सभी कवियोंने इस परिपाटीका अनुसरण किया है।

(ह० सां० आ० पृ० ७) हमारा अनुमान है कि यह प्राकृत-कवियोंकी देन है और इसके निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं –

१. धार्मिक परम्परामें गुरु-परम्पराका निर्देश आवश्यक था, इसका अनुकरण साहित्यमें भी हुआ ।

२. लोक-भाषामें काव्य-रचनाके कारण वे आत्म-लघुतासे अपने प्रयत्नको कटु आलोचनासे बचाना चाहते थे ।

३. संस्कृत-साहित्यके कठोर उपहाससे बचनेके लिए ।

सज्जन-दुर्जन वर्णन – सज्जन-दुर्जनका वर्णन भी अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यका आवश्यक अंग है। मुक्तकमें भी यह है। परवर्ती संस्कृत-साहित्यमें यह विशेषता थी । पउम चरिउमें स्वयम्भू सज्जनके साथ दुर्जनके प्रति भी हाथ जोड़ते हैं –

एहु सज्जण लोय हो किउ विणउ जें अबहु पइरिसिउ अप्पणउ ।
जइं एम विरूसइ कोवि खलु तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु ।

पिसुणें किं अब्भत्थिएं ण जसु कोवि ण रुच्चइ ।
किं छणयंदु महागहेण कम्पंतु विमुच्चइ ।

(प० च० १ पृ० ५)

दूसरे भागमें सज्जनसे कविका तात्पर्य कलामर्मज्ञ विद्वान्से जान पड़ता है –

जगे लोयहुं पंडियहुं सइत्थ सत्थ परिचड्ढियहुं ।
किं चित्तइं गेण्हेंवि सत्तिकयइं वामेण विजाइं ण रंजियइं ।

(भाग २, १४)

पुष्पदन्त सज्जन-दुर्जनका श्लेषमें इस प्रकार स्मरण करते हैं—

गो वज्जिएहिं णं पण दिणेहिं सुरवर चवेहिं व णिग्गुणेहिं ।
महलिय चित्तहिं णं जरघरेहिं छिद्दण्णेसिहिं णं विसहरेहिं ।
जड वाइए हिं णं गय रसेहिं दोसायरेहिं णं रक्खसहिं ।
आचक्खिय परपुट्ठी पलेहिं वरवइ णिंदिज्जइ हय खलेहिं ।
जो बाल वुड्ढ संतोस हेउ रामाहिरामु लक्खण समेउ ।
जो सुगाइ कइवई विहियसेउ तासुवि दुज्जणु किं परिम होउ ।

यहाँ दुर्जनसे कविका अभिप्राय काव्यके दुष्ट आलोचकसे है। भरतके दोबारा अनुरोध करनेपर कवि कहता है–

वव गय विवेउ मसि कसण काउ सुंदर पयंसि किं रमइ काउ ।
णिक्कारणु दारुणु बद्धरोसु दुज्जणु ससहावे लेइ दोसु ।
(म० पु० १ पृ० ९)

अन्तमें कवि इन शब्दोंके साथ ग्रन्थ प्रारम्भ करता है—
लइ णिंदउ दुज्जणु मच्छरेण लइ कहमि कव्वु किं वित्थरेण ।
णायकुमार चरिउमें भी कविने चलते ढंगसे यह उल्लेख कर दिया है
(पृ० ५) ।

कनकामरका कथन है—
जइ दुज्जण वंकुउ भणि णिरुत्तु जइ जणवउ णीरसु मलिण चित्तु ।
(कर० च० पृ० ३)

कविका तात्पर्य उनसे है जो दिलसे खोटे हैं या उसके काव्यमें रुचि नहीं रखते । धनपाल इस प्रकार छींटाकसी करते हैं—

परिछइ सएहिं वावारु जासु गुणवंतु कहिंमि वि कोवि तासु ।
अवरइ गवेसइ वर कईहिं दोसहं अब्भासइ महसईहिं ।
एक्कोवि रयण मंजण समत्थु एक्कु वि करइ वत्थु वि अवत्थु ।
अणु विणु वासइ दुव्वारु वासु अप्पणउं ण कोहवि कहिं वि तासु ।
णउ सक्कइ दिक्खिवि परहो रिद्धि णउ सहइ सउ रिसहं गुण पसिद्धि ।
जगडंतु भमइ सज्जणहंविंदु विवरीउ निरंकुसु जिह गइंदु ।
दुव्वयण वियड्ढु एक्कुवि दुम्मइं सुयण सय
जो भक्खइ मंसु तासु कहिं मि किं होइ दय ।
(भवि० क० २)

यहाँ कविका अभिप्राय उन लोगोंसे है जो सामाजिक दृष्टिसे ईर्ष्यालु और दुष्ट हैं । रहिमानने स्पष्ट रूपसे तो सज्जन-दुर्जनका उल्लेख नहीं किया, केवल इतना ही संकेत किया है कि मूर्ख मेरे काव्यको पढ़नेमें असमर्थ हैं । सावयधम्म दोहाकार व्यंग्योक्तिमें यह कहता है—

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसे, वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ।
मुनिराम सिंह यह कहते हैं—
भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सह संगु खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहिं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ।

इस तरह एक-दो अपवादोंको छोड़कर (प० सि० च०, जस० च०

आदि) प्रायः सभी रचनाओंमें सज्जन-दुर्जनका उल्लेख है। दो-तीन कारणोंसे इन कवियोंको खलजनोंकी यह शब्द-पूजा करनी पड़ी।

१. लोग उनकी कवितासे अरुचि रखते थे, क्योंकि वह अपभ्रंश-में थी।

२. कुछ लोगोंका स्वभाव भी दुष्ट होता है। मुक्तक-कवि सामाजिक दृष्टिसे सज्जन-दुर्जनका स्मरण करते हैं। कवि तुलसीने जो सज्जन-दुर्जनका वर्णन किया है वह भी इन्हीं दो कारणोंसे; परन्तु वह रामभक्ति-विरोधी-को भी असन्त ही समझते जान पड़ते हैं।

गीत तत्त्व—मंगलाचरणके अतिरिक्त स्तुति और वन्दना भी अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंका आवश्यक अंग है। शैली, स्वरूप और लक्ष्यकी दृष्टिसे ये गीत-काव्यके अधिक निकट हैं, यह अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि गीत कविता इस युगका प्रमुख तत्त्व थी। दक्षिणके नायम्बार और आलवारोंकी भक्तिका गेय रूप गीतोंमें ही था। सिद्ध कवियोंके गीत पद मिलते हैं। आगे हमने यह बताया है कि अधिकांश अपभ्रंश छन्द गीत तत्त्वसे प्रभावित हैं। गीतमूलक इन छन्दोंकी लोकप्रियताका अनुमान इसीसे लग सकता है कि संस्कृत-कवियोंने भी इसके आधारपर नये संस्कृत छन्द रचे। बाण भट्टने भाषा-कवि ईशानका उल्लेख किया है। डॉ० अग्रवालका अनुमान है कि यह लोकभाषामें गीतोंकी रचना करनेवाला कोई कवि था (ह० सां० अ० २८)। सोमदेवने अपभ्रंश छन्द-चतुष्पदी पद्धतिका आदिका खूब प्रयोग किया है। जयदेवका गीत-गोविन्द भी स्वयं इस लोकगीत काव्य-परम्परासे प्रभावित है। प्रेमीजीने इस बातका सप्रमाण खण्डन किया है कि विमलसूरिका पउम चरियं रवि-षेणके पद्मपुराणकी नक़ल है। इसके विपरीत दूसरा पहलेसे प्रभावित है। लोकगीतोंके तुकपर अध्यात्मपरक गीतोंकी रचना करना भारतीय कवियोंके स्वभावके बहुत अनुरूप है। भारतीय कवियोंके गीतोंका भक्तिसे अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। इन स्तुति और प्रार्थना-गीतोंकी विशेषताएँ रामचरितमानसमें देखी जा सकती हैं। पउम चरिउमें राम जब वन जाते हैं तो जगह-जगह जिन-मन्दिरोंमें प्रार्थना करते हैं। दूसरे काव्योंमें भी यही क्रम है। रामकी वनयात्रा तो (प० च०) तीर्थयात्रा बन गयी है। इन गीतोंकी शैलीमें विशेष अन्तर नहीं है। कहीं विरोध और श्लेष भी मिल जाता है। नीचे विषय और शैलीकी दृष्टिसे इनके कुछ नमूने दिये जा रहे हैं—

१. किसी स्तुतिमें जिनेन्द्रके लोकोत्तर और विकार-नाशक रूपका अनुभूतिमूलक चित्रण होता है—

जय णाह सव्व देवाहिदेव किय णाग नरेन्द्र सुरेन्द्र सेव।
जय तिभुवण सामिय तिविह छत्त अट्ठ विह परम गुण रिद्धि पत्त।
जय परम परंपर वीयराय सुर मउड कोडि मणि घिस्त पाय।
जय सव्व जीव कारुण्ण भाव अक्खय अणंत पायडल सहाव।

(प० च० १ पृ० ९)

२. किसी स्तुतिमें अलंकृत शैलीमें कवि उपास्यका उल्लेख करता है—

जय अजर अमर पुर परमेसर जय जिण आइ पुराण महेसर।
जय दयधम्म रयण रत्नाकर जय अण्णाण तमोह दिवायर।
जय वम्मह निम्महण महाउस जय कलिकोह हुआसणो पाउस।
जय कसाय घण पलय समीरण जय माण इरि पुरंदर पहरण।

(प० च० १ पृ० २९)

३. किसी स्तुतिमें जिनेन्द्रपर शिवका आरोप है—

थुओ जिणणाहो विहूई सणाहो महादेव देवो ण तुंगो ण छेओ।
ण छेओ न मूलं ण चापं ण शूलं ण कंकालमाला ण दिट्ठी कराला।
न गउरी ण गंगा, ण चन्दो ण णागा।

(प० च० २, २८४)

यह आरोप निषेधमूलक है।

४. किसी प्रार्थनामें एक ओर उपास्यका महत्त्व है तो दूसरी ओर भक्तकी दीनता—

भवविणासी भवो सिवपयासी सिवो देवदेवो तुमं ताहि, दीणं मम।
णिग्गुणो णिद्धणो दुम्मई णिग्घिणो।

(म० पु० १ पृ० १२९)

५. शिवके अतिरिक्त दूसरे हिन्दू देवोंका आरोप—

जय संकर संकर विहिय संति जय ससहर कुवलय विण्ण कंति।
जय जय गणेश गणवइ जणेर नय बंभ पसाहिय बंभ चेर।
वेयंग णाइ जय कमक जोणि आई वराह उद्धरिय खोणि।
जय माहव तिहुवण माहवेस महु सूयण दूसिय महु विसेस।

(म० पु० १ पृ० १२९)

६. किसी प्रार्थनामें कवि अपने शरीर, ऐहिक अस्तित्व, विद्या और कलाकी सार्थकता जिन-भक्तिमें ही समझता है –

णयणाइं ताइं दिट्ठोसि जेंहिं सो कंठु जेण गायउ सरेहिं ।
ते धण्ण कण्ण जे पइं सणंति ते कर जे तुह पेसणु करंति ।
ते णाणवंतु जे पइं मुणंति ते सुकइ सुयण जे पइं थुणंति ।
तं कव्वु देव जं तुज्झ रइउ सा जीह जाइ, तुह णाव लइउ ।

(म० पु० १ पृ० १७१)

७. शिव और जिनमें अभिन्नता। इसमें केवल आलंकारिक प्रदर्शन नहीं है, किन्तु उदारता भी लक्षित होती है –

जय भव, भवंत, जय दाणवंत जय गोरि रमण, जय सुविस गण ।
जय तिउर डहण, जय मयण महण ।

इसमें शिव और जिन समकक्ष हैं। बन्दना दोनोंकी है, केवल श्लेषसे अर्थ बदलते हैं, मूल भाव नहीं।

८. कहीं-कहीं श्लेष, विरोध और यमककी शैली मिलती है –

वीरं अघोरं कयविहि घोरं उवसम णिलय पसमियणिलय ।
कंदरवालं कंदरणीलं ।

(म० पु० २ सन्धि २)

इसके अतिरिक्त चारणगीतका नमूना भी है। रामने नर्तकके वेशमें अनन्तवीर्यके दरबारमें यह गाना गाया था –

जो परबल समुद्दे महणाइ जो परबल मियंके महणाइ ।
जो परबल गयणेहिं चंदायइ जो परबल गइंदे सीहायइ ।
जो परबल रयणहिं हंसायइ ।

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें जहाँ अनुप्रेक्षाओं या विरक्तिके क्षणोंमें नायकके आत्मचिन्तनका वर्णन है वहाँ भी गीततत्त्व समझना चाहिए। ऐसे प्रसंगमें चिन्तककी दृष्टि अन्तर्मुखी और भावनामयी होती है।

अपभ्रंश काव्योंमें इस बातका उल्लेख है कि महापुरुषोंके नामपर लोक-गीत उस समय प्रचलित थे। महापुराणमें कई जगह धवल गीतोंका उल्लेख है। इनका विषय 'कृष्णका जीवन' था। कृष्णने बैलके रूपमें आये हुए अरिष्ट राक्षसको मारा था। उसीपर-से ये धवल गीत कहलाये। डॉ० वैद्यका कहना है कि महाराष्ट्रमें ये गीत 'ढवल गीत' के नामसे

प्रसिद्ध हैं। आज मराठीमें भी ये मिलते हैं। (म० पु० ३ पृ० ३०५)। करकण्ड चरिउ में मदनावली करकण्डुके गीत सुनकर ही उसपर मुग्ध हो उठी थी। स्वयंभू और पुष्पदन्त नाना छन्दोंमें निबद्ध स्तुतिका निर्देश करते हैं (म० पु० १, १६८)। आचार्य हेमचन्दने लिखा है कि धवल उसे कहते हैं जिसमें वीर पुरुषकी प्रशंसा की जाती है। इस कीर्तिगानमें ८, ६ या ४ चरण होते हैं (अ० पृ० ३७)। यह धवल जातिवाचक भी है और जब रासावलय, उत्साह वदनक आदि छन्दोंमें राज-स्तुति की जाती है तो वे वदनधवल, उत्साहधवल आदि नामसे पुकारे जाते हैं और इन्हींमें जब देवताओंकी स्तुति की जाती है तब वे 'फुल्लउक' कहलाते हैं। कहीं-कहीं जब बहुत हलकी भाषामें लयके साथ अपभ्रंश कवि वर्णन करते हैं तो लगता है जैसे तत्कालीन लोकगीतोंका रूप उनके मनमें है। रावण सीता-को देखकर कहता है —

थीयण सारी णयण पियारी चंदय गोरी हियय पियारी।
सेल सिहल संचाकण चंडहिं सा अवरुंडनजइ मुय दंडहिं।

(म० पु० २, ४०५)

चित्रपटमें श्रीमतीका रूप देखकर लोग कह उठते हैं—

केण भणिया, पुत्तलिया रूय कोमलिया वण्णुज्जलिया
ऐसा बाला, सामलिया णामें ललिया अक्किकोंतलिया

(म० पु० १, ३६२)

या अमृतवतीका रूप चित्रण—

उज्जलियाए पत्तलियाए सामलियाए कोमलियाए
मुहलकियाए पिय महिलाए सह णिव सामो सह विलसामो
सह भुंजामो सह कीलामो

(जस० च० २४)

इस प्रकार भारतीय साहित्यमें लोकगीतोंकी अविच्छिन्न परम्परा देखी जा सकती है।

अनुश्रुतियाँ और अवान्तर कथाएँ—

वस्तुतत्त्वके विवरणमें यह हम देख चुके हैं कि अपभ्रंश प्रबन्ध-कवि अनुश्रुतियों और अवान्तर कथाओंका भी उपयोग करते हैं। सुविधाके लिए हम यहाँ मुख्य-मुख्य कथाओंका उल्लेख कर रहे हैं। यह उल्लेख प्रत्येक काव्यके अनुसार ही है।

महापुराण

गंगाकी उत्पत्ति—हिन्दू पुराणके अनुसार भगीरथने अपने पुरखोंके उद्धारके लिए घोर तप किया। उनके तपके प्रभावसे ब्रह्माने गंगाको मर्त्यलोक भेजा, सबसे पहले वह शिवजीके जटाजूटपर उतरीं, उसके बाद धरतीपर। जैन पुराणमें गंगाकी उत्पत्तिका दूसरा ही कारण दिया है। उसके अनुसार अयोध्याके राजा सगरके साठ हजार पुत्र कैलासपर्वतपर गये, वहाँ उन्होंने जिन-मन्दिरकी सुरक्षाके लिए उसके चारों ओर गंगाका पानी बहानेके लिए खाई खोदना शुरू किया, परन्तु धोखेसे उनका दण्डरत्न पातालमें जाकर फणीन्द्रसे टकरा गया। नागराजकी क्रुद्ध फूत्कारसे सब जलकर खाक हो गये, केवल भीम और भगीरथ बच गये।

त्रिविष्टप् और हयग्रीव—जैन अनुश्रुतिमें वासुदेव और प्रति-वासुदेव माने गये हैं। त्रिविष्टप्का भाई विजय बलभद्र था। उनका पिता पोदनपुरका राजा दण्डधारी था। एक बार हयग्रीवने पोदनपुरपर हमला किया, उसके दूतने सन्धिमें दण्डधारीकी लड़की माँगी। राजा तैयार था, पर भाइयोंने मना कर दिया, अन्तमें हयग्रीव मारा गया (सं० २)।

अमोघजीव ब्राह्मण—तपसे भ्रष्ट होकर अमोघजीव कुण्डल देश पहुँचा। वहाँ उसने निमित्त विद्याका अध्ययन किया। उसके गुरु बृहस्पति-के शिष्य थे। वहाँसे वह अपने मामा सोमशर्माके यहाँ गया। उसने लड़की और धन इसे दे दिया; परन्तु धीरे-धीरे उसका धन पूरा हो गया। पत्नीने उसे उद्यम करनेके लिए कहा, इतनेमें एक चिनगारी उसके सिर-पर गिरी; लेकिन पत्नीने जल डालकर उसे बुझा दिया। वह राजा श्रीविजयके पास गया। उसने कहा, 'तुम्हारे ऊपर बिजली गिरेगी और मेरा रत्नोंसे अभिषेक होगा।' यह सुनकर राजा सुरक्षाके लिए समुद्रमें घुस गया; लेकिन ठीक समय एक मच्छने उसे उछाल दिया और उसी समय उसपर बिजली गिर पड़ी, वह मर गया। बादमें वह राजा अनेक योनियोंमें घूमता फिरा।

राजा अरविन्द—अरविन्द एक राजा था। उसके दो पुत्र थे—कुरु-विन्द और हरिश्चन्द। एक दिन राजाके शरीरमें जलन हुई। वैद्योंने कहा कि पशुरक्तमें नहानेसे यह ठीक होगी। राजाने पुत्रोंसे इसका प्रबन्ध करनेके लिए कहा। पुत्रोंने बनावटी रक्त ला दिया। राजाको जब यह मालूम हुआ तो वह उन्हें मारने दौड़ा; परन्तु वह अपनी ही तलवारपर गिर पड़ा और कटकर मर गया।

कपिल मतकी उत्पत्ति—भरतने रिसभ जिनसे बहुत-सी बातें पूछीं। उन्होंने उन सबका उत्तर देकर कहा कि मेरे समान २३ तीर्थंकर और होंगे। अन्तिम तीर्थंकर मेरा नाती मारीचि होगा। यह सुनकर मारीचि बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सांख्य मतकी स्थापना कर दी। सांख्य-सूत्र बनाये, उनकी व्याख्या की। कपिल उसका प्रधान शिष्य था। बादमें अनेक योनियोंमें भटककर वह महावीर बना।

हारकी चोरी—राजा गुणपालको दो रानियाँ थीं – कुबेरेश्वरी और सत्यवती। सत्यवतीके दो भाई थे – पृथुधी और वसु। एक दिन कोतवाल, मन्त्रीका लड़का और राजाका दासीपुत्र, एक वेश्याके यहाँ गये। संयोगसे सत्यवतीका भाई पृथुधी भी वहाँ पहुँचा। वेश्याने उससे हार लानेको कहा। वह बहनका हार चुराकर ले आया। राजाने मन्त्रीसे हारका पता लगानेको कहा। मन्त्रीने दासियोंको भेजकर वेश्यासे पुछवाया। उसने हाथ-पैर पीटकर मंजूषा खोलकर दिखा दी। अन्तमें राजाने सबको सजा दी।

सुकेतु और नागदत्त—ये दोनों किसान थे। नागदत्तने गाँवके बाहर एक नागमन्दिर बनवाया। एक दिन सुकेतुकी पत्नी भोजन लेकर खेतपर गयी। रास्तेमें उसने वह भोजन मुनिको खिला दिया। यह देखकर देवोंने रत्नोंकी वर्षा की। नागदत्तने उन रत्नोंपर अपना अधिकार जमाया, क्योंकि वे उसकी सीमामें बरसे थे; लेकिन सुकेतुका कहना था कि वे मेरी पत्नीके आहार-दानके कारण बरसे। निर्णयके लिए नागदत्त रत्नोंको राजा-के पास ले गया; लेकिन रास्तेमें वे ईंट बन गये, फलतः उसने सुकेतुको ही वे रत्न वापस कर दिये। बादमे उसने बदला लेना चाहा; परन्तु एक देवने आकर उसे मना कर दिया।

राजा वसु—ब्राह्मण कदम्बके तीन शिष्य थे – राजा वसु, नारद और पर्वतक। अन्तिम उसका बेटा था। बहुत समय बाद नारद अपने गुरु-पुत्र और सहपाठीसे मिलने आया। उस समय वह वेद पढ़ा रहा था। 'अजैर्यष्टव्यम्' का उसने अर्थ किया, 'छागसे बलि देनी चाहिए।' नारदने अर्थ किया, 'तीन सालके पुराने धान्यसे बलि दी जाये।' इसपर दोनोंमें वाद-विवाद हो गया। निर्णयके लिए वे दोनों राजा वसुके पास पहुँचे। वह सत्यवादी था; लेकिन पर्वतककी माँ उसके यहाँ गयी। उसने गुरुदक्षिणामें राजासे यही कहा कि आप मेरे बेटेकी बातका समर्थन करें। राजाने ऐसा ही किया; परन्तु झूठ बोलते ही उसका आसन धँस गया, वह नरकमें गया।

पिप्पलाद – काशीमें पण्डित सोमशर्मा थे। उनकी दो लड़कियाँ थीं – सुभद्रा और सुलसा। दोनों विदुषी थीं। याज्ञवल्क्यने सुलसाको हरा दिया। वह उसपर आसक्त हो गयी। विवाहके बाद उनकी सन्तान हुई, पर उसे वे पीपलके पेड़के नीचे डालकर चले गये, तब बड़ी बहन सुभद्रा उसे उठा लायी और पाल-पोसकर बड़ा किया, बड़ा होनेपर वह अपने पिताके पास आया और उन्हें पराजित किया। उसने उन्हें अपने मतमें दीक्षित किया। पीपलके पेड़के नीचे उत्पन्न होनेसे उनका नाम पिप्पलाद पड़ा।

परशुराम – कोशलपुरका राजा सहस्रबाहु था और कान्यकुब्जका पारद। इसने अपनी लड़की मृणालवती सहस्रको ब्याह दी। उससे कृतवीर्य उत्पन्न हुआ। पारदकी बहन श्रीमतीसे जमदग्नि पैदा हुआ। बचपनमें उसकी माँ मर गयी। अतः वह साधु बन गया। एक बार दो देवता उसे समझाने आये – एक जिनभक्त था, दूसरा शिवभक्त। पहले वे आपसमें विवाद करने लगे फिर पक्षी बनकर जमदग्निकी दाढ़ीमें घुस गये। वे आपसमें कुछ कहने लगे, इसपर जमदग्नि भड़क उठा। वे भाग गये। पर एक जाते-जाते यह कह गया कि वैदिक धर्मके अनुसार बिना पुत्रके मुक्ति सम्भव नहीं। अब उसे विवाह करनेकी सूझी, पर कोई उसे लड़की देनेको तैयार नहीं हुआ। अतः उसने सबको कुब्जा होनेका शाप दे दिया। इससे उस नगरका नाम ही कान्यकुब्ज हो गया। अन्तमें रेणुकासे उसका विवाह हुआ। उससे दो पुत्र हुए – इन्द्रराम और श्वेतराम। मामाने उन्हें कुछ धन भी दे दिया, उनके पास कामधेनु थी। वे कुटियामें रहते थे। एक दिन राजा सहस्रवीर्य उनके यहाँ आया। उसने वह गाय माँगी। ऋषिने मना कर दिया। वह छीनकर ले गया। जमदग्नि इस लड़ाईमें मारा गया। जब पुत्र बाहरसे आये तो माँने सब हाल उन्हें सुनाया। फिर क्या था, परशुरामने साकेत जाकर क्षत्रियोंका संहार कर दिया। इस बार उसने ऐसा किया कि वह स्वयं सार्वभौम राजा बन बैठा। उसने सारी धरती ब्राह्मणोंको बाँट दी। ब्राह्मणोंमें पशुवध आदि बुरी बातें तभीसे आयीं। बादमें सुभीम चक्रवर्तीने उसका अन्त कर दिया।

हिन्दू परम्पराके अनुसार जमदग्निने इक्ष्वाकुवंशकी राजकुमारी रेणुकासे विवाह किया था। परशुराम उसीसे उत्पन्न हुए और अर्जुन कृतवीर्य हैहय जातिका था। भृगु लोग आकर अनूपदेशमें बस गये थे। हैहयों और भृगुओंमें मित्रता थी, पर कृतवीर्य इनकी उपेक्षा करने लगा – आश्रम

जला दिये, गायें छीन लीं। जमदग्निको मार दिया, तब परशुरामने इसका बदला लिया। राजा चित्ररथसे आसक्त होनेपर पिताके कहनेपर उसने मांको मार डाला।

मुख्य घटनामें अन्तर नहीं है। प्राय: यह देखा गया है कि जैन कथाकार धार्मिक रंग देनेके लिए कभी-कभी हिन्दू पौराणिक कथामें जोड़-तोड़ कर देते हैं।

नारदकी बुद्धिमानी – नारद बहुत बुद्धिमान् था, अत: गुरु कदम्ब उसपर प्रसन्न थे, पर गुरुपत्नी हमेशा अपने बेटे पर्वतकका पक्ष लेती। एक दिन गुरुने पर्वतकसे कहा, 'जाओ, इस मेषके कान ऐसी जगह काटना जहाँ कोई न हो'। वह गया और कान काट लाया। दूसरे दिन उन्होंने नारदसे यही बात की, पर उसने आकर बताया, 'ऐसी जगह है ही नहीं जहाँ कोई न हो'– यह सुनकर गुरुपत्नी चुप रह गयी।

पउम चरिउ

अरुणागम नगरमें राम-लक्ष्मण पहुँचे। वे एक गरीब कपिल ब्राह्मणकी कुटियामें जाकर पानी पीने लगे। लौटनेपर वह ब्राह्मण खूब बिगड़ा। लक्ष्मणको क्रोध आ गया, पर भाईने रोक दिया। वहाँसे चलकर वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे, इतनेमें वर्षा आ गयी। जब यक्षको उनके आनेका पता चला, तो उसने रामपुरी बसा दी। वहाँ रामने खूब दान किया, पर उन्हीं लोगोंको जो जिन-मन्दिरके दर्शन करके आते थे। कपिलने भी ऐसा किया।

करकंड चरिउ

चण्डाल विद्याधर कुमार करकण्डुको चार कथाएँ सुनाता है–

१. मन्त्रकी शक्ति–ब्राह्मण और वैश्य धन कमाने गये। उन्हें विद्याएँ सिद्ध थीं। लौटते समय ब्राह्मणकी ससुराल मिली, दोनों वहाँ ठहर गये; परन्तु वहाँके राजाकी लड़कीको एक राक्षस उठाकर ले गया था। इन दोनोंने विद्याके बलसे राक्षसको पराजित किया, लड़की राजाको वापस कर दी।

२. मन्त्रहीन–बनारसमें दो मूर्ख मित्र रहते थे। वे धन कमाने परदेश गये। रास्तेमें उन्हें एक राक्षस मिला, देखकर वे डर गये। वह दोनोंको पकड़ ले गया, बादमें एक यात्रीने उन्हें छुड़ाया। अत: मन्त्रहीनकी संगति करना ठीक नहीं।

३. नीच संगति–सुदर्शन नामका राजा था। उसने बनियेसे कहा कि

तुम बिना ओठ छुए यदि यह गाथा पढ़ दो तो धरती दूँगा, उसने गाथा पढ़ दी। राजाने भी धरती दे दी। बनियेका सम्बन्ध एक दासीसे हो गया। उसे गर्भ रह गया। उसने राजाके मोरका मांस खानेकी इच्छा व्यक्त की। बनियेने राजाका मोर छिपाकर दूसरे जीवका मांस दे दिया। जब मोरकी तलाश हुई तो दासीने चुग़ली कर दी। राजाने वधकी आज्ञा दी; परन्तु बनियेने ठीक समय मोर लाकर अपने प्राण बचा लिये।

४. सत्संगति—बनारसका राजा अरविन्द शिकार खेलने गया। भूखे-प्यासे उसे एक बनियेने तीन अमृत फल दिये। घर आकर राजाने उसे अपना मन्त्री बना लिया। एक दिन उसने अपनी प्रेमिका वेश्यासे कहा कि राजपुत्रको मारकर ये आभूषण लाया हूँ। राजाने अपने पुत्रकी खोज की। जब नहीं मिला तो मुनादी पिटवा दी। वेश्याने राजाको मन्त्रीका नाम बता दिया। राजाने मन्त्रीको बुलाकर कहा, 'मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने जो तीन फल दिये उनमें-से एकका फल मैंने चुका दिया।'

नरवाहनदत्त—विद्याधरने वियोगी करकण्डुको समझानेके लिए सुनायी थी—

वह वत्स देशका राजा था, उसकी पत्नीको एक विद्याधर हर ले गया। वह मरनेपर उतारू थी; किन्तु किसी विद्याधरीसे उसकी भेंट हुई। इसका प्रेमी किसी ऋषिके शापसे तोता बन गया था, पर उसने यह भी बता दिया था कि नरवाहन और रतिविभ्रमाका विवाह होनेपर उसका पति ठीक हो जायेगा। इसी बीच एक विद्याधरी रतिविभ्रमाका चित्रपट लेकर आयी। उसने बताया कि रतिविभ्रमा नरवाहनदत्तके लिए छटपटा रही है, किसी अपहृताने उसे राजाका नाम बता दिया। यह सुनकर विद्याधरी राजा नरवाहनको विजयार्धपर उठा ले गयी, वहाँ उसका विवाह रतिविभ्रमासे हो गया। विद्याधरीका पति तोतेसे फिर विद्याधर हो गया। नरवाहनकी खोयी हुई पत्नी भी मिल गयी। यह कहानी गुणाढ्यकी बृहत्कथासे ली गयी है।

माधव और मधुसूदन—नरवाहनके पिताकी मृत्यु हो गयी। वह दुःखी था। एक मुनिने उसे समझानेके लिए यह कथा सुनायी। माधव और मधुसूदन दो भाई थे। माधव ग़रीब हो गया, अपनी पत्नीके कहनेपर वह बड़े भाईके पास गया। भाईने उनका ख़ूब आदर किया, पर वह उसके वैभवको सहन नहीं कर सका। जंगलमें जाकर उसने इस संकल्पसे

तप करना शुरू कर दिया कि अगले भवमें मैं इसका लड़का बनूँ, और शीघ्र मरकर इसे दुःख दूँ। दूसरे जन्ममें ऐसा ही हुआ भी – वह बेटा बना और मर गया, बापको भी खूब दुःख हुआ, अतः वियोगमें शोक करना ठीक नहीं।

तोतेकी कहानी–उज्जैनके राजा अरिदमनने एक ग्वालेसे सुआ खरीदा। वह असलमें विद्याधर था, पर तोता बनकर राजाके हाथ बिक गया था। उसने राजाकी मन्त्रीका घोड़ा खरीदनेकी सलाह दी। उसने घोड़ा ले लिया, जैसे ही वह उसपर बैठा त्योंही घोड़ा उसे ले उड़ा। तोता भी साथ हो लिया। एक समुद्र-तटपर उन्होंने कुछ कुमारियोंको नहाते देखा। उसने रत्नलेखासे विवाह कर लिया। कई दिन बाद वे दोनों नावसे लौट रहे थे कि अचानक तूफ़ान आ जानेसे उनकी नाव किसी उजड़े द्वीपमें जा लगी। रातमें वे जब सो रहे थे तब कोई नाव उड़ा ले गया। तोतेके कहनेसे उन्होंने छोटी डोंगी बनायी, चलनेपर वह भी तूफ़ानमें फँस गयी, फलतः सब लोग बिछुड़ गये। रानी खम्बायतमें एक वेश्याके घर ठिकाने लगी। उसने यह घोषणा कर दी कि जो मुझे जुएमें जीतेगा, उसे अपना पति मानूँगी। किसी तरह यह खबर तोतेने अरिदमनको दी, उसने आकर रानीको जुएमें हरा दिया। परिचय होते ही वे एक हो गये और इसी समय घोड़ा भी उन्हे मिल गया। सब लोग घर आ गये।

तोतेकी आत्मकहानी—ग्वाला जब तोतेको बेचने ले जा रहा था, रास्तेमे एक वेश्या किसी सेठसे कह रही थी कि तुम धन दो, क्योंकि सपनेमे तुम्हारे लड़केको अपनी लड़कीके साथ देखा है। तोतेने बीचमें पड़कर सेठसे धन और दर्पण मँगाया। उसने दर्पणके आगे धन रख दिया, उसने वेश्यासे प्रतिबिम्बका धन लेनेको कहा, तब वह बोली, 'कही छायाका धन लिया जा सकता है ?' तोतेने तपाकसे कहा, 'क्या कभी सपनेकी बात भी सच हुई है ?' वेश्या चुप हो गयी। बादमें राजाको तोतेने अपना यह परिचय दिया, 'हम ५०० तोते थे, एक बार किसी भीलने हमें फँसा लिया, पर हम लोग मरे हुए बन गये। वह भी मरा समझकर छोड़-कर चलता बना। मैं बादमें तपस्वियोंके बाड़ेमें पहुँचा, वहाँ नाना पुराणोंका अध्ययन किया।'

स्त्रीरूपका परिवर्तन—रानी सुमित्रा उपवास कर मरी। अगले भवमें ब्राह्मणके घर लड़का हुई। उसका पिता बचपनमें मर गया। लड़का

आवारा हो गया। वह एक दिन किसी पुराने मन्दिरमें गया, उसे देखकर विद्याधरियाँ वहाँसे भाग गयीं। उनका एक चीर उसके हाथ लगा। उसने सेठको बेचा, सेठने राजाको। राजाने उसकी जोड़का एक और माँगा। ब्राह्मण कुमारने किसी तरह लाकर दूसरा चीर दे दिया। राजा उसपर खुश हो गया; परन्तु देखकर उसका मन्त्री कुढ़ गया, उसने राजासे कहकर उससे शेरनीका दूध और बोलता हुआ पानी मँगवाया। कुमारने राक्षसीकी सहायतासे ऐसा कर दिया; लेकिन राजाने मन्त्रीको निकालकर उसे मन्त्री बना दिया (यह कथा भावचन्दके शान्तिनाथ चरितमें भी मिलती है)।

सर्वश्रेष्ठ कौन—पूर्व भवमें करकण्डु ग्वाला था। एक बार उसने तालाबसे कमलका फूल तोड़ लिया। तब एक देवने कहा, 'तुमने अच्छा नहीं किया। अब यह किसी सर्वश्रेष्ठको ही चढाना।' ग्वालाने अपने सेठको वह फूल दिया, उसने राजाके पास भेज दिया, राजाने जैन मुनिके पास। मुनिने कहा, 'जिनेन्द्रको चढ़ा, क्योंकि वही सबसे बड़े हैं।' (भर्तृहरिके अमृतफलसे यह समानता रखती है)

शुभ शकुन—यह कथा विद्याधरने करकण्डुको सुनायी – 'किसी ब्राह्मणको मुनिराजके दर्शन हुए, वह शकुन समझकर नाचने लगा। इतनेमें एक राजपुत्र आया, उसने अपनी घोड़ी और क़ीमती वस्त्र देकर शकुनका फल ले लिया। आगे चलनेपर उसे सुदर्शना देवी मिली। रास्तेमें एक अन्धकूपमें साँप और मेंढक लड़ रहे थे। कुमारने अपने शरीरसे काटकर एक टुकड़ा उसमें फेंक दिया। वे दोनों आदमी बन गये। तीनों जा रहे थे। इतनेमें एक राजाने किसी स्त्रीको देखा, युवकको कुएँमें ढकेल उससे प्रेम करना चाहा, पर उसे साँपने काट खाया। उस स्त्रीने कुमारको कुएँसे निकाल लिया। बादमें उस कुमारको राजगद्दी मिली, देवी सुदर्शना भी शकुनका फल देकर चली गयी।

प्रकार और विशेषताएँ—ऊपरके वस्तु-परिचय और उसके संघटनको देखते हुए स्पष्ट है कि अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यके तीन प्रकार हैं—१. पौराणिक चरित-काव्य, २. धार्मिक चरित-काव्य, और ३. रोमाण्टिक चरित-काव्य। पहले प्रकारमें नायक तो पौराणिक होता है परन्तु कविकी दृष्टि भी पौराणिक होती है। पउम चरिउकी तरह रामचरितमानस भी चरित-काव्य है। मानस वह इसलिए है क्योंकि उसमें कविका एक विशेष

दार्शनिक लक्ष्य निहित है। धार्मिक चरित-काव्योंमें पौराणिकता कम होती है, धार्मिकता अधिक, जैसे जसहर चरिउ या भविसयत्त कहा इत्यादि। रोमाण्टिक चरितोंमें काल्पनिक या अतिरंजित कथाओंके अतिरिक्त नायकके धार्मिक और रोमाण्टिक साहसपूर्ण कार्योंका उल्लेख रहता है। कभी-कभी इनकी कथावस्तु भी ऐतिहासिक व्यक्तिसे सम्बन्ध रखती है; परन्तु उसमें इतिहास खोजना व्यर्थ है। जायसीका पद्मावत भी रोमाण्टिक चरित-काव्य है, शुक्लजीने उसके उत्तरार्धको ऐतिहासिक माना है। मेरा कहना यह है कि जायसीको इतिहासकी जानकारी हो सकती है, पर ऐतिहासिक काव्य लिखना उनका लक्ष्य नहीं था, अपने काव्यके बहुत-से उपादान लोक-परम्परासे उन्होंने ग्रहण किये। काव्यमें लौकिक काल्पनिक घटनाएँ तो हैं ही; परन्तु रतनसेनका जोगी बनना, समुद्र पार जाना, नाव डूबना, समुद्रका उपहार देना आदि सभी प्रसंगोंपर स्पष्ट ही पिछली काव्य-परम्पराका प्रभाव है। सूफ़ी दृष्टिसे चाहे वह धार्मिक काव्य समझा जाये, पर भारतीय दृष्टि उसे रोमाण्टिक ही समझेगी। जायसी काव्यमें प्रेमकी पीर व्यक्त करना चाहते थे, उनके सामने समस्या कथानककी थी। फ़ारसकी कथा यहाँ लोकप्रिय न होती, और हिन्दू पौराणिक कथा वे ले नहीं सकते थे। बस रतनसेन और अलाउद्दीनको पकड़ लिया, शेष तत्त्वोंको भी अपनी कल्पना और धार्मिक भावनाका रंग देकर अपना लिया। दो बातोंके लिए जायसीका विशिष्ट महत्त्व है – १. चलते कथानकमे आध्यात्मिक संकेत और २. प्राकृतिक सौन्दर्य – व्यापारों-द्वारा अव्यक्तकी प्रतीति। पर ऐसे संकेत आलोच्य काव्योंमें भी है। लौकिक वर्णनमे आध्यात्मिक संकेत कर देना अपभ्रंश कवि भी जानते है। जैसे जसहर चरिउ पृ० २६ में नायक पत्नीके शयनकक्षमें जाते हुए सात भूमियोंका उल्लेख करता है।

पढमुज्जल रयणुज्जल महि णं गयण विसुद्धि

३. ४, ५, और ६ के बाद वह ७वीं भूमिपर कहता है –

तहिं मंदिरे अइ सुंदरे सत्तवि भूमिउ दिट्ठउ

महु कंपइ मई एवहिं मइ णं णरए सु पइट्ठउ

संपत्तउ अट्ठमु धरणियलु मह तो वि ण णट्ठउ कम्ममलु।

यह प्रवंचनाका प्रसंग है, जायसीने प्रेमप्रसंगमे वर्णन किया है। लेकिन आध्यात्मिक संकेत दोनोंमें हैं। सात खण्ड या भूमिके महलका वर्णन काव्यकी प्राचीन परम्परा थी। प्रकृति-चित्रणमें भी ऐसे संकेत मिलते हैं (देखें,

प्रकृति-चित्रण) आलोच्य चरित-काव्योंका आध्यात्मिकता, धार्मिकता और भक्तिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हिन्दी काव्योंमें भी है। हाँ, इनमें प्रतीक योजना अवश्य नयी है, जो शायद नाटकोंसे ली गयी होगी। जहाँ-तक हिन्दी रासो काव्यका प्रश्न है, यह अवश्य विचारणीय है, पर हमारी धारणा यह है कि उसे चरित-काव्यके अधिक निकट होना चाहिए। उसमें वक्ता-श्रोता शैली, घटनाओंका मिश्रण, युद्ध और प्रेमके प्रसंग आदि बातें अपभ्रंश चरित-काव्यके समान हैं। छन्दोंमें उसका नवीन प्रयत्न है। उसकी कड़वकबद्ध रचना नहीं है। ऐतिहासिक व्यक्तिपर आधारित होनेसे उसमें प्रश्नोत्तरकी पौराणिक शैली न होकर लौकिक शैली है। संस्कृत कथा-साहित्यमें यह शैली जानी-पहचानी थी। 'रासो' नाम देखकर उसे गेय मान लेना ठीक नहीं, क्योंकि सन्देश रासक भी रासक है, पर हम उसे गेय नहीं मानते, अपभ्रंश चरित-काव्योंकी उक्त दोनों धाराओंमें मुख्य तीन वस्तुएँ हैं—युद्ध, रोमान्स और धर्म। फिर ये काव्य राज्यभक्तिसे दूर थे। परन्तु रासोमें धर्म नहीं है, युद्ध और रोमान्स ही है और राजस्तुतिसे प्रेरित है। किसी-किसी रासोमें केवल रोमान्स ही है, काव्यकी पुरानी रूढ़ियाँ उसमें हैं ही, पौराणिक कथावस्तु छूट जानेसे उसमें भक्ति तो नहीं है पर उसका स्थान राजभक्तिने लिया। वैसे रासोकार चन्दबरदाई भी उसे 'धर्मकहानी' कहता है। पृथ्वीराज रासोके वर्तमान सन्दिग्ध रूप को लेकर उक्त तथ्योंके प्रकाशमें इतना ही कहा जा सकता है। तुलसीके विचारसे यह 'प्राकृत जन गुण गान' था।

रामकथाकी धाराएँ

रामकथा—रामकथा भारतीय साहित्य और जीवनकी सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है। हिन्दू, जैन, बौद्ध सभी मतोंमें इस कथाका अपने ढंगसे वर्णन मिलता है। इसलिए उसके कई रूप हैं। इतना ही नहीं, एक ही सम्प्रदायमें उसके दो-दो रूप मिलते हैं।

रामकथाके उपलब्ध रूपोंमें वाल्मीकिकी रामकथा पुरानी मानी जाती है। उसके बाद अन्य हिन्दू पुराणोंमें बहुत हेर-फेरके साथ वह अंकित मिलती है (वि० ध० द० ८०)। आदि कविकी रामकथा प्रसिद्ध ही है। अतः यहाँ उसके उल्लेखकी आवश्यकता नहीं। किन्तु अद्भुत रामायणमें सीताको जनककी लड़की नहीं माना गया। उसके अनुसार दण्डकारण्यमें गृत्समद ऋषि थे। उनकी पत्नी लक्ष्मी सुन्दर कन्या चाहती थी। पतिने दूधको अभिमन्त्रित करके घड़ेमें रखना शुरू कर दिया। एक दिन रावण

आया और कर रूपमें ऋषिके खूनसे उस घड़ेको भरकर लंका ले गया। उसने मन्दोदरीसे कह दिया कि इसमें विष है पीना नहीं। रावण उसकी उपेक्षा करता था इसलिए उसने उस घड़ेका रक्त पी लिया। वह गर्भवती हो गयी। रावणसे यह बात छिपानेके लिए वह विमानमें बैठकर कुरुक्षेत्र गयी और वहाँ सीताको गाड़कर चली आयी। हल जोतनेमें वह लड़की जनकको मिली। विष्णुपुराण (४-५) के अनुसार भी जनकको हल चलानेमें सीता मिली। बौद्ध-परम्परामें राम बुद्धका ही अवतार था। दशरथ जातकके अनुसार दशरथकी सोलह हज़ार रानियाँ थीं। मुख्य रानीसे राम-लक्ष्मण और सीता उत्पन्न हुई। दूसरीसे भरत हुआ, वह अपने बेटेको राज्य दिलाना चाहती थी। दशरथने रामको बारह वर्षका वनवास दे दिया। तब राम हिमालय चले गये, नौ वर्ष बाद दशरथकी मृत्यु हो गयी, भरत रामको लेने गये। वह नहीं आये तो उनकी खड़ाऊँ रखकर राज्य चलाने लगे। अवधिके बाद रामने लौटकर सीतासे विवाह किया और राज्य-संचालन अपने हाथमें ले लिया।

जैन-परम्परामें रामकथाकी दो धाराएँ हैं। इसमें स्वयंभूकी रामकथा अधिक लोकप्रिय है। वह आदिकविकी रामकथासे मिलती-जुलती है। पुष्पदन्तकी रामकथामें विशेष बातें ये हैं—

१. सीता रावणकी लड़की थी। जनकने उसे पाला-पोसा (यह बात अद्भुत रामायणसे मिलती है, पर कारण भिन्न है)।
२. वर-याचना, वनवास आदिका उल्लेख नहीं, रावण सीताको चित्रकूटके विहार वनसे उठाकर ले जाता है।
३. राम सोनेके मृगका पीछा करते हैं। स्वयंभू युद्धमें सिंहनादकी कल्पना करते हैं।
४. सीताके आठ पुत्र थे, पर उनमें लव-कुशका नाम नहीं है।
५. युद्ध-विजयके बाद दिग्विजय करते हुए राम अयोध्या लौटते हैं।

पहली धाराके पुराने कवि विमलसूरि हैं। उनके बाद रविषेण और फिर स्वयंभू। दूसरी धाराकी पुरानी रचना गुणभद्रका उत्तरपुराण है। कवि परमेश्वरकी गद्यकथाके आधारपर उन्होंने इसकी रचना की है; लेकिन यह गद्यकथा अब उपलब्ध नहीं है। पुष्पदन्तने रामायणकर्त्ताके रूपमें स्वयंभूकी प्रशंसा की है; परन्तु कथा उन्होंने उत्तरपुराणसे ही ली।

रामकथाकी इन धाराओंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं—

१. आरम्भमें रामकथाका रूप बहुत छोटा रहा होगा। केवल मुख्य पात्र घटनाएँ ही होंगी।
२. वह एक लोकप्रिय किन्तु वास्तविक घटना थी।
३. सम्प्रदायोंने अपने ढंगसे जोड़-तोड़कर उसके आधारपर काव्य लिखे।
४. सीताके जन्मको लेकर दो मत थे, एक मत उसे जनककी पुत्री मानता है, दूसरा किसी-न-किसी रूपमें रावणकी लड़की मानता है।
५. कुछ दशरथको काशीका मानते हैं और कुछ अयोध्याका।
६. रामके वनवास, विवाह और सन्तान आदिपर मतभेद है। पर सीता रामकी पत्नी अवश्य थी, यह सब मानते हैं।
७. राम-रावणको हिन्दू-जैन दोनों ही मानते हैं।
८. हिन्दू पुराणके अनुसार राम विश्वामित्रकी रक्षा करने गये। पुष्पदन्तके अनुसार जनकके यज्ञकी रक्षा करने गये, पर उन्होंने यज्ञसे उन्हें विरत कर दिया। स्वयंभूके अनुसार राम भीलोंसे जनकपुरीको बचाने गये।
९. हिन्दू लेखक दशरथकी मृत्यु वनवासके समय मानते हैं, जैन बौद्ध-बादमें भी उनका जीवित रहना मानते हैं।
१०. तुलसी रामको अवतार मानते हैं; परन्तु जैनोंके अनुसार उन्होंने तप करके मोक्ष पाया।
११. हिन्दू उन्हें शिवभक्त मानते हैं, जैन जिनभक्त।

खण्डकाव्य

इसके अन्तर्गत केवल सन्देश रासक ही उपलब्ध है। यह सुखान्त विप्रलम्भ प्रधान खण्डकाव्य है। इसमें कुल तीन प्रकाश हैं। पहलेमें अपभ्रंश काव्य-रूढ़ियोंका अनुकरण है। वास्तविक घटनाका प्रारम्भ दूसरे प्रकाशसे होता है – विक्रमपुरकी एक वियोगिनी अपने पतिकी बाट जोह रही थी। इतनेमें किसी पथिकको देखकर वह अस्त-व्यस्त हो उठी, किसी तरह अपनेको सँभालकर वह करुण स्वरमें पथिकसे बोली, 'मैं कुछ कहना चाहती हूँ। मेरी बात सुन लो।' राहगीरने चौकस होकर उसकी ओर देखा। उसने आठ भाषाओंमें उस रूपसीका नखशिखवर्णन किया, सुनकर वह लजा गयी। फिर नायिकाके पूछनेपर उसने आलंकारिक भाषामें कहा कि मैं मुलतानसे एक लेखपत्र लेकर खंभायत (स्तम्भतीर्थ) जा रहा हूँ।

उसका पति भी इसी स्थानको गया था, सुनकर उसने ठण्डो साँस ली, और अपना सन्देश कहना शुरू किया—

"सबसे पहले वह अपने हृदयको कोसती है कि प्रियवियोगमें फट क्यों नहीं गया, फिर कहती है कि क्या करूँ, प्रियके हृदयमें होनेसे मैं मर भी नहीं सकती, मैं तो उसके वियोगमें वियोगिनी हूँ, तुम्हें जल्दी जाना है और मैं शीघ्र ही लिखनेकी स्थितिमें नहीं हूँ, इसलिए मेरी वियोगाग्निका हाल तुम्हीं बता देना। सम्भोगकालमें पहले मिलते समय वस्त्रका व्यवधान सहन नहीं होता था और अब दोनोंके बीचमें पहाड़ोंकी दूरी है। प्रिय मेरी नींद भी अपने साथ ले गये हैं। उत्तरायणमें रात बड़ी होती है और दक्षिणायनमें दिन, पर विरहायनमें दिन भी बड़ा है और रात भी बड़ी।"

इसके बाद वह रूपक, विरोध और श्लेषमें कुछ बातें कहती है। पथिकके यह पूछनेपर कि तुम्हें पतिवियोग कब हुआ, वह कहना शुरू करती है –

"अरे उस अशुभ दिनका नाम लेना भी ठीक नहीं, शायद वह ग्रीष्मकाल था। यहाँसे (३ में) षड्ऋतु वर्णन शुरू होता है। वह कहने लगी –

"झंखर हवा चल रही है, तालाब और नदियाँ सूखी पड़ी हैं। प्रियवियोगमें मेरे सारे उपहार व्यर्थ हैं। पावसऋतु तो और ही दुःखद हो उठी है। गोपीजन मधुर गीत गा रही हैं। मैं अभागिन क्या करूँ? लो यह शरद् आ गया, सब पथ सूख गये हैं, सारस और कमल प्रियकी याद करा रहे है। पता नहीं प्रियके देशमें चाँदनी निकलती है या नहीं। अब यह दिवाली आ पहुँची, जिनके प्रिय घरपर हैं वे मजेमें दिये जला रही हैं। क्या उस देशमें कोई प्राकृत पढ़नेवाला नहीं, हेमन्तकी ठण्ड और भी असह्य है, वसन्त तो मुझे जलाता हुआ आ पहुँचा है, पर प्रिय आनेका नाम ही नहीं ले रहे हैं। फूल खिल रहे हैं, और मैं रो रही हूँ।"

अन्तमें वह अनुचित बातोंके लिए क्षमा माँगकर जैसे ही पथिकको बिदा करती है वैसे ही उसे अपना पति आता हुआ दिखाई दिया। वह फूली नहीं समायी। कविकी भी कामना है कि जैसे उसका काम बन गया उसी तरह सबका भी काम बन जाये।

आलोचना—सन्देश रासकका सार यही है। इस खण्डकाव्यमें घटना कुछ भी नहीं है केवल कविकी कल्पनाका खेल है, पहले बहुत छोटी घटना घट चुकी है, वह है पतिका वियोग। प्रस्तुत काव्यमें उसकी

प्रतिक्रिया अंकित है, वह भी आलंकारिक। वर्णन रीतिग्रस्त है। परम्पराका पूरा प्रभाव है। इतने छोटे-से काव्यमें मुलतानके वर्णनमें कवि कितने ही वृक्षोंके नाम गिना देता है, उसमे अनुभूति कम है, कहनेकी वक्रता और वाणीका जाल अधिक है, वैसे रहमानने मध्यम श्रेणीके पाठकके लिए यह रचना की है। इस प्रकारके पाठकोंका भी एक वर्ग समझना चाहिए। यह वर्ग ऐसा है जो धर्मकी जगह रसकी बात सुनना चाहता है, वह भी तरह-तरहकी अलंकृत उक्तियोंमें। फिर भी कई दृष्टियोंसे इस रचनाका महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि इसका लेखक एक मुसलमान कवि है। दूसरे उसमें शुद्ध रोमांस है। तीसरे उसमें लोकोक्ति और काव्यकी अलंकृत शैलीका समन्वय है। चौथे उसमे ऊहात्मक अलंकृत ऐसी उक्तियाँ हैं जिनकी परम्परा कतिपय हिन्दी कवियोंमे देखी जाती है। पाँचवें उसके प्रकृति-चित्रणमे जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारोंका भी उल्लेख है, यह हिन्दी कवि जायसीसे समानता रखता है। यह वस्तुतः पाठ्य काव्य ही है। कुछ विद्वान्[१] इसे 'रासक' नाम होनेसे गेय समझते हैं। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि इसमें गेय तत्त्व कम है, छन्दोंकी विविधता सबसे बड़ी बाधा है। इसके गेय बननेमें यदि इसका अभिनय भी हो तो यह सफल नहीं उतरेगा। उपदेश रसायन राससे तुलना करनेपर यह बात स्पष्ट समझमे आ जायेगी। मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सन्देश रासकमे जो बाधाएँ हैं वे कहीं कविने परम्परासे न ली हों, क्योंकि इस बातकी सम्भावना कम ही की जा सकती है कि एक विदेशी अप्रचलित काव्य-भाषामें कविता करनेका प्रयत्न करेगा। जो भी हो खण्डकाव्य कुल मिलाकर यही है। शिल्पकी दृष्टिसे इसमे प्रबन्ध-काव्यकी भी विशेषताएँ मिलती हैं।

मुक्तक

बहुत प्राचीन समयसे काव्यके दो भेद मान्य हैं — प्रबन्ध और मुक्तक। भामह और वामन इन्हें क्रमशः निबद्ध और अनिबद्ध कहते हैं। राजशेखर प्रबन्ध और मुक्तक ही मानता है। आनन्दवर्धनके अनुसार इसकी परिभाषा है — जो दूसरेसे आलिंगित न हो और जिसकी परिसमाप्तिमें दूसरेकी आकांक्षा न हो,[२] यह प्रबन्धके बीचमें भी हो सकता है। राज-

---

१. देखिए : डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य।

२. अन्येन नालिङ्गितम्, तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्तं निराकांक्षार्थमपि प्रबन्ध-मध्यवर्ति मुक्तकमपि उच्यते (३।७) ध्वन्यालोक।

शेखर मुक्तकका अर्थ स्फुट करते हैं, उसके उन्होंने[1] पाँच भेद किये हैं–

१. शुद्ध – इतिवृत्तशून्य, २. चित्र – विस्तृत अर्थवाला, ३. कथोत्थ – प्राचीन कथासे युक्त अर्थवाला, ४. संविधानक भू – सम्भावित घटनासे युक्त, ५. आख्यानक – इतिहासकी कल्पनासे युक्त।

यह प्रबन्धके भीतर हो सकता है। महापात्र विश्वनाथ निरपेक्षको मुक्तक कहते हैं।[2] उपाध्यायजीका मत है, 'मुक्तक वह है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणोंसे मुक्त होकर रसपेशल होता है। इसके आध्यात्मिक और लौकिक दो भेद हैं।[3] आ० शुक्लके अनुसार प्रबन्ध और मुक्तकमें यही बड़ा भारी भेद है कि मुक्तकमें किसी भावकी रसपद्धतिके अनुसार अच्छी व्यंजना हो गयी बस, पर प्रबन्धमें भाव परिस्थितिके अनुरूप है या नहीं, इसका ध्यान भी रखना पड़ता है।[4] बाबू गुलाबरायका कहना है कि गीतमें वैयक्तिकता, भावात्मकता और आत्मनिवेदन रहता है। जहाँ वर्णन संगीत-मय और हृदयके नैसर्गिक उल्लासके साथ होता है वे छन्द भी प्रगीत काव्यकी कोटिमें आ जाते हैं। इन सब उल्लेखोंका निचोड़ यह है –

'मुक्तक' सन्दर्भयुक्त हो यह सबको स्वीकार्य है, पर प्रत्येक मुक्तक रसपद्धतिके अनुसार हो। शुक्लजीका यह मत मान्य नहीं हो सकता क्योंकि आध्यात्मिक मुक्तक इसके अपवाद हैं।

भेद—इसके दो भेद हैं, गीत मुक्तक और दोहा मुक्तक। गीत मुक्तक तीन रूपोंमें मिलता है – १. कथा-काव्योंके अन्तर्गत, २. गेय रूपमें, ३. पदोंके रूपमे।

संख्या १ का विचार हो चुका है। गेय रूपकी तीन रचनाएँ हैं–चर्चरी, उपदेश रसायन रास और काव्य-स्वरूपकुलकम्। वस्तुतः ये सामूहिक रूपमें गाये जानेवाले, गेय और नृत्य गीत कहे जाने चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रकारके नृत्य और गेयवाले अन्य रूप जनतामें अधिक प्रचलित थे, उन्हींके अनुकरणपर धर्मप्रचारके लिए इन रूपोंकी कल्पना हुई।

---

१. का० मी० पृ० ११४।
२. सा० द० ६।३१४।
३. सं० सा० इ० २८१।
४. जा० भ० ६६।

चर्चरी

यह विभिन्न रागोंमे निबद्ध गेय काव्य है। कवि कालिदासने भी विक्रमोर्वशीयके चौथे अंकमें चर्चरी पद्योंकी रचना की है। अपभ्रंश का० भ० ११४, हरिभद्र सूरि (समराइच्चकहा), उच्चेतन (कु० मा०), श्रीहर्ष (रत्नावली नाटिकामें) आदिने चर्चरीका उल्लेख किया है। प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रहमें भी कवि सोलणकी चर्चरी छपी है। पटमंजरी रागमें निबद्ध प्रस्तुत चर्चरीमें आचार्य जिनवल्लभकी स्तुति है। सिद्धोंके पदोंमें भी यह राग है। इस गेय काव्यमें उक्त आचार्यकी स्तुतिके साथ यह भी बताया गया है कि वे महान् क्रान्तिकारी होनेके साथ विद्वान् भी थे, उन्होंने मन्दिरोंसे उत्सूत्र हटा दिये, अनुचित गीत-वाद्यपर प्रतिबन्ध लगाया। मन्दिरमें 'लगुड रास' बन्द करवा दिया। लगुड रासमे स्त्रियों अथवा पुरुषोंका सामूहिक नृत्य होता था। आचार्यने पुरुषोंका 'रास' भी बन्द करा दिया था। जैन साधु सामूहिक रूपमें उक्त आचार्यकी भक्तिमें इस चर्चरीका गान करते थे।

उपदेश रसायन रास

यह ८० पद्योंका नृत्यपूर्वक गेय काव्य है। यह पद्धटिका बन्धमें है, और गीतकोविद इसे किसी भी रागमे गा सकते है। मुख्य रूपसे इसमे श्रावकोंके लिए साधारण उपदेश है। पहले वह मनुष्य-जीवनकी दुर्बलताका विचार करता है, फिर कहता है कि व्यर्थ बगीचा लगाना, मन्दिरका धन बढ़ाना ठीक नहीं, स्वाभाविक रूपसे जो धन मिल जाये मन्दिरके लिए वह बहुत है। विशेष अवसरको छोड़कर नर्तकीका नाच मन्दिरमें नहीं होना चाहिए। 'भैरव रास और तालारास' तो क़तई न हों। हाँ, धार्मिक नाटक हो सकते है। बलभद्र और चक्रवर्तियोंके चरितोंका नर्तन कराया जाये, संगीत भी जिनगुणोंसे ओत-प्रोत हों। इसके बाद युग-गुरुकी परिभाषा है। रोटी-बेटी साधर्मी जनमें ही हो इत्यादि।

काव्य-स्वरूपकुलकम्

यह पद्योंकी गेय रचना है। इसका मुख्य विषय यह है कि विक्रम संवत्के १२०० वर्ष बीतनेपर मनुष्य शिव सुखसे वंचित हो जायेगा। शीघ्र मोहनिद्रा नहीं टूटेगी। उसके बाद अवसर्पिणी काल (कलियुग) की निन्दा है।

पदके अन्तर्गत केवल सिद्ध कवियोंके थोड़े-से पद मिलते हैं, इनमें

वर्णित विचारधाराका विवेचन दोहेके प्रसंगमें किया है। यह अवश्य है कि स्वतन्त्र रूपमें इस प्रकारके पद पश्चिमी कवियोंके अभीतक नहीं मिले।

दोहाकाव्य

स्वरूपकी दृष्टिसे दोहाकाव्य दो प्रकारका है—दोहाकोश और स्फुट। दोहाकोशमें दो तरहकी विचारधारा है – एकमें उग्र क्रान्तिवादी आध्यात्मिक विचारधारा है, जैसे परमात्मप्रकाश, पाहुड दोहा, बौद्धगान और दोहा इत्यादि, दूसरेमें प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्डवाले धर्मका प्रतिपादन है। हमारे देशमें अध्यात्मवादकी ये दोनों विचारधाराएँ सभी सम्प्रदायोंमें प्रचलित रही हैं – एक है निवृत्तिमूलक और दूसरी है प्रवृत्तिमूलक। उदाहरणके लिए वैदिक प्रवृत्तिमार्गकी उपनिषदोंमें उग्र प्रतिक्रिया है। इसी तरह अध्यात्मवादियोंका घोर निवृत्तिका हलका निषेध गीतामें है। आलोच्य साहित्यके मुक्तक-काव्यमें भी यही क्रम है। मध्ययुगमें जिनभक्तिका विकास हुआ। उसमें प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्तिपर अधिक जोर दिया गया। जहाँतक अपभ्रंश मुक्तक अध्यात्मवादी कवियोंका सम्बन्ध है, सिद्ध कवि और जैन कवि दोनों उग्र निवृत्तिवादी हैं। एकमें तान्त्रिक आडम्बरकी घोर प्रतिक्रिया है, तो दूसरेमे समस्त बाह्य प्रवृत्ति और धार्मिक काण्डका विरोध। जैन परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द बहुत बड़े उग्र अध्यात्मवादी थे। इनका प्रभाव आलोच्य कवियोंपर स्पष्ट है। स्थूल विश्लेषणसे ही इस बातका पता चल जायेगा कि अपभ्रंश प्रबन्ध-कवि अधिकतर प्रवृत्तिमार्गी हैं जब कि मुक्तक कवि निवृत्तिमार्गी। यह बात जरूर है कि अन्तमें चरित-काव्योंके नायक भी विरक्त हो उठते हैं।

प्रवृत्तिवादी—अपभ्रंश मुक्तक कवियोंमें सावयधम्म दोहाका लेखक ही एक प्रवृत्तिवादी कवि है। सबसे पहले अपने ग्रन्थमें वह सज्जन-दुर्जनका उल्लेख करके मुक्तककी प्रशंसा करता है, फिर वह श्रावकोंके आठ गुण आदिका वर्णन करता है। दानकी महिमा खूब बतायी गयी है। धनका मूल धर्म है, धर्मसे ही ऐहिक सुख मिलते हैं। शरीरकी सार्थकता वह उपवास और धर्म-साधनामें मानता है।

निर्धनता और धर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको वशमें रखना बहुत बड़ी बात है। इसके बाद तीर्थंकरकी विभूतियोंका वर्णन करके लेखक इस बातपर जोर देता है कि जिन-मन्दिर बनवाने और तरह-तरहके

उपकरण देनेसे अचिन्त्य पुण्यलाभ होता है। जिनमन्त्रमें अद्भुत शक्ति होती है। भावके अनुसार ही फल मिलता है।

धार्मिक दृष्टिसे सावयधम्म दोहाका यही महत्त्व है कि विविध धार्मिक विधि-विधानोंके अतिरिक्त उसमें निम्नलिखित बातोंको भी महत्त्व-पूर्ण बताया गया है—१. अनुरागका त्याग, २. दर्शनकी मनोभूमिमें ही धर्मका फल लगता है, ३. मनका संयम। परन्तु साहित्यिक दृष्टिसे उसकी शैलीका महत्त्व इससे भी अधिक है। इसकी शैली सरल, प्रसादगुण युक्त है। कहावतों और मुहावरोंका सुन्दर मेल है। कहनेमें ओज है। आडम्बर और अलंकरण नहींके बराबर है। नीचे थोड़ी-सी बानगी दी जाती है—

हुंति विमुक्कइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥२५॥

जहिं साहसु तहिं सिद्ध ॥७१॥

एहु धम्मु जो आयरइ बंमणु सुद्दु वि कोई।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु किं सिरि मणि होइ ॥७६॥

वड्ड वडुयहं छाया करइ तालु सहइ सइं धम्मु ॥१०३॥

चाइं कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ णं किंत्ति ॥१४२॥

धम्म धेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥२२२॥

परमात्मप्रकाश और योगसार

इनमें आत्माका प्रकाशन है। ये प्रश्नोत्तर शैलीमें हैं। किसी भट्ट प्रभाकर नामक जिज्ञासुने कविके सम्मुख संसारके दुःखकी समस्या रखी। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी समस्याका समाधान है। इनकी शैली सावयधम्म दोहाकी ही तरह मधुर, सरल और अनुभूतिपूर्ण है। इसमें अधिकतर आत्माकी अनुभूतियाँ ही तरंगित हैं। इसमें कर्मकाण्ड या धार्मिक मीमांसा-का शुष्क जाल नहीं है। तीसरी बात यह है कि अध्यात्मवादी होते हुए भी कविकी दृष्टि उदार है। चौथे वह अपनी अनुभूति और मन्तव्यको रोचक बनानेके लिए जिन रूपक, उपमा आदिका सरल व्यवहार करता है वे दैनिक जीवनसे सम्बन्धित होते हैं। अलंकार-प्रयोगकी यह परम्परा हमें उपनिषद्, गीता आदि सभी भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें मिलती है। परमात्मप्रकाशके मुख्य अधिकार दो हैं। कुल ४४५ पद्य हैं, जिनमें ५ गाथाएँ, १ स्रग्धरा, १ मालिनी, १ चतुष्पदिका और बाक़ी दोहे हैं।

आवश्यक काव्य-परम्पराका निर्वाह करके कवि आत्माके तीन भेद करता है। फिर तत्त्वोंका विवेचन करता है। दूसरे अधिकारमें मोक्षका स्वरूप वर्णित है। इसमें अधिकार समभाव और पुण्य-पापकी समानताका स्वरूप बताकर वह शुद्धोपयोग और परमसमाधिका वर्णन करता है। पुनरुक्ति होते हुए भी इसमें विषय व्यवस्थित हैं। पाहुड दोहामें विषय स्फुट हैं यह होते हुए भी यह भावना-ग्रन्थ है, तर्क-ग्रन्थ नहीं। परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेव कहते हैं, 'अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतकवत् पुनरुक्त-दूषणं नास्ति।'

जोइन्दुने ब्रह्मादि शब्दोंका प्रयोग किया है पर भिन्न अर्थमें। यह जान लेना आवश्यक है। 'ब्रह्म' का अर्थ यहाँ आत्मा है। परन्तु उप-निषद्का ब्रह्म और यह आत्मा—दो अलग तत्त्व हैं। क्योंकि जैन धर्मके अनुसार आत्मा (जीव) और जड़की सत्ता अलग-अलग है। आत्माएँ अनन्त हैं और मुक्तावस्थामें वे अनन्त ही रहती हैं। कर्मसे छूटना ही मुक्ति है। ये मुक्त अनन्त हैं, पर गुणोंकी दृष्टिसे उनमें भेद नहीं। फिर वे संसारकी उत्पत्ति और विनाशमें भाग नहीं लेते। इसके विपरीत ब्रह्मवादमें ब्रह्म ही एक परम सत्य है, प्रत्येक वस्तु ब्रह्मसे उत्पन्न होती है और उसीमें लय हो जाती है। अद्वैतकी स्थापनाके लिए यह बहुत आवश्यक था। आगे चलकर जब भक्तिके लिए द्वैतकी आवश्यकता प्रतीत हुई तो भक्तिके आचार्योंने विभिन्न दृष्टियोंसे अद्वैतमूलक द्वैतकी स्थापना की। यद्यपि कवि जोइंदु कभी-कभी उपनिषदोंके स्वरमें स्वर मिलाकर परमा-त्माओंकी एकताकी चरचा करते हैं, पर है वह आपेक्षिक। सबसे बड़ी बात यह है कि 'जोइन्दु' परमात्माकी एक निश्चित रूप-रेखा स्वीकार करते हैं, पर उसे एक निश्चित नाम देनेका विरोध करते है। इसलिए उन्होंने शिव, ब्रह्म, हंस आदि सभी नामोंका व्यवहार किया है। विभिन्न दृष्टिकोणोंसे[१] आत्माका वास्तविक रहस्य समझना कविका मुख्य लक्ष्य है। जोइन्दुपर आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुड और पूज्यपादके समाधिशतकका प्रभाव स्पष्ट है फिर भी उनकी शैली जनसाधारणकी शैली है। जोइन्दु जहाँ पारिभाषिक तथ्योंका वर्णन करते हैं, वहाँ कुछ रूढ़ हो जाते हैं।

---

१. गूढ़ अध्यात्मको व्यक्त करनेकी दो शैलियाँ हैं—उपनिषद्में इन्हें अपरा और परा विद्या कहते हैं, बौद्धोंमें परमार्थ और व्यवहार सत्य कहते हैं और जैनोंमें निश्चय और व्यवहार नयकी कल्पना है।

मुनि रामसिंहने पारिभाषिक अध्यात्मका वर्णन नहीं किया, पर जहाँ आत्माकी परमावस्थाका वर्णन है वहाँ शैली सरस और ग्राह्य है। इनकी उपमाएँ घरेलू वातावरणसे सम्बन्ध रखती हैं। योगियोंकी तरह तान्त्रिक या रहस्यवादी उपमाएँ कम देते हैं। नमूनेके तौरपर निम्न उदाहरण पर्याप्त हैं—आत्मासे ही इन्द्रियरूपी गाँव बसता है—

देहि वसंते जेण पर इंदिय गामु वसेइ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥४४॥ रूपक

आत्माका घर स्वच्छ मन है—

देहि वसंतु वि हरि हरवि जि अज्जवि ण मुणंति।
परम समाहि तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥४२॥

परमात्मा कौन है—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जगु अब्भंतरि जो जि।
जगुजि वसंतु वि जगुजि ण मुणि परमप्पउ जो जि ॥४१॥

शुद्ध आत्मा ही तीर्थ है, अन्य तीर्थ मत जाओ—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरउ म सेवि।
अण्णु जि देउ मं चिंति तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥९५॥

आत्माका घर स्वच्छ मन है—

णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
महु एहउ पडिहाइ ॥११२

शिव समचित्तमे है देउल या शिलामे नहीं—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्तइ।
अखउ णिरजंणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥१२३॥

अद्वैतानुभूतिमें उपास्य-उपासक भेद व्यर्थ है—

मणु मिलियउ परमेसरहं परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाहं पुज्ज चडावउ कस्स ॥१२३॥

चित्तकी समता ही सब कुछ है—

मणई मणावइ णवि थुवइ णिंदइ णाणि ण कोइ।
सिद्धिहि कारणु भाउ समु जाणंतउ पर सोउ ॥४८॥

परम मुनि प्रवृत्ति-निवृत्तिसे भी दूर रहता है—

वित्ति णिवित्तिहि परम मुणि देसुवि करइ ण राउ।
बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ॥५२॥

भावनाकी पवित्रता सिद्धिके लिए आवश्यक है—

सिद्धिहिं केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ॥

सब कुछ क्षणभंगुर है—

देउल देवु वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ विकव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥१३०॥

योगकी गति विषम है—

जोइय विसमी जोय गइ मणु संठवण ण जाइ ।
इंदिय विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥१३७॥

योगी वह है जो बसेको उजाड़े और उजाड़ेको बसाये—

उव्वेस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ॥

मुक्त अम्बर (शून्य) में वास करता है—

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु ।
केवल णाणु वि परणमइ अंबरि जाहं णिवासु ॥१६३॥

योगसारमें परमात्म प्रकाशके विचारोंका अनुवर्तन है। जोइन्दुने 'योगी' शब्दके दो अर्थ किये हैं—पतंजलिके योगमतका योगी और नाथमतका हठयोगी। अम्बर शब्दका अर्थ परम समाधि है। टीकाकारने दोहा १६४-१६५ में इसे दोहराया है (पर० प्र० पृ० ३०७)।

पाहुड दोहा

पाहुडका अर्थ है उपहार। यह दोहोंका उपहार है। उपहारकी चीज थोड़ी और चुनी हुई होती है। कविने बहुत थोड़ेमें यह आध्यात्मिक उपहार दिया है। पहले वह इन्द्रिय-सुख और सांसारिक सुखकी नश्वरताकी निन्दा करता है। फिर शुद्ध अध्यात्मके प्रतिपादनमें वह रम जाता है। वह दार्शनिकता और शास्त्रीय ज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्मानुभूतिपर जोर देता है। इसमें उसने भोगसे त्यागकी, शास्त्रज्ञानसे आत्मज्ञानकी और कर्मकाण्डसे आत्मानुभूतिकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। कविकी सबसे बड़ी विशेषता यह है उसकी सांकेतिक शैली और आत्म-प्रेमता। वह शक्ति (इन्द्रिय वृत्ति) और शिव (मुक्तात्मा) अर्थात् देह और आत्माके संयोगमें प्रियतम और प्रेयसीकी कल्पना करते हैं। इस आलंकारिक शैलीको विद्वानोंने रहस्यवाद कह डाला है, परन्तु भारतीय दार्शनिक दृष्टिसे इसमें रहस्यवादको कोई बात नहीं, जैसा कि आगेके अवतरणोंसे स्पष्ट है कि मुनि राम-

सिह अपना यह उपहार प्रस्तुत करते समय शैवमत, योगमत, तन्त्रमत तथा भक्तिके सगुण, निर्गुण मतोंसे अवश्य परिचित थे। आत्मामे जात-पांत या रूप-रंग नहीं होता –

हउं गोरउ हउं सामलउ हउं मि विभिण्णुउ वण्णि।
हउं तणु अंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि॥ २६॥

शिव कौन है –

वण्णं विहूणउ णाणिमउ जो भावइ सब्भाउ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ॥ ३८॥

शिवालय शरीर है और आत्मा शिव, उसीको खोज –

देहा देवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
कोतहिं जोइय सत्ति सिउ सिग्घु गवेसहि भेउ॥ ५३॥

शिव और शक्ति परस्पर अधीन हैं –

शिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहिं मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु॥ ५५॥

शिव और शक्तिका मिलना 'पशु वध' मे है –

सिव सत्तिहिं मेलावडा इहु पसु वाह मि होइ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहु विरला बुज्झइ कोइ॥ १२७॥

यहाँ पशु वधका अर्थ जीव वधसे है, पाशुपति दर्शनमे पाश (बन्धन) से मुक्त जीव पशु कहलाता है, अतः पशु वधसे तात्पर्य हुआ बन्धन या कर्मसे छुटकारा।

अद्वैतकी अनुभूति –

कासु समाहिं करउं को अंचउं छोपु अछोपु मणिवि को वंचउं।
हल सहि कलह केण सम्माणउं जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं॥ १३९॥

कौन टूटता है और कौन तोड़ता है –

पत्तिय तोडहि तडतडइ णाइं पइट्ठा उट्टु।
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्ट॥ १५८॥

पत्तीमें भी शिव है –

पत्तिय तोडि या जोइया फलहिं जि हत्थु न वाह।
जासु कारणि तोडेरि तुहुं सो सिव एत्थु चडाहि॥ १६०॥

वह सर्वव्यापी है –

अग्गइं पच्छइं दह दिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ॥ १७५॥

दाम्पत्य भाव –

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥ १०० ॥

प्रियका नेह पाँच इन्द्रियोंसे है । उन्हें मेरी सुध ही नहीं –

पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥ ४५ ॥

मनको सहजावस्थासे रोको –

सहज अवत्थहिं करहुलउ जो इय जंतउ वारि ।
अखइ णिरा मइ पेसियउ सइं होसइ संहारि ॥ १७० ॥

पुस्तक-ज्ञानसे मुक्ति नहीं मिलती –

पोत्था पढणि मोक्खु कहं मणु वि असुद्धउ जासु ॥ १४६ ॥

सिरको नहीं, मनको मूड़ो –

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ, चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥ ३५ ॥
दोहा संख्या १९२ जोइन्दुके दोहा नं० १०७ से मिलता है ।

योगीके साथ शिव भी भटकता है –

जो पइं जोइउं जोइया तित्थइ तित्थ भमेइ ।
सिउ पइं सहुं हिंडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ ॥ १७९ ॥

प्रतीक शैली –

पंच वलइ ण रक्खियइं णंयण वणु ण गओ सि ।
अप्पुण जाणिउ णवि परुवि एमइ पव्वइ ओसि ॥ ४४ ॥

अपनी साधनामें मस्त रहो, दुनियाकी परवाह मत करो –

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ मं करि खोहु ।
सिद्ध महापुरि पइसरइ उप्पाडेविणु मोहु ॥ १४३ ॥

जोइन्दु और रामसिंह – शैली और विषय क़रीब-क़रीब समान है, फिर भी एक पारिभाषिक अध्यात्म वर्णन करता है, दूसरा उसे छूता भी नहीं । वह अधिक स्वतन्त्र है । एकमें दार्शनिकता अधिक है, दूसरेमें भावुकता । एकका विषय प्रतिपादन क्रमबद्ध है, दूसरा स्वच्छन्द उड़ान लेता है । एकमें कोमल विरोध है तो दूसरेमें उग्र । मुनि रामसिंह केवल दूसरोंकी धार्मिक रूढ़ियोंका मजाक़ नहीं उड़ाते किन्तु अपने मतकी

धार्मिक रूढ़ियोंका उपहास करते हैं। एक जगह उन्होंने उनको कड़ी फटकार बतायी है, जो नंगे होनेका घमण्ड करते हैं।

सिद्ध दोहाकोश – सिद्धोंके पद-साहित्यका हम उल्लेख कर चुके हैं। इनके दोहे भी उपलब्ध हैं। जो बौद्ध गान दोहामें संगृहीत हैं। ये दोनों स्फुट रूपमें ही उपलब्ध हैं, और सिद्ध मतका उसपर पूरा प्रभाव है। इस मतकी चरचा अन्यत्र की गयी है। (प्रकीर्णक भी) सिद्ध कवि तान्त्रिक प्रक्रियाकी अपेक्षा, आत्मानुभूतिपर अधिक जोर देते थे, कुल द्रव्योंका प्रतीकोंके सहारे आध्यात्मिक अर्थ करते थे, संस्कृतकी अपेक्षा लोक-भाषाको ही उन्होंने अपने उपदेशका माध्यम बनाया। उपलब्ध सिद्ध साहित्यके सम्बन्धमें डॉ० द्विवेदीका यह मत है –

संस्कृतमें लिखे गये इनके ग्रन्थ प्रायः साधना मार्गकी व्याख्या करते हैं, पर पद और दोहोंमें धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वरका परिचय अधिक स्पष्ट मात्रामें देते हैं। इस दृष्टिसे इनकी हिन्दी रचनाओंका अधिक महत्त्व है (ना० सं० १८२)। यहाँ डॉक्टर साहबका हिन्दीसे तात्पर्य उस युगकी प्रचलित लोक-भाषासे है। नीचेके अवतरणोंसे हम इन सिद्ध कवियोंकी विचारधाराकी तुलना कर सकेंगे – सहज परमार्थ ही ज्ञातव्य है, व्यर्थ आगम ज्ञानसे क्या –

सहज एक परमार्थ तहि फुल्ल कह परजइ।
आगम किंपि जाणइ ॥ १२ ॥

आत्मा कहीं नहीं जाता केवल शान्त हो रहता है –

अहण गमइ ऊह ण जाइ वेणि रहिअ तसु मिच्चल पाइ।
भणइ कह्न मन कहवि ण फुट्टइ णिच्चल पवण धरिण धर वत्तइ ॥१३॥

सहजानन्दमें मन लगाना चाहिए–

सहजानंदे णिअ मन पमह न किअइ जेण।
तिहुअण सयल विफारिआ पुणु संहारिअ तेण ॥१७॥

आत्मस्वभाव कोई नहीं जानता –

भव मुद्दे सयल जग वाहिउ णिअ सहाव णउ केण विगाहिउ।

ब्रह्मरन्ध्रमें वास करना ही मुक्ति पाना है –

जहिं मनपवन ण संचरइ रवि ससि नाइ पवेस।
तहि वढ चित्त विसाम करु सरिहे कहिअ उवेस ॥

चित्त ही बाँधता है, और वही मुक्त करता है –

एवं चित्तें वज्झें वज्झइ णवि संदेहो ।

चंचल मनमें नहीं, आत्मामें बसना चाहिए –

एहु मण मेल्लइ पवण तुरंग सुचंचल
सहज सहाव, वसइ होइ निच्चल ।

शरीरमें ही सब कुछ है –

एत्थु स सुरसरि जमुण एत्थु व गंगा सायरु ।
एत्थु पयाग वणारसी एत्थु सु चंद दिवाअरु ।

आत्मा देहमें है, बाहर क्या पूछते हो –

घरे अच्छ घरे अच्छइ बाहिरे कुह पुच्छइ ।
पइ देक्खइ पडवेसी पुच्छइ ॥
पंडिऊ सयल सत्थ बक्खाणइ । देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ॥

एक देव ही सब जगह है –

एकु देव बहु अंग ण दीसइ । अपणु इच्छें फुड़ पडि हासइ ॥

मनसे मनको देखो –

चित्तह चित्त णिहालु वढ सअल विमुच्चइ दिट्ठी ।
परम महा सुहे सोज्झ परु तसुआ अत्ता सिद्धि ।

– सरह पाद

पद

परम तत्त्व द्वैताद्वैतसे परे है । चित्तकी शुद्धिसे ही वह प्राप्य है–

करुण नेह निरंतर फरिआ भावाभाव दंदल दलिआ ।
उइत्तो गअण माझे अदभूता पेखरे भुसुकु सहज सरुआ ।
जासु सुनंते तुट्टिअ इन्दिआल निहुरे णि अ, मन ण दे उलास ।

– भुसुक पाद

जीवित मृत्यु ही अच्छी । आत्मा ही संसारको बनाता और नष्ट करता है –

अपणे रचि रचि भव निर्वाण मिछें लोअ बन्धा वए अपणा ।
अम्मे ण जाण हुँ अचिंत जोइ जाम मरण भव कइसण होइ ।
जइसो जाम मरण वि तइसो जीवंते मअलें णाहि विसेसो ॥

– सरह पाद

कुण्डलिनी शक्तिके प्रबुद्ध होते ही अनहद नाद होने लगता है और काम भाग खड़ा होता है –

तिनि ए चाटें लागेलि रे अणह कसण घण जागइ ।
ता सुनि मार भयंकर रे तअ मंडल सएल भाजइ ।
मातेल बीअ गइंदा धावइ निरंतर गअणन्त तुसें घोकइ ॥
– महीधर पाद

आत्मा ही परम तत्त्वको पाता है –
भवणिव्वाणे पड़इ मादला मण पवण वेणि करंडकशाला ।
जऊ जऊ दुन्दहि साद उछलिआ काह्न डोम्बी विवाहे चलिआ ।
डोम्बी विवाहिआ अहारिउ जाम जं उतुके किअ आणुतु धाम ॥
– कृष्णपाद

या
गंगा जउना माझेरे बहइ नाई
तहिं बुडिली मांतगि पोइआ लीले, पार करेइ
बाहतु डोम्बी बाहली डोम्बी वाटत, भइल उछारा
सद्गुरु पाअ पद्मे जाइब पुणु, जिण उरा
– डोम्बीपाद

वहाँ परमतत्त्वमें भाव-अभाव कुछ भी नहीं है –
भाव न होइ अभाव णा जाइ आइस संबोहें कोपति आइ ।
लुइ भणइ वढ दुलक्खं विणाण तिअ धाए विलसइ उह लागेण ।
– लुइपाद

स्फुट दोहा मुक्तक

पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश साहित्यमें फुटकर दोहे काफ़ी संख्यामें हैं। जिन ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनका उल्लेख भी आधारभूत सामग्री-की सूचीमें हो चुका है। विषयकी दृष्टिसे ये दोहे तीन वर्गमें आते हैं –

१. श्रृंगार, २. वीररस, ३. धर्म और उपदेश।

यह एक विचारणीय तथ्य है कि आध्यात्मिक दोहाकोशकी तरह अभीतक कोई लौकिक दोहाकोश अपभ्रंशमें नहीं मिला होना चाहिए; लेकिन इनके मूल स्रोतका अभीतक पता नहीं चला। हेम व्याकरणमें जो दोहे हैं उनसे कुछ परमात्म प्रकाश और उपदेश रसायन राससे लिये गये हैं। इसपर-से

सहज ही अनुमान दृढ़ होता है कि अन्य दोहोंका भी कोई आधार अवश्य होगा। लोकभाषामें लौकिक विषयोंपर मुक्तक कोशकी परम्परा हालकी सतसईसे उपलब्ध है। हिन्दीमें भी यह परम्परा थी, तब आलोच्यकालमें भी रही होगी। दोहा अपभ्रंशका अपना छन्द है; पर किसी प्रबन्ध-कविने इसे अपने काव्यमें स्थान नहीं दिया। ऐसा क्यों, यदि यह नया छन्द अनुष्टुप् या गाथाकी तरह सचमुच ही किसी नये भावका सूचक था, तो वह इन प्रबन्ध-कवियोंको क्यों आकृष्ट नहीं कर पाया। कालिदासने अवश्य ही इसका उल्लेख किया है, पर अभी उनका उल्लेख सन्दिग्ध ही है। शायद इसका कारण पण्डितोंकी उपेक्षा हो। डॉ० हीरालालने लिखा है (सा० ध० दो० पृ० २१) कि 'दव्व सहाव' की रचना उसके लेखकने गाथामें की थी। फिर दोहोंमें की। परन्तु महाशय शुभंकरको यह पसन्द न आया, उन्होंने फिरसे उसे गाहाबद्ध करवा दिया। अगर यह सच हो तो इससे यही सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक चिन्तनमें ही 'दोहा' की उपेक्षा थी। लोकमें कोई दोहाकोश देखकर ही लेखकके मनमें आध्यात्मिक विचार इस नयी शैलीमें गूँथनेका आया होगा। हम कह चुके हैं कि मध्य देशके दरबारोंमे अपभ्रंश कवियोंको स्थान प्राप्त था, उनकी रचना भी मुक्तक होती थी। प्राकृत पैंगलम्में केवल राजस्तुति ही नहीं है, किन्तु उससे अधिक शिवभक्ति भी है। अतः कोई कारण नहीं कि अपभ्रंश कवियोंने दूसरे विषयोंपर मुक्तकोंकी रचना स्फुट और कोश रूपमें न की हो। आगे जिन अवतरणोंको दे रहे हैं उनमें यद्यपि स्वच्छन्द उद्गार है; परन्तु है सधे हुए हाथोंके। उन्हें देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि किसी अनगढ़ने झोंकमें आकर उन्हें रच दिया होगा। डॉ० द्विवेदी नाना कारणोंसे इस साहित्यको लुप्त मानते हैं। यह भी ठीक है। मेरी धारणा है वह लुप्त नहीं प्रच्छन्न है।

शृंगार

सिरी जर खंडी लोअड़ी गलि माण अड़ा ण वीस।
तोवि गोट्ठड़ी कराविआ मुद्धए उट्ठ वईस॥

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पियारेहिं गइअ धण, किं गज्जइ खल मेह॥
जे महु दिण्णा दिवा दइए पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउ जज्जरियाऊ न हेण॥

विट्टिए मइं भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णि भल्लि जिव मारइ हिअइ पविट्ठि ॥

वीर

अम्हे थोवा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतति ।
मुद्धि णिहालु हि गयण तलु कउ उज्जोऊ करंति ॥

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणी म्हारा कंतु ।
लज्जेजं तु वयं सिअहुं जइ भग्गा घरु एं तु ॥

पाअ विलग्गी अंतड़ी सिरु ल्हसिउ कवंधस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कंतस्सु ॥

नीति

रिद्धिं वहूणह माणु सह ण कुणह कुवि सम्माणु ।
सउणिहिं मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु, इत्थु पमाणु ॥

गुणहिं न सम्पय कित्ति पर फल लिहिअ भुंजंति ।
केसरि न लहइ वोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पंति ॥

संता मोह जो परिहरइ तसु कंतओ वलि कीसु ।
तसु दइवेणवि मुंडिअउ जसु खल्लिहउ सीसु ॥

धवलु विसूरइ सामिओ गरुआ भरु पिक्खेवि ॥
हउं किं ण जुत्तउ दुहुं दिसिहिं खण्णइं दोण्णि करेवि ॥

सन्दर्भ और इतिवृत्तमूलक मुक्तक

कोशा वेश्या अपनेपर आसक्त एक साधुको समझा रही है—

कोश भणइ, महापुरिस तुहुं कंवल सोएसि ।
जं दुलहु संजम खणु हारिस तं न मुणेसि ॥

या

तइं गडुआ गिरनार काइं मणि सत्सर धरिउ ।
मारी तां खंगार एक्कुं सिहरु न ढालियउ ॥

श्री गुलेरीजीने इस प्रकारके इतिवृत्तात्मक मुक्तक-काव्यके बहुत-से नमूने अपनी पुरानी हिन्दीमें दिये हैं। इनमें कथासूत्रकी योजना अवश्य है; पर हैं वे मुक्तक ही। कुल मिलाकर जब हम प्रबन्ध-कवियोंकी

आध्यात्मिक विचारधारासे मुक्तक-कवियोंकी विचारधाराकी तुलना करते हैं तो कई तथ्य स्पष्ट होते हैं –

१. सावयधम्म दोहाके लेखकको छोड़कर शेष अपभ्रंश मुक्तक कवि उग्र अध्यात्मवादी हैं। प्रबन्ध-कवि प्रायः प्रवृत्तिमूलक हैं।

२. बाह्य उपासना और पूजा-पाठके ये विरोधी हैं।

३. कोरा शास्त्रीय ज्ञान इन्हें स्वीकार्य नहीं।

४. सिद्ध कवियोंमें साधनात्मक शैली है और जैन कवियोंमें भावात्मक; पर कहीं-कहीं साधना शैलीका प्रभाव उनपर भी है।

५. वे अनुभूतिपर ज़ोर देते हैं।

६. उनके लक्ष्यके स्वरूपमें चाहे मतभेद हो; परन्तु साधनाकी कई बातोंमें ये समान हैं।

अपभ्रंश काव्योंका वस्तु-वर्णन

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी कथाके बीचमें ऐसे स्थल होते है, जिनका इतिवृत्तसे सम्बन्ध न होकर हृदयकी रागात्मक वृत्तिसे अधिक होता है। यही स्थल वस्तु-वर्णन है। आचार्य शुक्लके अनुसार ये वस्तु-वर्णन दो रूपोंमे उपलब्ध है—१. कवि-द्वारा वस्तु-व्यंजनाके रूपमें और २. पात्र द्वारा भाव-व्यंजनाके रूपमे। (पद्मावत ७८ पृ०)

साहित्य-दर्पण (अध्याय ६,३२२।३२४) मे महाकाव्यके लिए वस्तु-वर्णनका जो विधान है, उसके भी दो भेद हो सकते है—१. प्राकृतिक वस्तु वर्णन (सन्ध्या, सूर्य आदिका वर्णन) और २. सामाजिक वर्णन (विवाह, युद्ध, यात्रा आदिका वर्णन)। राजशेखरने (काव्य मी० अ० ८) इन तथ्योंका विस्तारसे निर्देश किया है। वास्तवमे प्राचीन समयसे ही भारतीय काव्यमे इस प्रकारके वर्णनका समावेश है, और अपभ्रंश काव्य भी इसका अपवाद नहीं। यह आवश्यक नहीं कि वस्तु-व्यंजना कवि-द्वारा ही हो, या भाव-व्यंजना पात्र-द्वारा। इससे विपरीत भी देखा जाता है।

देशवर्णन

देशवर्णनके अन्तर्गत जनपद, नगर और द्वीपोंके वर्णन पर्याप्त मात्रामे मिलते है। यह वर्णन बहुत-कुछ परम्परागत है। भौगोलिक या प्रादेशिक दृष्टिसे इनसे विशेष जानकारी नहीं मिलती। पउम चरिउमे मगध देशका वर्णन यह है—

जहिं पक्क कलमे कमलिणि णिसण्ण अलहंत तरुणि थेरत्र विसण्ण।
जहिं सुय पंतिउ सुपरिट्ठियाउ णं वणसिरी मरगय कंठयाउ।
जहिं उच्छु वणइं पयणाहयाइं कंपंति णं पीलण भयगयाइं।
जहिं णंदणवणइं मणोहराइं णच्चंति चंचल पल्लव कराइं।
जहिं फाडिम वयणइं दाणियाइं णज्जंति ताइं णं कइ मुहाइं।
जहिं महुयर पंतिउ सुंदराउ केयइ केसर कय धूसराउ।
जहिं दक्खा मंडव परियलंति पुणुपंथिय रस सलिलइं पियंति।

(प० च० १,५)

इसमें मगधको प्राकृतिक शोभाका ही वर्णन है। अलंकृत शैलीमे

अंकित ये बातें प्रायः सभी अपभ्रंश काव्योंमें एक-सी ही वर्णित हैं (म० पु० १,१२,२,५७, णा० कु० च० ६, जस० च० ४, भवि० क० १)। प्राकृतिक वर्णनके अतिरिक्त साधारण व्यापारोंका भी चलता वर्णन इस प्रसंगमें मिलता है–

जुज्झंत महिस वसहु च्छवाइं मंथामंथिय मंथणि रवाउ।
चवलुद्ध पुच्छ वच्छा उलाइं कीलिय गोवालइं गोउलाइं।

(म० पु० १,१२)

यहाँ भैंसा और बैलकी लड़ाई, मथानीका शब्द या गोकुलका उल्लेख है।

नगर वर्णनके अन्तर्गत राजगृहका वर्णन इस प्रकार है–

जहिं मणहर सोहए हट्ट मग्गु बहु संथउ णं जड चट्ट वग्गु।
जहिं णेहहो भरिउ विहाइ माणु पूरिउ पत्थेण कणेहिं दोणु।

(म० पु० १,१५)

शुरूमें कवि बाजारका उल्लेख करता है; पर शीघ्र ही अलंकृत शैलीमें कामिनीजनका वर्णन करने लगता है। ऐसे प्रसंगमें उत्प्रेक्षा, श्लेष और परिसंख्याकी बहुलता होती है। नगरके वर्णनमें बहुधा प्राकार, गोपुर, परिखा, मकानोंकी ऊँचाई और विलास-सम्पदाका उल्लेख होता है। जैसे वसन्तपुर (प० सि० च० २), चम्पानगरी (कर० च० ४), राजगृह (णा० कु० च० ६), गजपुर (भवि० क० ३), रतनपुर (म० पु० २, ३७०) के वर्णन प्रायः समान हैं।

गोकुल और शबर बस्तीका वर्णन भी अपभ्रंश काव्यके वस्तु-वर्णनका आवश्यक अंग है। रामको धानुष्क वनमें यह गोष्ठ मिला था–

जुज्झंतइं ढेक्कार मुअंतइं णलिणी मुणालखण्डं तोडंत इं।
कत्थइ जणवउ सिसिरें चच्चिउ पढम सुइ सिरेधरिवि णच्चिउ।
कत्थइ डिम्भउ परियंदिज्जइ अम्माहीरउ गेउ मुणिज्जइ।

(प० च० २,२९)

कवि पुष्पदन्त गोकुलका वर्णन बहुत विस्तारसे करते है। शैली अलंकृत है; पर कुछ नयी बातोंका भी उल्लेख है। यह गोकुल भरतको अपनी दिग्विजयकी यात्रामे मिला था या नहीं कहना कठिन है; किन्तु कविके युगमें ऐसी बस्तियाँ अवश्य रही होंगी। इसमे गोप-गोपियोंकी स्वच्छन्द लीलाका सरस वर्णन है।

हो हो हलि गोविणी मद्दं जि रमइ मंथाणु ण तुह कामग्गि संभइ।

रासका उल्लेख भी है—

जहिँ देंति तालु कीलापयासु मंडलिय गोव कियंति रासु ।

काहल और मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गोपियोंका मन गृहकार्यमें नहीं लगता—

काहलिय वंस सद्दं सुणंति ण करह घरकम्मु वि सिरु धुणंति ।

(म० पु० १,२१५)

परवर्ती कृष्णलीलासे इन बातोंका बहुत सम्बन्ध है । शृंगारका पुट, छेड़-छाड़, रासलीला आदि यहाँ भी हैं । केवल कृष्ण नहीं हैं । इसी तरह भरत चक्रवर्तीको दिग्विजयके प्रसंगमें शबर-पुलिन्द भी मिले थे । पुष्पदन्तने समस्त पदोंमें किरात राजाओंका इस प्रकार वर्णन किया है—

कसरतसे उनके शरीरके जोड़ पक्के और स्थूल थे । कठोर प्रचण्ड तीर ही उनका कुल धन था । दाँत मजबूत और विरल थे । चमकदार पंखोंके उनके वस्त्र थे । मूँगोंकी मालाएँ गजमदमें सराबोर थीं । चेहरा रक्तकी तरह लाल और कठोर था । तीखे तीरोंके प्रहारसे हिरन मारनेमें वे निपुण थे । उनके घर हाथी दाँतोंसे सजे हुए थे । कर्णाभूषण ताड़पत्र और नीलकमलोंके थे । भीलनियोंके मुख-कमलके रसलम्पट, वे बच्चोंको कन्धोंपर उठाये हुए, सजल मेघोंके समान काले थे ।

(म० पु० १, २१६)

रामको शबर-किरातोंसे जनकका राज्य बचाने तो जाना ही पड़ा था; किन्तु वनवासके समय भी ये जातियाँ उन्हें मिली थीं, जैसे विन्ध्याचलमें रुद्रभूति (प० च० २, ५२) । यह यहाँका भील राजा था । हर्षचरितमें हर्षको भी आटविक सामन्त व्याघ्रकेतु मिला था, (पृ० २४, डॉ० अग्रवाल)

देशोंके नाम—स्वयंवर, दिग्विजय या युद्धका निमन्त्रण भेजनेके लिए देशों और जनपदोंके नाम गिनानेकी भी प्रथा इस काव्यमें मिलती है । भौगोलिक या ऐतिहासिक दृष्टिसे इनकी व्याख्या करना कठिन है । कुछ नाम तो पौराणिक हैं और कुछ कल्पित या परम्परागत । जैसे अनन्तवीर्यने भरतके विरुद्ध अभियानके लिए इतने नरेशों और राज्योंको लेखपत्र भेजा था—केसरि मारिचण्ड, जमघण्ट, कोंकण, मलय, पाण्ड्य, आणट्ट (आनर्त), पारियात्र, गुज्जर, गंग, बंग, मंगाल (मंगोल), पह्लविय, तज्जिय, पारसीय, पंचाल, सिन्धव, कामरूप, गम्भीर, परती, मरु, कण्णाड,

लाड, जालन्धर, टक्का, आभीर, कीर, खस और बब्बर। (प० च० २, ७३)

भोगभूमिका अन्त होनेपर रिसभ जिनके आदेशसे ये गाँव और जनपद आबाद किये गये—पल्लय (पल्लव), सेन्धय, कोंकण, कोसल, टक्का (हीर), कीर, खस, केरल, अंग, कलिंग, गंग, जालन्धर, कच्छ, जवण (यवन), कुरु, गुज्जर, वज्जर, द्रविण, गउड, कण्णाड (कर्णाट), बराड़ (बरार), पारस, पारियाय, पुण्णाउ, सूर (सौर), शुरट्ठ (सौराष्ट्र), लाट, कोंग, बंग, मालव, पंचाल, मागह, जट्ट, भोट्ट, नेवाल, उड्ड, पुण्ड, हरि, कुरु और मंगाल। इसके सिवा दूसरे अटवी, देश और खेड़े (गाँव) भी बसाये। (म० पु० १, ८९)

सुलोचनाके स्वयंवरमें इतने देशोंके राजा आये थे—केरल, सिंहल, मालव, कोंकण, बर्बर, गुज्जर, जालन्धर, वज्जर, कंभोज, कोंग, गंग, कलिंग, काशी, टक्क और कुरु। (म० पु० १, ४४४)

भरतने जिन प्रदेशोंको जीता, (म० पु० १, २३१) वे उपरोक्त (म० पु० १, ८९) सूचीसे मिलते-जुलते हैं। इनमें यवन, बर्बर आदि कई ऐसे जनपद या जातियाँ हैं, जो छठी सदीके बाद अस्तित्वमें आयीं। इसलिए उन्हें भरतके समयसे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

बाज़ार-हाट

बाज़ारका भी दो-चार प्रसंगोंमें वर्णन मिलता है। हनुमान्ने किष्किन्धाके बाज़ारका यह रूप देखा—

'कहीं चन्दन चर्चित श्रीखण्डके भाण्ड रखे हैं। कहीं कस्तूरी, केशर, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यसमूह हैं। कहीं भोजन बनानेवाली स्त्रियोंकी चूड़ियोंसे खन-खन आवाज़ हो रही है। कहींपर गोरी, बाहरसे मीठी वेश्याएँ रहती हैं। कहीं जुआ हो रहा है। कहीं नाचघर और प्रदर्शन दीख रहे हैं। कहीं पानवालों और मालाकारोंकी पंक्तियाँ हैं। कहीं व्याकरण पढ़ा जा रहा है। कहीं सुन्दर नमक है। कहीं तेल-मिश्रित घी रखा है। कहीं मत्त कामिनियाँ हैं। (प० च० २, १९७)

इसीसे मिलता-जुलता वर्णन अन्यत्र (प० च० पृ० २०७) भी मिलता है। दोमंज़िली नगरीमें प्रवेश करते हुए लक्ष्मणने लुहारकी दुकान भी देखी थी—

कत्थइ लोहारेहिं लोहखंडु पिट्टीजइ णरएं व पापपिंडु।

(प० च० ८१)

इस हट्ट मार्गसे हटते ही लक्ष्मण राजद्वारपर जा पहुँचा। लक्ष्मीनगरके बाज़ारमें रामके दूतने देश-देशकी वस्तुएँ देखी थीं—

चेलउ हरिकेलउ सच्छायउ वड्डायरउ लोणु विक्खायउ।
वइरायउ वज्जु मणि सिंहलु णेवालउ कत्थरिय परिमलु।
कंची केरउ णयरु विसिट्ठउ चीणउ णेत्तु वियड्ढेहिं दिट्ठउ।
अण्णु इंदु वायरणु सुणिज्जइ भू वा वल्लउ गेउ झुणिज्जइ।

(प० च० २, १९२)

विवाह

विवाहका बहुत ही रोचक वर्णन इस साहित्यमें है। इसके प्रसंग भी अधिक हैं। संक्षेपमें ही मुख्य बातोंका निर्देश कर रहे हैं। बाणके हर्षचरितमें राजन्य-वर्गके विवाहका वर्णन है, आलोच्य काव्यमें मध्यम और श्रेष्ठि वर्गके। राम-सीताके विवाहपर स्वयंभूने केशर, कपूर, चन्दनके छिड़काव और गाजे-बाजेका उल्लेख किया है (प० च० २, ८)। रिसभके विवाह-वर्णनमे निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं —

१. अनेक द्वारोंका मण्डप, ऊपर चँदोवा, मणिरत्नोंसे उसकी सजावट।
२. तरह-तरहके वाद्य बज रहे थे।
३. स्त्रियों-द्वारा धवल और मंगल गीतोंका गान, चौक पूरना, कंगन बाँधना।
४. वरयात्रा, घूँघट खुलायी, पिता-द्वारा दोनोंका करस्पर्श करना।
५. होम और बिदा, नाटककी योजना, इन्द्रका रसाभिनय।
६. चौथे दिन कंगन छोड़ना, और सुहागरात।

(म० पु० १, ६२-७१)

जयकुमार-सुलोचनाके विवाहमें थोड़े हेर-फेरके साथ इन्हीं बातोंका उल्लेख है। (म० पु० १, ३८७)

बन्धवइ और कमलाके विवाहमें सजावट, रंगोली चौक, भोजन, आभूषण, मान-पान आदिका व्यवस्थित निर्देश है, फिर पंगत होती है। नाना वाद्योंके साथ बरात चल पड़ती है। मंगल शब्दों और घीकी आहुतिके साथ विवाह होता है। उसके बाद युवतियोंका खुलकर हास-परिहास, तरह-तरहकी कामुक चेष्टाओं आदिका अंकन है। (भवि० क० ५)

कवि धाहिलने पद्मश्रीके विवाहका साहित्यिक शैलीमें सुन्दर वर्णन किया है।

ज्योतिषियोंके अनुसार शुभ तिथि तय होनेपर विवाहकी तैयारी प्रारम्भ कर दी गयी। सामान जुटाया जाने लगा। सम्बन्धियोंको न्योते भेज दिये गये। मण्डप सजा दिया गया। बच्चे फूले नहीं समा रहे थे। बालाका मन नाच-नाच उठता था। बाद्योंकी ध्वनिमें ब्राह्मण श्रुतिपाठ कर रहे थे। सुहागिन स्त्रियाँ कौतुक रचकर गीत गा रही थीं। कन्याका अभिषेक हुआ। वस्त्र और गहनोंसे सजाकर आँखोंमें अँजन आँज दिया गया। वह कुलदेवीके सम्मुख ले आयी गयी। इधर कुमार भी सज-धजकर हाथीपर बैठकर बारातके साथ चला। आशीर्वाद और जयगानके बीच बारात वहाँ पहुँच गयी। स्वागत, खान-पान, आदर-सम्मानका प्रबन्ध सुन्दर था। सखियाँ वरको मातृ-मन्दिरमें ले गयीं। पद्मश्रीकी सहेली दूल्हासे मज़ाक़ करने लगी। उससे सात दोहे पढ़वाये। दोनोंका विवाह हो गया (प० सि० च० २४)। जसहर चरिउ (२१), करकण्ड चरिउ (२६) आदिमें भी संक्षेपमें इसीके समान वर्णन हैं।

विवाह—भारतीय समाजकी महत्त्वपूर्ण प्रथा है अतः इसका अपभ्रंश कवि विशेष वर्णन करते हैं। अधिकांश कवियोंने विवाहके समय वधूके मुखके ढके रहनेका उल्लेख किया है।

भोजन

विवाह और विशेषतः आहारदानके प्रसंगमें अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें भोजनका भी वर्णन किया गया है। प्रायः कुछ खास पकवानोंके नाम गिनाये गये हैं। एक-दो स्थानोंपर खाद्यान्नोंकी लम्बी सूचियाँ भी हैं। वर्णन प्रायः श्लेषमें है। इसमें भोजनके गुणोंका उल्लेख अवश्य रहता है। कहीं-कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा भी है। जिससे दाता और ग्रहणकर्ताके दृष्टिकोणका पता लग जाता है। मन्दोदरी सीताको भोजन दे रही है—

'पहले उसे गरम पेय दिया, जो (रावणके) विरह-वेगके समान गरम था, जिन-वचनकी तरह तीखा, मीठा और दोषनाशक था। फिर सालन परसे गये जो रावणके आशा-बन्धनकी तरह थे। फिर सुअंध (सुगन्धित) खाद्य दिया, जो रावणकी दृष्टिकी तरह सुअंध था (म० पु० १, ४४४)।

कवि स्वयंभूने इसी प्रसंगमें खाद्य वस्तुओंके नाम गिनाये हैं—भात, शक्कर, खीर, दूध, लड्डू, नमक, गुड़, ईख, मंडा, सोयवत्ति, घेउर,

मूँगकी दाल, तरह-तरहके कूर, सालण, माइणी, माइन्द, अल्लय, पिप्पलि, मिरियामलय, असलक, लवण, मालूर, चिर्भटिका, कचोर, बासुत्त, पेडअ, पापड़, केला, नारिल्ल, दही, करमर, करवंद, सोल (शर्बत), वक, वाइडाण, कारेल्ल, मही, बघारी हुई कढ़ी, सौवीर और खटाई (प० च० २, २३८) ।

सीताने वनमें मुनिको आहार दिया । कविकी उपमा है –

दिण्णइं पुणु तिम्मणइं मणिट्ठइं अहिणव कइ वयण इव मिट्ठइं ।

(प० च० २, १०७)

इसी तरहका श्लिष्ट भोजन वर्णन पउम चरिउ (२, ३७), जसहर चरिउ (३८) में द्रष्टव्य है । भविसयत्त कहा (८४ पृ०) में एक धार्मिक पंगतके अवसरपर भी खाद्य पदार्थोंकी लम्बी सूची दे दी गयी है ।

पारिवारिक जीवन

गर्भावस्था—अपभ्रंश काव्योंके वस्तु-वर्णनमें इस अवस्थाका चित्रण बराबर मिलता है । करकण्डूकी माँके गर्भवती होनेपर उसके चिह्नोंका स्वाभाविक वर्णन है (कर० च० ७) । कमलाकी गर्भावस्थाका भी ऐसा ही वर्णन है (भवि० क० ७) । नागकुमारकी माँकी भी यही हालत हुई (णा० कु० च० १९) । इसमें प्राय: शरीरकी कृशता, भारीपन, चेहरेका पीला पड़ जाना, पेटकी त्रिवलीका मिटना – आदि बातें वर्णित की जाती है । दोहदका उल्लेख भी इसीका एक अंग है । पद्मावतीको वर्षामें हाथीपर बैठकर पतिके साथ शहर घूमनेकी इच्छा हुई । कभी-कभी इसके भयंकर परिणाम भी होते थे ।

पुत्रजन्म—पुत्र-उत्सवका भी जहाँ-तहाँ उल्लेख है । पुत्र-पुत्री दोनोंके जन्मपर खुशी मनायी जाती थी । पद्मश्रीके जन्मपर उसके पिता संखने हर्ष-बधावा किया । खूब तूर्य बजे और वेश्याएँ नाचीं । (प० सि० च० १३) । नागकुमारके जन्मपर प्रकृतिमें अनूठी शोभा छा गयी । धवल मंगल गीत होने लगे । विलासिनियोंका नृत्य हुआ । दानसे दीन, अपाहिज प्रसन्न हो उठे । बन्दी जेलसे मुक्त कर दिये गये (ण० कु० च० २०) । भविसके जन्मपर उसके पिताने शानदार उत्सव किया । एक माह बाद वे बालक-को धूम-धामसे जिन-मन्दिर ले गये । दोनोंने जिन-पूजा की (भवि० क० ७) ।

स्वयंवर—स्वयंवरका वर्णन तीन प्रकारका है । पहलेमें कन्या अपने पसन्दके व्यक्तिका वरण कर लेती थी । दशरथ और कैकेयी,

जयकुमार व सुलोचनाके विवाह इसी तरह हुए। एक विद्याधरकी कन्या श्रीमालाके स्वयंवरकी चिट्ठी पहुँचते ही देशके कोने-कोनेसे राजा एकत्र होने लगे। स्वयंवर भवनकी शोभा अनूठी थी—

णिय णिय थाहेहिं णिबद्ध मंच महा कवि कव्वालोप व सुसंच।

सजे हुए मंचपर बैठकर, उम्मीदवार अपनेको सँवारने लगे—

भूसंति शरीरइं बार बार कंठाइं मुअन्ति लयन्ति हार।
सुन्दर सच्छाय विकणय डोर अलियं जि पिवंति भणेवि थोर।
गायंति हसंति पुणसणत्थ अंगई मोडंति वलंति हत्थ।

श्रीमाला सज-धजकर हथिनीपर बैठकर वहाँ आयी और एकके बाद एकको उपेक्षा करती हुई, पीछे अँधेरा और आगे प्रकाश बिखेरती हुई चली।

पुरउज्जोवंतिय दीवि जेम पच्छइ अन्धारु करन्ति तेम।
णं सिद्धि कुमुणिवर परिहरन्ति दुग्गंध रुक्ख णं भमरपंति।

(प० च० १, ६३)

अन्तमें उसने किष्किन्धा नरेशके गलेमें वरमाला डाल दी। बस विद्याधर उसपर टूट पड़े। अस्त्रोंकी झंकारसे आकाश गूँज उठा।

दूसरे ढंगका स्वयंवर सीताका था। उसके चुनावका आधार परीक्षा थी। जो उसमें सफल होता वही कन्याका अधिकारी होता। लेकिन तब भी लड़ाई हो ही जाती (प० च० २, ७)।

तीसरे ढंगमें घोषणा-द्वारा युवकोंको परीक्षाके लिए बुलाया जाता था। कभी-कभी यह परीक्षा क्रूर भी होती थी। जैसे वनमालाको पानेके लिए लक्ष्मणको शक्तियाँ झेलनी पड़ीं (प० च० २, ८०)। इसके पहले इसे पानेके लिए सैकड़ों युवकोंका खून हो चुका था। उनकी हड्डियोंसे एक पहाड़ बन गया था। वीणा भी चुनावका उत्तम साधन थी।

स्वयंवरकी ये प्रथाएँ सामन्त घरानों तक ही सीमित थीं। क्योंकि साधारण जनता इतना खर्च नहीं उठा सकती। स्वयंवर प्रथाकी यह वर्णन-परम्परा केशवकी रामचन्द्रिकामें है।

युद्ध

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यमें प्रेम-प्रसंगकी अपेक्षा युद्ध-प्रसंगका वर्णन अधिक है। रस-प्रकरणमें इनके कारणोंका विचार किया गया है। युद्ध-वर्णनकी निम्नलिखित पद्धतियाँ मिलती हैं—

१. युद्धकी घोषणा होते ही सुभट उल्लासपूर्ण तैयारी शुरू कर देते हैं। कोई तलवार कमरपर कसता है, कोई धनुषपर डोरी चढ़ाता है, कोई म्यानसे तलवार खींचता है (म० पु० १, २८६)।

२. युद्धमें जानेके पहले योधा अपनी पत्नियोंसे अवश्य मिलते हैं। बढ़-चढ़कर अपनी शेखी बघारते हैं। जैसे एक योधा कहता है—'मैं जो गजोंका सिर फाड़ूँगा, उससे घरके ऊखलका काम चलेगा। जो खींस उखाड़ूँगा उसका मूसल बन जायगा (प० च० १, १२१)। बीचमें शृंगारका पुट भी रहता। जैसे कोई भट कह रहा है—'जरा जल्दी आलिंगन दे दे, मुझे आज शत्रुका सफ़ाया कर अपने स्वामीका राज्य निष्कण्टक बनाना है (म० पु० १, २८७)।

३. सेनाके अभियानका आतंकपूर्ण वर्णन मिलता है। वासुदेवकी सेनाके प्रस्थान करते ही उसकी फहराती ध्वजाओंसे आकाश काँप उठा, हाथियोंके भारसे धरती दबने लगी। रथोंकी चीं-चींसे शत्रुओंका नाश सूचित होने लगा। अश्व-खुरोंसे आहत धूलने सूरजको ढक दिया। (म० पु० २, १६१) करकण्डूके चलते ही धरती काँप उठी, दिशाएँ धूलसे भर गयीं (कर० च० २८)।

शस्त्रपूजा भी युद्ध-प्रसंगका एक अंग है। खास-खास हथियारों (चक्र० खड्ग, धनुष आदि) की पूजाका बराबर उल्लेख है। अधिकतर विजय इन्हींपर अवलम्बित थी। भरतने चक्रसे ही सारी धरती जीती। राम लक्ष्मणकी सारी विजयोंका श्रेय इनके धनुषोंको है। रावणको सूर्य-हास खड्ग मिल जाता तो वह हारता ही नहीं। शस्त्रोंका उपयोग भी बड़ी सावधानी और विधि-विधानसे किया जाता था। चक्रवर्ती भरत तीर चलानेके पहले उपवास रखता था (म० पु० १, १२-१३वीं सन्धियाँ)। वस्तुतः ये पौराणिक अस्त्र हैं, जो दिव्य शक्तिके प्रतीक समझे जाते थे। हिन्दू पुराणोंमें भी ऐसे अस्त्रोंका उल्लेख है। अतः इनके प्रति पूज्य-भावना उस युगमें स्वाभाविक ही थी।

धनुषकी टंकारका युद्ध-वर्णनमें अवश्य उल्लेख रहता है। करकण्डूके धनुषकी टंकारसे तारा, ग्रह और सूरज हिल उठे। धरती डगमगा गयी। बिलोंसे साँप निकल आये। सूरजके घोड़े भयके मारे ध्वस्त हो गये। पहाड़ थर्रा उठे, वरुण, यम आदि आशंकित हो उठे (कर० च० ३२), (म० पु० १, २१८, प० च० २, ५५, १८१), ये वर्णन हिन्दी कवियोंके समकक्ष है।

युद्ध प्रसंगमें स्त्रियोंकी गर्वोक्तियाँ अधिकतासे मिलती हैं। इनमें श्रृंगार और गर्वका अपूर्व मिश्रण रहता है। युद्धके लिए सन्नद्ध अपने पतिसे कोई कहती है, 'इतना करना कि पीछे मुँह कर पैर मत देना।' कोई कहती, 'मैं तभी अपनेको धन्य मानूँगी, जब शत्रुकी खोपड़ीमें रक्तके घीका दिया जलाऊँगी।' एक और कहती, 'किसी सिद्धकी आज्ञासे पिशाच-को अपने साथ रखना, जिससे वह तुम्हारे मरणकी सूचना हमें दे सके, मैं भी तब तुमसे रमण करने आऊँगी।' (म० पु० २, ४८४)। भविसकी पत्नियाँ उसे यही समझाती हैं कि राजाके दान-मानकी लाज रखना (भवि० क० १०१)। कई पत्नियाँ चाह रही थीं कि वे पतियोंको रक्तका टीका लगायें, और उनका पति गजघटाका आलिंगन करे, उनका नहीं (म० पु० १, १६७)।

युद्ध शुरू होनेके पूर्व प्रायः दूत-द्वारा सन्धि करनेका प्रयत्न किया जाता। दूतके प्रतिवेदनके बाद ही युद्ध प्रारम्भ होता। अन्यत्र इस बातका निर्देश हो चुका है कि कितने युद्धोंमें ये दूत किस प्रकार भेजे गये। दूतका प्रस्ताव अस्वीकृत होता और युद्धका निमन्त्रण आ जाता। युद्धका अन्त प्रायः हार-जीतमें ही होता। पर कभी मन्त्रियोंके अनुरोधसे सामूहिक युद्धकी अपेक्षा द्वन्द्वयुद्ध-द्वारा ही प्रमुख योधा हार-जीतका निपटारा करते। कभी लड़की बीचमें पड़कर (प० च० २, २५) युद्ध रुकवा देती। कभी लड़नेवाले सम्बन्धी हुए, तो जानकारी होनेपर युद्ध-दृश्य मिलन-दृश्यमें बदल जाता। वस्तुतः अधिकांश युद्ध 'सुभट भिडंत' ही होते। उनमें प्रायः हाथा-पाई, गाली-गलौज, मार-पीट और हल-मूसलके प्रहारोंकी ही मुख्यता होती। युद्धके बाद घायलोंका क्या होता था, इसका वर्णन नहीं है। पराजित शत्रु या तो क्षमायाचना कर लेता है, या फिर संन्यास ग्रहण कर लेता है। युद्धमें आहत सामन्तोंकी बहुसंख्यक पत्नियोंके सती होनेकी प्रथाका उल्लेख इस काव्यमें नहीं है। यद्यपि यह प्रथा उन दिनों थोड़ी-बहुत थी। सती होनेके स्थानपर ये जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेती हैं।

गज वर्णन

अपभ्रंश कवियोंको गज वर्णन खूब प्रिय है। युद्ध हो या विवाह सब जगह हाथीकी ही पूछ है। कभी हाथी उत्पात भी कर देते थे (णा० कु० च० ३५)। जान पड़ता है गुप्त युगमें हाथीका जो महत्त्व बढ़ा, वह उत्तरकालमें और भी बढ़ गया। राजा हाथी पकड़नेमें विशेष दिलचस्पी

लेते थे। रावण जिस हाथीको पकड़ने गया था वह ७ हाथ ऊँचा, ९ हाथ लम्बा, १० हाथ चौड़ा, ३ हाथ विस्तृत था। दाँत स्निग्ध और आँखें शहदकी तरह पीली थीं। अलसीके फूलकी तरह लाल सूँड़ और मुख था। ५ मंगलावर्तोंसे सहित मद और अच्छे लक्षणोंसे युक्त था (प० च० १, ९३)। यह भद्र जातिका हाथी था। बाण-द्वारा वर्णित, हर्षका दर्पशात हाथी भी इसी जातिका था (ह० सां० अ० ४१), पर दोनोंके लक्षण नहीं मिलते। सम्भव है इसकी भी कई जातियाँ रही हों। अपभ्रंश साहित्यमें स्वभाव और उपयोगिताकी दृष्टिसे हाथियोंके कई भेद किये हैं (प्रक० ५०)। 'रावण लाठी लेकर उसे पकड़ने चला। उसने कलकल किया, तूर्य बजते ही हाथी उसपर ऐसा झपटा जैसे मेघ विन्ध्याचलपर। उसने सूँड़पर लाठी मारी और हाथीके आघात करनेके पहले ही वह फुरतीसे बाहु ठोककर पीठपर चढ़ गया। फिर बुद-बुद कहकर उसने गरदनपर मारा। कभी कन्धेपर होता और कभी पैरोंके बीचमें। उसने हाथीका नाम त्रिजगभूषण रखा (प० च० १, पृ० ९४)। णायकुमार चरिउ (पृ० ३६) का हाथी पकड़नेका वर्णन इससे मिलता है। हाथीकी सजावटका भी उल्लेख मिलता है (प० सि० च० पृ० २२, म० पु० ३, पृ० ३७, प० च० १६०)।

जल-क्रीड़ा

जल-क्रीड़ाके वर्णनकी प्रवृत्ति अपभ्रंश कवियोंमें बहुत है। स्वयंभूको जल-क्रीड़ाके वर्णनकी श्रेष्ठतापर नाज था। काव्यादर्शमें जल-क्रीड़ाका उल्लेख महाकाव्योंके लिए आवश्यक माना गया है। स्वयंभूने जल-क्रीड़ाका विशेष रूपसे वर्णन किया है, पुष्पदन्तने उद्यान-क्रीड़ाका। स्वयंभूके जल-क्रीड़ा वर्णनकी श्रेष्ठताके तीन कारण हैं – १. प्राकृतिक पृष्ठभूमिका देना, २. साधनों और क्रीड़ाका उल्लेख ३. पुष्पदन्तकी अपेक्षा वह संयत है। स्वयंभूको वसन्तमें जल-क्रीड़ा पसन्द थी, पुष्पदन्तको शरद और वसन्तमें। फिर भी वह पुष्पक्रीड़ा, वनक्रीड़ा आदिका वर्णन पसन्द करते हैं। स्वयंभूने नदी और सरोवर दोनोंमें जल-क्रीड़ा करवायी है। पुष्पदन्तकी जल-क्रीड़ा सरोवर तक सीमित थी। वास्तवमें जल-क्रीड़ा शृंगारका जीता-जागता दृश्य थी। कविके शब्दोंमें 'कहीं-कहीं टूटे हुए हारोंसे पानी सफ़ेद हो रहा था, कहीं नूपुरोंकी झंकार हो रही थी, तो कहीं सुवासित स्त्रियाँ क्रीड़ा कर रही थीं (प० च० १, ११६)। खेल-खेलमें कोई राजाको

कमल मार रही थीं, कोई-कोई नयी मालतीमाला, कोई पाटल कुसुम, कोई पूगफल और कोई बकौली। इतनेमें राजाने यह कहकर डुबकी साध ली कि 'लो मुझे पकड़ो, रमो, नहाओ, छिपो।' तब महादेवीने भी ऊँह कह-कर गोता लगाया (वही ११६, ११७)।

रावणके अनुचरोंने आकर जलयन्त्रोंका वर्णन इस प्रकार किया –

अवरेक्केण वुत्तु मइं जंतइं दिट्ठइं णिम्मले सलिले तरंतइं।
अइं सुदरइं सुकिय कम्माइं व सुघडियाइं अहिणव पेम्माइं व।
णिग्गलइं सु किविण हिययायंव णिउण समासिय सुकिय पयाइं व।
संचारिमइं कुपुरुस धणाइं व कारिमाइं कुट्टणि वयणाइं व।
(प० च० १, १२०)

लक्ष्मण कल्याणमालाको जल-क्रीड़ाका वर्णन इस प्रकार देखता है –

तरुवरे तरुवरे मंचु णिवद्धउ मंचे मंचे थिउ जणु समलद्धउ
मंचे मंचे आलावणि वज्जइ महु पिज्जइ हिंदोलइ गिज्जह।
(प० च० २, ४६)

पुष्पदन्त पहले वन-क्रीड़ाका वर्णन करते हैं फिर जल-क्रीड़ाका। राम अन्तःपुरके साथ जैसे ही नन्दनवनमें पहुँचे, एक मुग्धाको देखकर हंस चौंक उठा। वह अपनी गतिका लीला-विलास ही भूल गया। किसीके हाथमें भ्रमर आ लगा। वह अपनेको जड़ समझ रहा था। किसीसे आकर मृग चिपट गया; मानो वह उससे दीर्घ कटाक्ष माँग रहा था। किसीने कमल अपने कानोंमें लगा लिया, क्योंकि वह उसके नेत्रोंसे हार मानकर कुम्हला रहा था। किसीने कुवलयमाला पहन ली, किसीने लताकी करधनी बना ली (म० पु० २, ४११)।

पक्षियोंका कलरव सुननेके बाद जल-क्रीड़ा शुरू हुई। पुष्पदन्त इसमें शृंगारका खुला वर्णन करते हैं –

अल्लउ परिहणु ढलिउ विहाविउ लज्जइ सलिलि अंगु लिहक्काविउ
कावि उरत्थलि चडिय उविंदहु भावइ विज्जुल अहिणव कंचउ।
(म० पु० २, पृ० ४१३)

कृष्णकी जल-क्रीड़ामें भी लगभग यही बात है –

काहि वि सुण्हु वत्थु तणुघडियउं अंगावयवु सव्वु पायडियउं।
(म० पु० ३, पृ० ११६)

नारीके विविध रूप

नारीके विविध रूपोंका वर्णन तीन प्रकारका है – १. शास्त्रोंके आधारपर, २. प्रादेशिक दृष्टिसे, ३. चरित्रको लेकर। रामने लक्ष्मणसे चन्द्रनखाके साथ विवाह करनेको कहा, इसपर उसने सामुद्रिक और कामशास्त्रके आधारपर बताया – 'जिसकी जंघा और छाती अभंग हो, हाथ अँगुली, नख और नेत्र लम्बे हों, नाक और भाल उन्नत हों, ऐसी स्त्री तीन बच्चोंकी माँ होती है। जो काकके समान स्वर और पैरवाली होती है, जिसके पैरोंकी अँगुली बराबर होती है, उसकी आयु कम होती है। जो हंस और वीणाके स्वरवाली, मधुके रंगके महामेघके समान कान्तिवाली होती है तथा जिसकी नाभि, सिर और स्तन गोल होते हैं वह बहुपुत्रा और धानवाली होती है। जिसके हाथमें मछली, कमल आदि चिह्न होते हैं, वह शान्तलक्षणा होती है। जिसपर चक्र, कुण्डल और अंकुश उभरे हों, जिसकी रोमावलि शंखकी तरह झुकी, भाल अर्धचन्द्रके समान और दाँत मोती-जैसे हो, वह चक्रवर्तीकी पत्नी और चक्रवर्तीकी तरह होती है। पर यह तो खोटी महिला है। इसकी जाँघें और हाथ मोटे हैं, आँखें चंचल हैं। चलनेमें उतावली करती है। पैर कछुएकी तरह उभरे, बाल कड़े और कपिल रंगके हैं। अँगुलियाँ विषम हैं, रोम घने हैं, पति पुत्र दोनोंको यह खा जायेगी। जिसकी भौहें मिली हुई होती हैं वह अवश्य ही व्यभिचारिणी है। जो दरिद्र, तीतर और बटेरकी तरह आँखवाली होती है वह अवश्य जमभक्षिणी है। जिसकी नजर, स्वर आदि खराब हों वह दुखिया रहती है। थोड़ी चपटी नाकवाली लंजिका (वेश्या) होती है। जिसकी कमर नाभि और मुख मसीला हो वह अवश्य राक्षसी है। भला इससे मैं कैसे विवाह कर सकता हूँ।' (प० च० २, १२२)।

रावण सीताको देखकर स्त्रीके चार भेद करता है—भद्रा, मन्दा, लता और हंसी। इनमे पहली सबसे अच्छी होती है (म० पु० २, ४०६)। फिर कवि ऋषि, विद्याधर आदिकी स्त्रियोंको गिनाता है। उनमें तापसी गोरी और भोली होती है। विद्याधरी मदिरा और फूलोंको पसन्द करती है। यक्षिणीको धनका लालच होता है। पिशाचिनी तामसिक और घुमक्कड़ होती है। स्त्रियोंके और भी भेद होते हैं। जैसे—सारसी, मृगी, रिठूणी, गधी, धृतराष्ट्री, महिषी, खरी आदि (म० पु० २,४०६)। इनके भी लक्षण गिनाये हैं।

प्रदेशोंके आधारपर स्त्रियोंका वर्णन इस प्रकार है—मालविनी इच्छित सुखको देनेवाली होती है। बनारसकी वनवासिनी स्त्री तेज बोलनेवाली और लम्पट होती है। (अर्बुद) पहाड़की स्त्री गजगामिनी होती है। धन वह पहले ही हड़प लेती है। सीमित रति-सुख लेकर फिर काम-काजमें जुट पड़ती है। सिन्धु देशकी महिला सुन्दर गीतोंसे खुश रहती है। इसपर वह प्राण और पैसा दोनों अर्पित कर देती है। कोसल देशकी स्त्री मायाविनी होती है। सिंहली स्त्री रतिके गुणसे पायी जा सकती है। द्राविड़ी नख और दन्तच्छद सह सकती है। आन्ध्री अधिक रतिसे डरती है। उड्नारीको काम-विज्ञानसे पाया जा सकता है, और कलिंगीको उपकारके द्वारा। सौराष्ट्रकी नारी चुम्बनसे ही खुश हो जाती है। गुजरातिन अपने काममें दक्ष होती है। महाराष्ट्र महिलाको कितना ही सिखाओ वह धूर्त ही रहती है। कुछ भी हो पर कोंकण देशकी स्त्री तो प्रियके ध्यानमें ही सूखती रहती है। पाटलिपुत्रकी महिला लीला-प्रदर्शनसे खुश रहती है। पारियात्रकी स्त्री अच्छा व्यवहार करती है। हिमवन्तकी स्त्री कुछ जादू जानती है, उससे प्रिय उसके पैरोंपर गिर पड़ता है। मध्यदेशकी महिला कलाविद् होती है और कमलकी तरह सुकुमार। (म० पु० २,४०७)

चरित्रकी आलोचना वहीं है जब स्त्री शीलसे गिरती है। पर कभी-कभी सन्देह मात्रसे भी यह सम्भव है। जैसे समुद्र कहता है—'दुराचारिणी स्त्री माँ-बाप, भाई-बहन कुछ भी नहीं गिनती। मरण भी उसके लिए कुछ नहीं है। उसे न भय होता और न लज्जा। कपटसे पतिको मरवाकर दूसरेसे रमण करती है। फिर वह भी पसन्द नहीं आता। बहु भंगिमाओंसे युक्त, पलंगपर लेटी हुई वह ऐसी लगती है मानो साँपोंसे लिपटी चन्दनलता हो। कुलटा स्त्री सन्ध्याकी तरह शीघ्र अपना रंग बदल लेती है। धनुषकी तरह गुणसहित होकर भी वह कुटिल होती है।' (प० सि० च० २९)

नलकूबर नरेशकी पत्नीने रावणके पास अनुचित प्रस्ताव भेजा, इसपर वह कहता है—

अहो साहसु पमणइ पहुमुयवि जं महिल करइ तं पुरुसु ण वि।

दुम्महिल जि भीसया जम णयरि दुम्महिल जि असणि जगयंति करि।

दुम्महिल जि सविस भुयंग फुड दुम्महिल जि वइवस महिस झड।
दुम्महिल जि गरुय वाहि घरहो दुम्महिल जिवग्घ मज्झ घर हो।

(प० च० १, १२६)

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अपभ्रंश कवियोंने नारीकी निन्दा-ही-निन्दा की है। उपयुक्त अवसर आनेपर वे नारीके प्रशंसक भी हैं—

सोरह वर वहुयए धव लच्छिए साहह माहव उरयल लच्छिए।

(णा० कु० च० ८४)

राम यहाँतक कह देते हैं कि संसारमें सब कुछ पाया जा सकता है, पर सुन्दर योग्य स्त्रीका पाना कठिन है। (प० च० २ पृ० १४१)

रूप-चित्रण—अपभ्रंश काव्योंमें नरकी अपेक्षा नारीका रूप-चित्रण अधिक है। नारी और प्रकृतिमें ये कवि भेद नहीं देखते। दोनोंके सौन्दर्य उपादान एक-दूसरेके उपमेय-उपमान बनकर आ सकते हैं। (म० पु० २, पृ० ४१२) यह चित्रण कविसमयके अनुसार है। स्त्रीके अंगोंकी तुलनाके लिए प्राकृतिक उपमान ही आते है। पद्मश्रीका रूप-वर्णन यह है, 'उसके बाल भ्रमर और अंजनकी तरह काले, भाल पंचमीके चाँदके समान वक्र, और नेत्र नील-कमलकी तरह थे। उसका मुख लक्ष्मीके लीला-कमलका उपहास करनेवाला था। ओठ कुन्दरू-जैसे और कण्ठ शंखकी तरह था।' या 'टूटी हुई वीणाकी तरह स्तन भार, कल्पलताके पल्लवके समान सुन्दर हाथ, सुन्दर नाभि प्रदेश, तरंगकी तरह त्रिवलि, रक्त कमलकी तरह पैर, शशि किरणकी तरह नख, और कोइलके समान वाणी थी।' (प० सि० च० १३, १४) धाहिलका भविष्यानुरूपाका रूप-चित्रण भी ऐसा ही है पर क्रम उसमें 'नख-शिख' है जबकि यहाँ 'शिख-नख' है। पद्मावतीका रूप-वर्णन निम्नप्रकार है—

'चमकते हुए दाँत अनारके दानोंकी तरह लगते थे। नाककी उन्नति न सह सकनेसे ही उसके ओठ मानो लाल हो उठे थे। मुखपर बाल ऐसे लगते थे मानो केतकीपर भ्रमर मड़रा रहे हों। अत्यन्त सघन भौंहें, कामदेवकी धनुष-यष्टिकी तरह जान पड़ती थी। शोभासे अमूल्य उसका भालतल ऐसा प्रतीत होता था मानो आधा चाँद ही वहाँ आकर लग गया हो। खूब नीले-घने केश ऐसे लगते थे मानो मुखचन्द्रके डरसे अन्धकार ही आपसमें मिल रहा हो।'

यहाँ हेतु उत्प्रेक्षामें ही यह चित्रण है (कर० च० ११)। पृथ्वीदेवीके रूपचित्रको देखकर जयन्धरकी यह उक्ति है—

णं काम भल्लि णं काम वेल्लि णं कामहो केरी रहसु हेल्लि ।
णं काम जुत्ति णं कामवित्ति णं काम थत्ति णं काम सत्ति ।

(णा० कु० च० ११)

कन्याकी अपेक्षा वधूका रूप-चित्रण अधिक है। कमलश्रीके रूपका (भवि० क० ५) वर्णन है, पर विवाहके उपरान्त। इसी तरह पृथ्वीदेवी-का भी (णा० कु० च० १२)। वर्णनका क्रम नख-शिख भी है और शिख-नख भी। कहीं इनमें-से किसी एकका आदिसे अन्त तक निर्वाह है, कहीं उसमें भी व्यतिक्रम है। कवि पहले दाँतका वर्णन करता है फिर उरका, और तब नेत्रका; जैसे मरुदेवीके रूप-वर्णनमें। (म० पु० १, पृ० ३२९) वर्णनमें उत्प्रेक्षा अधिक है। मरुदेवीके ही रूप-चित्रणमें ये उत्प्रेक्षाएँ हैं – १. नभसे उतरकर क्या देवपंक्तिने मेरे पैरोंकी लाली देख ली, यही सोचकर मानो नुपूर रुनझुन कर रहे थे। २. जाँघें नीचेको क्षीण थीं, मानो खलजनकी करनी हो। ३. भौंहोंकी वक्रता न सह सकनेसे आँखोंने कानोंके पास शरण ली। ४. स्तन मानो कामदेवके तोरण-खम्भ थे।

उपमा भी है – उसके सन्धि-बन्ध राजाकी मन्त्र-भाषाकी तरह गूढ़, व्याकरणकी तरह समस्त और काव्य (अप० काव्य) की तरह सन्धियुक्त थे। (म० पु० १, पृ० ३२) प्रतीक शैलीमें भी वर्णन है –

१. चित्तकी गतिको रोकनेवाले उसके स्तन-युगल कहाँ और कहाँ कवियोंके कल्पित कनक कलश। २. जलानेवाली उसकी मुख-शोभासे ही चन्द्रमा मैला और काला हो गया। ३. मृग उस अवलोकनको नहीं जानते जिससे कुमारियाँ देखती हैं, फिर भी पता नहीं उन्हें क्यों मृगनयनी कहा जाता है। ४. उस गुरु नितम्बका क्या वर्णन हो जिससे त्रिभुवन लघु हो गया। (म० पु० १, पृ० ४३९) प्रौढोक्ति भी है, पर केवल पुष्पदन्तमें। (म० पु० १ पृ० ३९५) अतिशयोक्तिमें रूप-चित्रण नहीं मिलता। व्यतिरेक या उल्लेखमें गुणमूलक वर्णनके उदाहरण अवश्य हैं। (प० च० १, ७, जस० ५) श्लेष शैलीमें सीताका रूप-चित्र यह है उसकी देह, सुकविकी कथाकी तरह सन्धि (जोड़ सन्धि), पद (पद-पैर), सुवयण (वचन, वदन), शब्द (अक्षर-स्वर) से युक्त थी। रोमराजि चीटियोंकी क़तारकी भाँति[1] थी। (प० च० २ पृ० १३१)

---

१. गुणेने इसे धनपालकी मौलिक उपमा मानी है, पर यह ठीक नहीं। (भवि० क० भूमिका)

अपभ्रंश कवि सौन्दर्य-चित्रणमें विद्रूप और बीभत्स उपमाएँ नहीं देते। रूप-चित्रणमें अंगोपांगका वर्णन न कर केवल उसके प्रभावका ही उल्लेख कर दिया जाता है। सुलोचना स्वयंवरमें पहुँचकर जिसे भी देखती उसे सन्तप्त बना देती (म० पु० १, पृ० ४४३), ऐसा चित्रण प्रायः स्वयंवर और आसक्तिके प्रसंगमें ही आता है।

साधारण अवसरपर प्रथम प्रदर्शनके बाद ही रूप-चित्रणकी प्रथा सर्वत्र नहीं है। विशेष परिस्थितिमें उत्पन्न पात्रके भावको लक्ष्यमें रखकर उसके रूपका चित्रण करना इन कवियोंकी मुख्य विशेषता है। उदाहरण-के लिए—स्वयंभू कैकेयीका पहले रूप-चित्रण नहीं करते लेकिन जब वह दरबारमें अपने वरदान माँगने जाती है तब देखिए—

णवा सोय वच्छच्छया छाय पाणी।
वरालाविणी कोइलालाव वाणी॥
महा मोर पिच्छोह संकास कैसा।
अणंगस्स मल्लीव पच्छण्ण वेसा॥

(प० च० २, १२)

पुरुषके रूप-चित्रणमें प्रायः शौर्यकी झलक है जैसे बाहुबलिका वर्णन (म० पु० १, ८३)। अपभ्रंश कवि शृंगारकी दृष्टिसे ही रूप-चित्रण नहीं करते; किन्तु भद्दे रूपका भी चित्रण सफलतासे करते हैं। जसहर राजाकी रानी जिस कुबड़ेसे प्रेम करती थी, उसका वर्णन इस प्रकार है—

वव दड्ढ थाणु संकास तणु जो दीह दंत दंतुर वयणु।
कइम बुब्बुअ संणिह णयणु अइ अड्डु वियड्डु हड्डु विसमु।
णिरु फुट्टपाय कयणय विरमु॥

(जस० च० २७)

स्त्रियोंकी प्रतिक्रियाका वर्णन अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। किसी बातको लेकर स्त्रियोंपर सामूहिक रूपसे क्या प्रतिक्रिया होती है, इसके वर्णनकी प्रवृत्ति अधिक है। यह खबर लगते ही कि जिन या कोई साधु आये हैं स्त्रियाँ झुण्डके झुण्ड बनाकर चल पड़ती है। (म० पु० १, पृ० १८, कर० च० ८१) आदि जिन आहार-को निकले तो स्त्रियाँ दौड़ीं। कोई कहती, इधर तो देखिए, मैं कबसे हाथ जोड़े खड़ी हूँ। कोई कहती, भगवन् दया कीजिए, एक बार बोल-

भर लीजिए। कोई कहती, प्रभु मेरे घर आइए, क्या मेरी सेवा अच्छी नहीं लगती। (म० पु० १, १४२)।

एक स्थलपर कृष्णको देखकर स्त्रियाँ इस प्रकार कहती हैं—कोई बोली, 'अरे यह संकर्षण हलधर है। पर यह तो हल नहीं चलाते, खींचते (हृदयको) जरूर हैं।' कोई बोली, 'अरे रे, यह वही नारायण हैं, जिन्होंने स्वयंप्रभाका दिल चुरा लिया है।' (म० पु० ३, पृ० १५५)।

रामके वियोगमें अयोध्याकी नारियाँ विकल थीं—'कोई हिरनीकी तरह विपन्न थी, कोई दहाड़ मारकर रो रही थी। कोई जब दर्पण देखती तो उसमें लक्ष्मण ही दीखते। (प० च० २, २३)

लक्ष्मणको देखकर लंकाकी कुमारियाँ कामविह्वल हो उठीं—'कोई बड़ोंके डरके कारण मलिन दृष्टिसे देख रही थी, कोई चंचल कटाक्षसे। किसीकी करधनी खिसक गयी, कोई बेसुध हो गयी। किसीने कहा, 'हला चलो इन्हें देख लें, शायद वह घर आ जायें।'

इस प्रकारके वर्णन-प्रसंगमें तीसरे स्त्री-पात्रकी योजना इन काव्योंमें बहुत है। ये पात्र मुख्य कथाके अंग तो नहीं होते, पर उनकी बातचीतसे वर्णनमें रोचकता आ जाती है। तुलसीने राम-वनके वर्णनमें जो ग्राम-वधुओंका सन्निवेश किया है, वह इसी परम्पराके कारण। मानसके राम ईश्वर हैं। ग्रामीण नारियाँ भी मुग़ल युगकी हैं, इसलिए उनमें श्रद्धा, विनय और संकोच है। परन्तु इन काव्योंके नायक प्रायः कामदेवके प्रतीक हैं। नारीको भी स्वतन्त्रता अधिक थी, अतः उनके उद्गारोंमें शृंगार-भावना अधिक है। फिर भी सूरके लीला गानमें यह प्रवृत्ति साफ़ दिखाई देती है।

भावव्यंजना

पात्र-द्वारा व्यंजना वर्णनवाली शैलीकी अपेक्षा अपभ्रंश काव्यमें उक्तिमूलक शैली अधिक है। अतः भाव-व्यंजनाके साथ इसमें वस्तु-व्यंजना भी मिलती है। गर्वकी व्यंजना बहुत है, इसका कारण नायकोंका शुद्ध वीर होना है। रावण कहता है, 'मैं जलती आग बुझा सकता हूँ, दिशापथोंको चूर-चूर कर सकता हूँ। हवाको बाँध सकता हूँ, समुद्रका जल सोख सकता हूँ, विषाक्त साँपको ला सकता हूँ। चन्द्र और सूर्यका हरण कर सकता हूँ, आकाश-पाताल एक कर सकता हूँ; पर व्रत ग्रहण नहीं कर सकता।' (प० च० १, १४७)

यह तुलसीके पद 'जो हौं अनुशासन पावों'से तुलनीय है।

निर्वेद—विरक्त बाहुबलिकी उक्ति है—

कंचण कंडे जंबुउ विंधइ मोत्तियदामें मंकडु बंधइ।
खीलिय कारिणि देउलु मोडइ, सुत्त णिमित्तु दित्तु मणि फोडइ।
कप्पू राय रुक्खु णिसुंभइ कोद्दव छेत्तहु वइ पारंभइ।
तिलखलु पयइ डहिवि चंदण तरु विसु गेण्हइ सप्पहु ढोयवि करु।
पीयइ कसणयं लोहिय सुकइं तक्कें विक्कइ सो माणिक्कइं।
जो मणु यत्तणु भोए णासइ तेण समाणु होणु को सीसइ।

(म० पु० १, २६९)

आवेग—अंजनाके मूर्छित होनेपर वसन्तसेनाके प्रलाप वचनोंमे आवेग-की सुन्दर व्यंजना है। (प० च० १, १५६)

तर्क—(वीरका संचारी) हनुमान्की उक्ति है, 'क्या हाथीका बच्चा पेड़ नहीं नष्ट करता ? क्या चिनगारी पहाड़ दग्ध नहीं करती ? बालचन्द्र क्या सम्माननीय नहीं होता ?' (प० च० १, १६३)

अमर्ष—लक्ष्मण कहता है, 'धरणेन्द्रका फण-मणि किसने तोड़ा ? वज्रदण्ड कौन मोड़ सका ? अपनेको प्रलयकी आगमे कौन झोंकना चाहता है ? सूरजके तेजको कौन ढक सकता है ? रामके रहते कौन राजा हो सकता है ? (प० च० २, १८)

चिन्ता—लक्ष्मणके वियोगमें वनमाला कह रही है—

किं पइसरमि वलन्तें हुआसणे किं समुद्दे किं रण्णे सुभीसणे।
किं विसु मंजमि किं अहि चप्पमि किं अप्पउ करवत्तें कप्पमि।
किं करिवर दन्तहिं उर भिन्दमि किं करवालेहिं तिलुतिलु छिंदमि।
किं दसि लंघमि किं पव्वजामि कहो अक्खमि कहो सरणु पवज्जमि।
अहवइ एण काइँ गमु सज्जमि तरुवर डालए पाण वज्जमि।

(प० च० २, ६९)

शोक—चन्द्रनखा अपने बेटेका सिर कटा देखकर कहती है—

हा पुत्त विउज्झहि लुहहिमुहु हा विरुअए णिद्दए सुचु तुहुं।
हा किण्णालावहि पुत्त मइं, हा किं दरिसाविय माय पइं।
हा उब संघरहि रूवु लहु, हा पुत्त देहि पियवयणु मुहु।
हा पुत्त काइं किउ रुहिर वडु हा पुत्त एहि उच्छंग चडु।

हा पुत्त काइ मुहे मुहकमलु हा पुत्त एहिपिउ थण-जुअलु ।
हा पुत्त देहि आलिंगणउ जें णच्चमि वणे वद्धा वणउ ।

(प० च० २, ११८)

ईर्ष्या, ममता, करुणा—कमलाकी उक्ति है—
को पिक्खिवि मणु अब्भुद्धरमि महि विवरु देहि जिं पइसरमि ।
हा पुत्त वीरु वद्धा वणउं महुं दीणहि वयणु दया वणउं ।
हा पुत्त जंतु विणि वारियउ ताएं वहुवारउ वारियउ ।

(भवि० क० ५७)

भाग्यकी विडम्बना—सीता देवी कहती हैं, 'खल पिशुन कठोर भाग्य देवता, तुम्हारा मनोरथ खूब सफल हो, तुमने दशरथका कुल तितर-बितर कर दिया । बलिकी तरह दशों दिशाओंमें बखेर दिया । मैं कहीं, राम कहीं, लक्ष्मण कहीं, बीचमें इतना बड़ा समुद्र ।' (प० च० २, २६४)

पुत्री होना ही बुरा है—
जसु धीय नत्थि कुलु विमलु तासु जसु धीय नत्थि सो सुह निवासु ।
जसु धीय नत्थि सो नरु कुलीणु न कयावि जंपइ कहवि दीणु ।
जसु धीय नत्थि दुन्नय णिहाणु को खंडिवि सक्कइ तासु माणु ।
जसु धीय नत्थि दुस्सील वित्ति, अकलंक तासु जगि भमइ कित्ति ।
जसु धीय नत्थि सो गुरू होइ घरि बहिरि परियणि सयणि लोइ ।

(प० सि० च० ३२)

लड़की परायी होती है—
परमेसर इत्थु अखंतिकउ सव्वउ कण्णउ परभायणउ ।
सरियउ णीसरेवि महीहरहो ढोयन्ति सलिलु रयणायर हो ।
मोत्तिउ मालउ सिरे कुंजर हो सिंचन्ति अंगु णवतरुवर हो ।
उपज्जवि मज्झे महासरहो णलिणिउ वियसंति त्रिवायर हो ।

(प० च० १ पृ० ५३-५४)

जीवन दर्शन—भविस अपनी पत्नीको समझा रहा है—
हे सुंदरि मं जाहि विसाय हो सव्वहो मणुअ जम्मि संजाय हो ।
सुह-संजोउ विआएं भज्जइ दुदुणुवि सुहकम्में उप्पज्जइ ।
रिद्धि विणासिं समउं पवज्जइ अलक्कइ मरणु वि सपज्जइ ।
जोव्वणु जर रक्खसिए गिलिज्जइ तं लाहउ जं जणि जीविज्जइ ।

(भवि० क० ८३)

पात्र-द्वारा वस्तु वर्णन भी सम्भव है, जैसे विद्युदंग चोर सेनाके अभियान-की सूचना देता हुआ कहता है—

> पेक्खु पेक्खु आवंतउ साहणु गलगज्जंतु महागय वाहणु।
> पेक्खु पेक्खु हिंसति तुरंगम णहयले विउले भमंति विहंगम।
> पेक्खु पेक्खु चिन्धइं धुव्वंतइं रहचक्कइं महियले खुप्पंतइं।
> पेक्खु पेक्खु वज्जंतइं तूरइं णाणाविह णिणाय गंभीरइं।
>
> (प० च० पृ० ३२)

इसी प्रकार हरिषेणके मन्दिरका वर्णन (प० च० १, ९१), विमानसे आते हुए धरतीके दृश्यका विवरण (प० च० १, ९८), क्रमशः सन्देह और उत्प्रेक्षामें द्रष्टव्य है। घटनाकी पुनरावृत्ति अधिक है। यह प्रायः उक्तिमुखेन ही होती है। (भवि० क० ६५, कर० च० ६५, जस० च० प० च०, म० पु०)

संवाद-शैली—संवाद-शैली इन काव्योंमें सजीव और सुन्दर है। भरत बाहुबलि प्रसंग (स० पु० १, २७४, प० च० १, पृ० ३४), दरबारका विवरण (भवि० क०), भाभी-ननदकी बातचीत (प० सि० च०), युद्धके प्रसंग इस शैलीके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। पउम चरिउका सुन्दर काण्ड प्रायः इस शैलीमें रचित है। मन्दोदरीने जाकर सीतासे कहा—

> रावणु मुएवि अण्णु को वलियउ सुरवर णियरु जे ण पडि खलियउ।
> रावणु मुएवि अण्णु को मल्लउ जो तिहुयणहो मल्ललु एक्कलउ।

तब सीताने यह मुँहतोड़ जवाब दिया—

> हले हले काइं काइं पइंवुत्तउ उत्तमणारिहे एउण जुत्तउ।
> किह दइयहो दूअत्तणु किज्जइ एण णाइं महु हासु दिज्जइ।
> मंछुडु तहुं परपुरिस पइद्धी तें कज्जें महु देहि दुबुद्धि।
> मत्थए पउड वज्जु तहो जारहो हउं पुणु भत्तिवंत भत्तारहो।
>
> (प० च० २, १६२)

इसपर मन्दोदरीकी यह धमकी है—

> जइ लंकाहिउ कहविण इच्छहि।
> तो कन्दंति पइं तिणि तिलु करवत्तेंहिं कप्पइ।

तब सीता जवाब देती है—

> केंचिउ बार बार वोल्लिज्जइ जं चिंतिउ मणेण तें किज्जइ।

इसी बीचमें रावण आ धमका। वह दीन स्वरमें बोला—

किं सोहग्गें भोग्गें ऊणउ किं विरूयउ किं अत्थ बिहूणउ।
किं लावण्णें वण्णें हीणउ किं मम्माणें दाणे रणे दीणउ।

सीताने कहा—

ओसरु दहवयण, तुहुं अम्हहुं जणय समाउण।
(प० च० २, १६३)

रावणने फिर लंका दिखाते हुए यह विनय की—

महु जीवहु देहि बोल्लाहि वयणु सुहावणउ।
चउ मयवर खंधें लइ महरवि पसाहणउ।

इसपर सीता बोली—

एउ जं रावण रज्जु तुम्हाराउ तं महु तिण समाणु हल आरउ।
सग्गेण वि काइं जहिं चारित्त हौ खंडणउ।
किं सयलहमेण महु पुणु सीलु जे मण्डणउ।
(वही, १६९)

रामका दूत बनकर आये हनुमान्पर मन्दोदरी यह व्यंग्य करती है—
चंगउ पुरिस विसेसु गवेसिउ साणु लएवि सीहु परि सेसिउ।
खरु संगहेंवि तुरंगमु वचिउ जिणु परिहरिवि कुदेवउ ऊच्चिउ।
(वही, २३०)

हनुमान्ने कहा—
जं वइं रामहो णिंद कय किह सय-खंडु ण जीह गय।

युद्धमें हराकर अपने नानासे हनुमान कहता है—
तुहुं देव दिवायरु तेय पिंडु हउं किं पि तुहारउ किरण संडु।
तुहुं वर मय लंछणु भुवण तिलउ हउं किं पि तुहारउ जोण्हणिलउ।
तुहुं माणस सरवर सारविंदु हउं किं पि तुहारउ सलिलविंदु।
तुहुं केसरि घोर सउद्दणाउ हउं किं पि तुहारउ णह णिहाउ।
तुहुं वर तित्थयरु महाणुभाउ हउं किंपि तुहारउ वय-सहाउ।
(प० च० २ पृ० २०५)

इन उक्तियोंको देखकर, निराला कविकी 'तुम और मैं' कविताकी याद हो आती है[1]। आचार्य शुक्लका यह आरोप है कि (पद्मा० पृ० ७४)

१. परिमल ८४, इसमें 'जीव और ब्रह्म' के सम्बन्धका वर्णन है।

भाषा-कवियोंमें वस्तु-वर्णनकी निपुणता नहीं पायी जाती। संस्कृत कवि इसमें निपुण होते हैं। भाषा-कविसे उनका तात्पर्य अपभ्रंश कवियोंसे भी है। परन्तु इस विवेचनसे यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है। जिन कारणोंसे शुक्लजी (भ्र० गी० सा० ११) सूरसागरको पहलेसे चली आती हुई परम्पराका, चाहे वह मौखिक रही हो, पूर्ण विकास मानते हैं, उन कारणोंका थोड़ा परिचय इस वस्तु-वर्णनसे मिल जाता है। सूर इस अपभ्रंश काव्यधारासे परिचित थे या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख तो उन्होंने नहीं किया; लेकिन इतना निश्चित है कि उनके साहित्यमें लौकिक परम्पराके पूर्ण विकासके साथ, किसी-न-किसी लिखित काव्य-परम्पराका अनुकरण भी होना चाहिए। वह परम्परा क्या हो सकती है यह बतानेकी आवश्यकता नहीं।

•

अपभ्रंश काव्योंकी रस-सिद्धि

आदिपुराणमें रिसभ जिनके वैराग्यके विषयमें एक घटना आती है, 'जब बहुत समय तक वह सांसारिक भोगोंसे विरक्त नहीं हुए तो स्वर्गसे इन्द्रने अप्सरा नीलांजनाको उन्हे विरक्त करनेके उद्देश्यसे भेजा। वह आदि जिनकी रंगशालामे अभिनय करने आयी। उसने हाव-भावके साथ सभी भावोंका कलापूर्ण नाटच-अभिनय किया। अन्तमे जब उसने शान्त रसकी भूमिका ग्रहण की तो वह मूछित होकर धरतीपर गिर पड़ी। उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।' यह घटना अपभ्रंश काव्यमे रसकी स्थितिका ठीक परिचय देती है। अपभ्रंश कवि भी रसोंकी योजना करते है, पर उनका अन्त होता है शान्तमे। यहीपर उनकी काव्य-भावना भी अपना प्रदर्शन बन्द कर देती है। प्राय: सभी कथा-नायकोंका जीवन नाना घटनाओं, परिस्थितियों और भावनाओसे आन्दोलित रहता है; पर अन्तमे एक हलका-सा भी आघात उन्हें शान्त रसमे परिणत कर देता है। शास्त्रीय दृष्टिसे महाकाव्यमे शृंगार, वीर, और शान्तमे-से कोई एक रस मुख्य हो सकता है, और बाक़ी उसके अंग। परन्तु शान्तको छोड़कर अंगीरसका यह नियम नाटकोंके लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उसमें अभिनयका बन्धन है; परन्तु महाकाव्यमे भिन्न रसोंकी हम स्वतन्त्र अनुभूति विभिन्न स्थलोंमे कर सकते है। अत: काव्यमें उनके स्वतन्त्र विचारके लिए काफ़ी गुंजाइश है।

भरत मुनिके अनुसार मुख्य रस चार है—शृंगार, वीर, रौद्र, और बीभत्स। इनसे क्रमश: चार और निकले—हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक। शान्तको उन्होंने रस नहीं माना, यद्यपि उसके स्थायी भाव निर्वेदको प्रथम संचारी भाव स्वीकार किया है; परन्तु बादमे यह भी नवम रस माना गया। इसे रस न माननेके तीन कारण हैं—१. अमंगल रूप है, २. अनभिनेय है, ३. सुख नहीं होता। रसगंगाधरकार उसे नटमें असम्भव मानते हैं (शान्तस्य शमसाध्यत्वात् नटे च तदसम्भवात् ३।२४९)। मम्मटने (११वींका मध्योत्तर) 'शान्तोऽपि नवमो रसः' माना है। विश्वनाथ तो यह भी कहते है, 'शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्' (सा० द० ३।१८०)। अतः पाठ्य-काव्यमे 'शान्त' को रस माननेमें

कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं। अपभ्रंश कथा-काव्यमें शान्तकी प्रधानता है। सभी भावधाराओंका इसीमें अन्त होता है। हिन्दी साहित्यमें भक्ति और वात्सल्यको रस माना गया है। विश्वनाथने भी लिखा है, 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु.' (सा० द० ३।२५१)। इससे स्पष्ट है कि काव्यकी नयी प्रवृत्तियोंके अनुरूप संस्कृत समीक्षामें नये सिद्धान्त मान्य हुए। यदि रसकी मुख्यताका कारण उसका अन्त न माना जाये तो यह निर्विवाद है कि कथाके विकासकी दृष्टिसे इन काव्योंमें प्रायः सभी रस विकसित होते हैं।

शृंगारके दोनों भेद संयोग और विप्रलम्भकी सुन्दर अभिव्यक्ति इन काव्योमे है। अभिव्यक्तिका ढंग कुछ शास्त्रीय है, पर लोकरुचिका प्रभाव भी उसमे है। अपभ्रंश काव्यमें वर्णित प्रेमके कई रूप हैं और उनके कारण भी अनेक है। आचार्य शुक्लने पद्मावतकी भूमिकामें प्रेमकी चार पद्धतियोंका निर्देश किया है, पर यह आवश्यक नहीं; क्योंकि प्रेम एक व्यापक वृत्ति है, उसके कई रूप हो सकते है। यह भी आवश्यक नहीं कि विवाह सम्बन्धसे विकसित प्रेम सदैव आनन्ददायक ही हो, या प्रेमपूर्वक विवाहमें नायक-नायिकाके मिलनके बाद ही काव्यका अन्त हो जाये। यह कहना भी अधिक विचार-विलसित नही जान पड़ता कि विरह-वेदनाका भार भारतीय साहित्यमें प्रायः स्त्रियोंके मत्थे मढ़ा गया। तुलसीके राममे जो तेज, पौरुष और उत्साह दिखाई देता है वह दाम्पत्य प्रेमके कारण नहीं; अपितु उनके लोकोत्तर रूपके कारण। वस्तुतः शुक्लजीने कतिपय संस्कृत काव्य और नाटिकाओंके आधारपर अपने उक्त सिद्धान्त स्थिर किये थे। जहाँतक अपभ्रंश काव्य-कथाका सम्बन्ध है, उसमे प्रेमके ये रूप मिलते हैं—१. विवाहके लिए प्रेम, २. विवाहके बाद प्रेम, ३. असामाजिक प्रेम, ४. रोमैण्टिक प्रेम, ५. विषम प्रेम। उदाहरणके लिए बन्धदत्तका अपनी विवाहितासे प्रगाढ़ प्रेम था, परन्तु बादमें वह उससे विरक्त हो गया। उसने दूसरा विवाह कर लिया। दूसरी पत्नीसे भी उसका उतना ही प्रेम था। इसी तरह 'पउमसिरि चरिउ' में समुद्रने पद्मश्रीसे प्रेमपूर्वक विवाह किया, पर बादमें कल्पित आशंकासे उसे ठुकरा दिया। 'जसहर चरिउ' मे अमृतमतीका कुबड़ेसे जो प्रेम था, वह असामाजिक ही माना जायेगा; परन्तु सबसे अधिक है रोमैण्टिक प्रेमका चित्रण। इसके दो कारण हैं—१. सामन्तवादके उस युगमे बहु-पत्नी प्रथा थी; २. धर्मकी महिमा बतानेके लिए। लेकिन प्रेमकी इस विविधता और

उच्छृंखलताका मुख्य कारण बहुत-कुछ मानव-स्वभाव ही है। प्रेमकी विषमताका ज्वलन्त उदाहरण रावणका प्रेम है। यह मानना पड़ता है कि अपभ्रंश कवियोंने प्रेमके इस चित्रणमें सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण नहीं किया। फिर भी मानवीय भावोंके उतार-चढ़ावकी इन्हें अच्छी परख थी। दूसरे, ये कवि संयोग शृंगारकी अपेक्षा विप्रलम्भकी व्यंजना अधिक करते है। बहुत जगह तो संयोग वियोगकी पृष्ठभूमि बनकर आया है। जैसे 'पउमसिरि चरिउ' मे समुद्र और पद्मश्रीका संयोग-वर्णन। तीसरे, ये कवि कथाके अन्तमे नायकको विरक्तिका वर्णन करते हैं। असलमें यह विरक्ति भी रतिका एक रूप है; क्योंकि शृंगारमें रतिका आलम्बन दूसरा होता है और विरक्तिमें अपनी ही आत्मा। इसी तरह विप्रलम्भकी व्यंजनामे यह महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है कि वियोगिनी स्त्रियाँ आँसू ही नहीं बहातीं अपितु कठोरतासे अपना कर्त्तव्य-पालन भी करती हैं, कमला (भवि० क०) पद्म-श्री (पउमसिरि चरिउ) इसके उदाहरण है। प्रेम-वैषम्यके अपने निदर्शन इस काव्यमें हैं; पर सावधानी या मार्मिकतासे ये कवि उसके दुःखद या अनिष्ट अन्तको बचा देते हैं। अनुचित प्रेमके ऐसे प्रसंगोंमे या तो प्रेमीको अपनी भूलका पता लग जाता है और वह पश्चात्ताप करने लगता है, या फिर कोई व्यक्ति आकर उसे ऐसा करनेसे रोक देता है। कभी-कभी निराश प्रेमी परलोकमें मिलनकी मधुर आशासे तप करने चले जाते हैं।

सम्भोगका स्वयंभूने बहुत ही चलता वर्णन किया है। जो है भी मर्यादाके भीतर; परन्तु पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति बहुत है। रिसभ जिनके संयोग शृंगारके प्रसंगमे वह कहते हैं, उनकी तिरछी आँखें, तिरछी आँखोंसे जा लगीं, मानो मछलीसे मछली फिसल पड़ी हो (म० पु० १।६६)। वे श्रीमती और वज्रजंघकी कामक्रीड़ाका नग्न चित्रण करते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि पुष्पदन्तने शैल, वन या जलक्रीड़ा[1] का वर्णन प्रायः संयोग शृंगारके अन्तर्गत ही किया है (देखें विवरण)। 'भविसयत्त कहा' में प्रेमपूर्वक विवाह है; पर सम्भोगका खुला चित्रण भी है; पर प्रेमक्रीड़ाओंका उल्लेख अवश्य ही अन्तमें कह देता है 'ताव नवनेह निरन्तर काल हे। गय बारह संवच्छर' (भवि० क० ३८)।

---

१. विश्वनाथ सम्भोगके अनन्त भेद बताते हुए जलकेलि, वनविहारको इसीके भीतर मानते हैं (सा० द० ३, २११-२१२)।

पूर्वरागका बहुत ही उग्र और अतिरंजित वर्णन इन काव्योंमे मिलता है। यह शृंगारका आवश्यक अंग है, इसके अन्तर्गत कामदशाओंका भी वर्णन रहता है। पूर्वरागमें नायक और नायिका दोनों ही प्रयत्न करते हैं। विप्रलम्भमें काम-दशाका उल्लेख इन काव्योंमे मुझे नहीं मिला। पूर्वराग-जन्य यह उन्माद भयंकर रूप धारण कर लेता है। अपनी प्रेयसीको पानेके लिए नायक मरने-मारनेपर उतारू हो जाता है। आलोच्य साहित्यके आधेसे अधिक युद्धोंका कारण यही है। स्त्रियाँ भी पहले तो प्रियके पानेका हर सम्भव उपाय करती हैं; परन्तु बादमें कोई आशा न रह जानेपर आत्मघातपर उतारू हो जाती हैं, काम-दशा यथार्थमें पूर्वरागकी अतृप्त आकांक्षाका ही उग्र रूप है। पूर्वराग यदि उचित और सम है तो प्रेमी-प्रेमिकाका मिलन हो जाता है। यदि वह अनुचित या विषम है, या अभिभावक उसमें बाधक है तो कठिनाई होती है। यह कैसे हटायी जा सकती थी, इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। पूर्वराग-के अधिक उदाहरण विद्याधर जातियोंमे अधिक मिलते हैं। मानवी प्रेम-प्रसंगमे ये कवि विवाहके पहले शरीर-सम्बन्धको यथासम्भव बचाते है। अनुचित प्रेमकी व्यंजना उसकी बुराई बतानेके लिए ही ये करते है। अपभ्रंश काव्योंमे पूर्वरागके कारण ये है – १. रूप-दर्शन (पद्मश्री समुद्रदत्त), २. रूपगुण-श्रवण (करकण्डु मदनावली, नागकुमारका पिता और पृथुमती), ३. पूर्वजन्म-स्मरण (ललितांग विद्युद्वेगा), ४. चित्र-दर्शन (भामण्डल) अनुराग उत्पन्न होते ही अपभ्रंश कवि काम-दशाका चित्रण शुरू कर देते है।[1] जैसे नारद सीताका चित्र लेकर भामण्डलके पास गया, उसे देखते ही उसकी हालत चिन्ताजनक हो उठी—उसका मुख सूख गया, सिर घूमने लगा, बार-बार वह उसीकी चिन्ता करता, कभी ज्वरसे पीड़ित हो जाता, अंग-प्रत्यंग जल-जल उठते, मुँहका स्वाद बिगड़ जाता, एक भी कौर उसके गलेमें न धँसता, उन्माद बार-बार जाग पड़ता, मनमे सन्देह होने लगता और किसी तरह प्राण नहीं निकल रहे थे। यह भी उल्लेखनीय है कि शारीरिक तापका वर्णन ये कवि पूर्वरागके प्रसंगमें ही करते है। फिर भी काम-दशाओंके वर्णनमे कोई क्रम नहीं है। एक

---

१. (प० च० पृ० ५, ४६, १२०, १३२, १७१), (म० .पु० ८२, पृ० ४३२), (कर० च० २५, ६५) (प० सि० च० १५, १०, १७, २०) (प० कु० च० ५४)।

दूसरे उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। वनमालाकी अवस्था यह थी—१. वह किसीसे बोलती नहीं थी, २. लम्बे श्वास छोड़ रही थी, ३. अंग दग्ध हो रहे थे, ४. उसे लगता, कोई सिरपर करपत्र चला रहा है, ५. वह पसीना-पसीना हो उठती, ६. बार-बार मूछित हो जाती, ७. ठण्डा पानी भी अच्छा नहीं लगता, ८. लक्ष्मणका नाम पुकार उठती, ९. जाते हुए प्राणोंको नहीं देख पा रही थी, १०. छीजते हुए भी वह नहीं देख सकती थी (प० च० २, पृ० ४६)। पुष्पदन्तने रावणकी काम-दशाओंके वर्णनमें उनकी संख्या तो नहीं गिनायी पर क्रमशः वह व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता आदिका उल्लेख करते हैं। उन्मादकी कैसी सुन्दर व्यंजना इन पंक्तियोंमें है—

"जहाँ जाता, सीता ही उसे दिखाई देती, अन्धकारमें भी उसका ही रूप जड़ित जान पड़ता। यदि वह पानी भी पीता तो 'सीउ' (सीता और ठण्डा) समझता।" अरुचिका उदाहरण यह है—"वह यहाँ-वहाँ घूमता। एक जगह उसका मन नहीं लगता। न प्रिय मित्रोंके घरोंमें, न उद्यानमें, न पानमें, न सुन्दर गीतमें, कहीं भी उसका मन नहीं लगता।" (म० पु० २, पृ० ४३८)। यथार्थमें काम-चेष्टाएँ इतनी सूक्ष्म और विचित्र होती है कि उन्हें गिनी-गिनायी शास्त्रीय संख्यामें बाँधना कठिन होता है। यही कारण है कि इन काव्योंमें वर्णित काम-दशाओंमें शास्त्रीय संख्या-क्रम और स्वरूपका निर्वाह नहीं है। अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ शास्त्रीय परम्पराका विचार कर लेना चाहता हूँ। सबसे पहले भरत मुनिने नाटककी आलोचनामें (ना० शा० पृ० ७३) काम-दशाओंका उल्लेख किया है। उन्होंने विप्रलम्भ और करुण रसमें अन्तर बताते हुए कहा है कि शाप, क्लेश-विनिपातन, इष्ट-विप्रयोग, विभवनाश और वधादिसे जब इष्ट-वियोग निरपेक्ष भावसे होता है तब करुण रस होता है; परन्तु यदि मिलनकी सम्भावना हो तो विप्रलम्भ मानना चाहिए (ना० शा० पृ० ७३)। उन्होंने विप्रलम्भके कारणोंमें अनुरागकी गिनती नहीं की; परन्तु आचार्य विश्वनाथने मान प्रवास और करुणके अतिरिक्त पूर्वरागको भी वियोगका एक कारण माना है। वस्तुतः पूर्वरागको वियोगका कारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वरागके बाद संयोग हो जानेकी सम्भावना सदैव नहीं रहती। यही कारण है कि भरत मुनि वियोगमें संयोगकी पूर्वस्थिति स्वीकार करते हैं। उन्होंने काम-दशाएँ वियोगके अन्तर्गत मानी है; परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश कवि

काम-दशाओंको शुद्ध विप्रलम्भमे न मानकर पूर्व अनुरागमें मानते हैं। यही कारण है कि इसके अन्तर्गत वर्णित काम-दशाओंमें अधिकांश कवियोंने प्रायः 'स्मृति' और 'गुणकथन' इन दो काम-दशाओंका वर्णन नहीं किया। क्योंकि इनके लिए 'सहवास और मिलन' अपेक्षित है जो कि पूर्वरागमें सम्भव नहीं। भरत मुनि काम-दशाको वियोगके अन्तर्गत मानते हैं। अतः वहाँ ये दशाएँ सम्भव है। इसके अतिरिक्त ये कवि 'अरुचि' काम-दशाका वर्णन करते हैं। भरत मुनिने इसे नहीं गिनाया। विश्वनाथ सम्भवतः इस अव्यवस्थासे विज्ञ थे, उन्होंने पूर्वराग और प्रवासमूलक वियोगकी अलग-अलग दशाएँ गिनायी हैं। पूर्वरागकी तो वही दस काम-दशाएँ है जो भरत मुनिने मानी है; परन्तु प्रवास वियोग ग्यारह और नयी दशाएँ कल्पित की हैं (सा० द० ३, १५३)। वे ये है : असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुरता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मरण। इनमे कुछ तो पूर्वरागकी काम-दशाओंसे मिलती है और कुछ नयी है; परन्तु अपभ्रंश कवियोंने इनको पूर्वरागके अन्तर्गत दिखाया है। जैसे 'अरुचि' को विश्वनाथ प्रवासमें मानते है पर अपभ्रंश कवि पूर्वरागमे उसका वर्णन करते हैं। इतने भेद-प्रभेदके बाद भी जब कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकला तो विश्वनाथको अन्तमें यही कहना पड़ा कि ये भेद एक-दूसरेमें भी हो सकते हैं। केवल परम्पराके अनुरोधसे हमने अलग निर्देश कर दिया है (सा० द० ३।१५६)। इससे परम्पराको तो उन्होंने बचा लिया; पर समस्याका समाधान नहीं हो सका, क्योंकि उनमें जो समान दशाएँ है उन्हे कम कर, संख्या घटा देनेकी आवश्यकता अभीतक ज्योंकी त्यों है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि विश्वनाथका दृष्टिकोण और आलोचनाका क्षेत्र अपेक्षाकृत उदार तथा विस्तृत था। असल बात यह थी कि इन काम-दशाओंका नाटकमे नायक रंगमंचपर अभिनय करता था; परन्तु जब साहित्यमें उन्हें रसके साथ घसीटा गया तो उक्ति रूपमे ही उनका कथन हो सकता था। अपभ्रंश काव्यमें ऐसा ही हुआ, काव्यमें इन्हें ले तो लिया; पर व्यवस्थित मीमांसा किसीने नहीं की। जैसे-जैसे नाटककी बातें काव्यमें अपनायी गयीं उनका स्वरूप भी बदलता गया। अपभ्रंश कवि कुछ ऐसी दशाओंका भी उल्लेख करते हैं जिन्हें उक्त भेदोंमें खपाना कठिन है।

विप्रलम्भके जो चार भेद माने गये है उनमें पूर्वरागका विचार हो चुका है। मान विप्रलम्भका क्षेत्र भी संकुचित है, इसे कुछ उत्तरकालीन

संस्कृत नाटिकाओं तक सीमित समझिए। करुण विप्रलम्भ भी कल्पित कारणोंपर अवलम्बित है। संस्कृत साहित्यके लक्षण ग्रन्थोंमें इसके जो उदाहरण हैं वे कल्पित कथाओंके हैं (सा० द० ३।२०९)। अपभ्रंश कथा-काव्योंमें विप्रलम्भका यह रूप भी आता है, प्रवासजन्यके भी उदाहरण विरल नहीं। अपलाप और हरणसे वियोग भी सम्भव है; परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरे कारणोंसे भी इनमे वियोग हुआ है, जैसे 'भविसयत्त कहा' में वियोगका बीज पतिकी उपेक्षा है। पद्मश्रीकी लांछनाका मुख्य कारण पतिका सन्देह है। अंजना बेचारी सासकी ग़लत आशकाकी शिकार बनी। अतः विप्रलम्भके कारणोंपर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नही। अपभ्रंश कवि इस तथ्यसे अवगत थे। इसीलिए ये कवि काल्पनिक कारणोंकी अपेक्षा, वियोगके यथार्थ कारणोंको रखते है। वियोग वर्णनमें शारीरिक कृशताका वर्णन है; पर प्रायः उत्प्रेक्षामे, अतिशयोक्तिमें नहीं। मानसिक अनुभूतिका आलेखन अधिक होता है। अंजनाके वियोगमे पवनंजय सीधा वनमे चला गया। वहाँ पहले वह पशु-पक्षियोंसे अपनी पत्नीके बारेमे पूछता है। उसके बाद कवि उसकी उन्माद दशाका वर्णन करता है। अन्तमे वह अपने प्रिय साथी हाथीसे क्षमा माँगकर उसे मुक्त कर देता है। वह वनके भीतर समाधि लेकर बैठ जाता है। उसने अपने सम्मुख यह अंकित कर रखा था, 'अंजनाके मरनेपर मैं मर जाऊँगा, उसके जीवित रहनेकी खबर सुनकर ही मैं अपना मौन तोड सकता हूँ, नहीं तो मेरी भी वही गति होगी जो उसकी हुई।' अवश्य ही, ये उद्गार लोकचिन्ता शून्य और ऐकान्तिक कहे जायंगे; परन्तु जिस परिस्थितिमे यह सम्भव हुआ, उसे देखते हुए यह अतिरंजित नहीं। संयोगकी तरह वियोगमे पवनंजयकी भावनाकी चरम सीमा दिखाना कविका लक्ष्य है। ऋतुका उद्दीपन रूप वियोगमें नहीं है। उपालम्भकी पद्धति भी नहीं है (प० च० १, १३७), रावण जैसे ही सीताको लेकर विमानमे बैठकर चला, सीताने विलाप करना शुरू कर दिया। जटायु इस समय तक रावणसे आहत हो चुका था। इसपर पहले तो वह देवताओको कोसती फिर कहती—'यदि राम लक्ष्मण होते तो यह क्या मुझे इस तरह ले जा सकता, हे गुणसागर दशरथ, हे जनक, तुम अपनी जानकीको देख लो।' इसके बाद एक-एक करके अपनी सासोंके नाम पुकारती और अन्तमें कहती, 'हे भरतेश्वर भरत, हे राम, हे लक्ष्मण, तुम्हीं बताओ मैं अपना अन्याय किसे सुनाऊँ' (प० च० १, १३९)। यह सब होते हुए भी वह रावणके प्रलोभन या मायामें नहीं

फँपती। वह रावणके अनुचित प्रस्तावपर दो टूक जवाब देनेसे नहीं चूकती। यह विशेष रूपसे लक्ष्य करने योग्य है कि इस वियोग-वर्णनमें रतिके उपादानोंकी योजना करनेकी अपेक्षा स्वयंभू रावणकी चेष्टा और परिस्थितिका चित्रण अधिक करते हैं। उससे दो बातें प्रकट होती हैं, एक तो सीताके व्यक्तित्वका तेज, और दूसरे रावणकी कामाहत मानसिक अवस्था। कविने ऐसे प्रसंगमे अतिशयोक्तिमूलक उक्तियाँ नहीं कहीं। वह तीसरे पात्रके माध्यमसे वियोगजन्य कृशताका वर्णन करता है। उदाहरणके लिए हनुमान् सीताको रामकी कृशता बताता है, और रामको सीताकी। (देखें, विवरण और अलंकार प्रक०)। स्वयंभू इस प्रसंगको अधिक नहीं बढ़ाते क्योंकि अंजना और पवनंजयके प्रसंगमे वह पहले ही इस भावकी व्यंजना कर चुके हैं।

परन्तु इसी प्रसंगमें पुष्पदन्त रामके सन्तापका अधिक वर्णन करते हैं (म० पु० २, पृ० ४२८)। पुष्पदन्तमे यहाँ भी अलंकृत शैली अधिक है। अनुचरोंने जब सीताका उत्तरीयांश लाकर रामको दिया तो उन्होंने उसे आँखोंसे लगा लिया, क्योंकि वियोगमे प्रियकी वस्तुका मिलना उससे भी अधिक प्रिय हो उठता है; पर रावण जैसे ही सीताको लेकर नन्दनवनमें पहुँचा, तो वहाँकी प्रकृति उसे धिक्कारने लगी (देखें, प्रकृति चित्रण)। मदनावली (कर० च०) वियोगमें पहले तो मूर्छित हो जाती है, फिर होशमे आनेपर अपने भाग्यको कोसना शुरू कर देती है, अपनी हालतपर आठ-आठ आँसू बहाती है। पद्मश्रीके व्यक्तिगत दुःखका ही उल्लेख करना उसका लक्ष्य नहीं है, वह यह भी बताता है कि पति-परित्यक्ता स्त्रीकी कितनी असहाय अवस्था होती है (प० सि० च० ३३)। करुण विप्रलम्भका एक भी उदाहरण मुझे इन प्रबन्ध-काव्योंमे नहीं मिला। इसीलिए भवभूति अपने उत्तररामचरितमे 'करुण विप्रलम्भ' की जगह 'करुण' मानते है। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्यके बीच विप्रलम्भकी जो शैली प्रचलित थी, उसका नमूना 'सन्देश रासक' है। इसमें इतनी बातें उल्लेखनीय हैं, १. शारीरिक कृशता और अनुभावोंका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन, २. ऊहात्मक और अत्युक्तिपूर्ण कथन (श्लो० ७०–९५), ३. रूपचित्रण (२९–४०), ४. अलंकृत शैली (१०८, १११, ११२, ११९ और १२०), ५. उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका वर्णन। ६. प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारोंका उल्लेख, ७. दुःखके नाना कारणोंकी उद्भावना।

वीर—प्रायः अपभ्रंश कथा काव्योंमे युद्धोंकी भरमार है, इनके मुख्य

कारण हैं : नारी-अपहरण, स्वयंवर, पड़ोसीका राज्य छीन लेना, दिग्विजय, वन्दी कन्याओंका उद्धार; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्योंमें युद्ध हो। पउमसिरि चरिउ और जसहर चरिउ इसके अपवाद हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नामके आधारपर काव्य रूपका निश्चय करना कठिन है। प्रायः इनमें युद्धवीर अधिक हैं, धार्मिक रचना होनेसे दयावीर और दान-वीरके भी उदाहरण मिल सकते हैं। वीर रसके स्थल अधिक होनेसे वर्णनमें पुनरावृत्ति है, विशेषतः ऐसा उस स्थितिमे कि जब एक ही काव्यमें कई युद्ध-प्रसंग आ जायें। रावण और यमके युद्धका यह प्रसंग है—

रावणने ललकारते हुए कहा, 'अरे ठहर, मैं तेरा कुलकृतान्त आ गया हूँ। यह सुनकर यमने अपना भयंकर दण्ड चलाया, वह धक्-धक् करता हुआ आकाशमे जा रहा था; परन्तु रावणने उसे काट दिया, तब उसने चमकते हुए बाण छोड़ना शुरू किया, रावणने उन्हे भी वैसे ही हटा दिया जैसे दामाद दुष्ट ससुरालको छोड़ देता है (प० च०, ९६)। अथवा कृष्ण जरासिंधका युद्ध-वर्णन भी इसी तरह गर्वोक्तिपूर्ण है (म० पु० ३, १७१)। अपभ्रंश काव्यमे युद्धकी वर्णन-पद्धतियोंका महत्त्व है। इनमे प्रायः इतनी शैलियाँ मिलती हैं, १. द्वन्द्व युद्धमें योधा एक-दूसरेके अस्त्रोंकी काट करते है। २. अलंकृत शैलीमे ये कवि प्रायः रूपक (प० च० २, पृ० ३९, १३६), श्लेष (प० च० २, पृ० १७९), उत्प्रेक्षा (प० च० २, २१०), में युद्धका वर्णन करते है। योद्धाओंकी साहस-भरी मार-काटका चित्र भी आँकते है (म० पु० ३ पृ० १०९) या केवल अस्त्रोंके नाम गिना देते है (प० च० १, १३०)। एक शैली यह भी है कि दूसरा पात्र आकर युद्धका वर्णन करता है (देखें विवरण)। इसी प्रसंगमें यदि युद्धजन्य विनाशका चित्रण कर दिया जाये तो वह बीभत्सका उदाहरण हो सकता है (कर० च० ३०), (प० च० २, १७३), (म० पु० २, ४९७)।

रौद्रका वर्णन दो स्थानोंपर विशेष रूपसे देखनेको मिलता है। एक तो युद्धके प्रसंगमें और दूसरे कुछ पात्रोंके स्वभावगत चित्रणमे। लक्ष्मण, रावण, हनुमान्, कंस प्रभृति नायकोंको रौद्र रूप धारण करते देर नहीं लगती। रुद्रभूतिको रामके पैरोंपर पड़ा हुआ देखकर भी लक्ष्मण अपना क्रोध नहीं रोक सके।

'धक धक धगंतु थर थर करंतु हणु हणु भणंतु णं कलि कियंतु
करयल धुणंतु महिणिद्दलंतु विप्फुरियवयणु णिठुरियणयणु।'

(प० च० २, पृ० ५७)

या पद्मश्रीको चरित्रभ्रष्ट समझकर समुद्रका पारा गरम हो गया—

उब्भउ भिउडि भंग-भीसावणु कुविउ कयंतु नहि दुद्धंसणु
कोय फुरंत नासु उम्भिया हरु, कुरुल दिट्ठि न पयडु सपिच्छरु।

आकाशमें अपना विमान अवरुद्ध देखकर, रावण उबल पड़ा (प० च० १, १०७)।

भयानक—युद्ध और उपसर्गके प्रसंगोंके अतिरिक्त भी भयानक रसका वर्णन अपभ्रंश काव्यमें मिलता है। गर्भवती अंजना पर्वत गुफामें अपनी सहेलीके साथ अपमान और लांछनके दिन बिता रही थी, इतनेमें एक सिंह आ पहुँचा—

विहूणिय तणु दुरुग्गिण्णकमु सनि अरुणि णाइं जमकालसमु
कुंजर सिर रुहिएरुण णहयरु कीलाल सित्त केसर पसरु
अरि वियड दाढ फाडिय वयणु रत्तुप्पल गुंज सरिस णयणु
खय सायर रव गंभीर गिरु लंगूल दंड कंडुइय सिरु
तं पेक्खिवि हरिणाहिवइ अंजण समुच्छ महियलें पडइ।

(प० च० १, १५६)

बीभत्स—युद्धोत्तर विनाशके दृश्यांकन और विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए इस रसका प्रयोग अधिक मिलता है। मुनियोंके उपसर्ग-वर्णनमें भी मुनिपर उपसर्ग हो रहा है—

अण्णइं मसि वण्णइं अयरत्थइं णरसिर मालकवालविहत्थइं
अण्णइं सोणिव महरपियंतइं णच्चंतइं घुमंत घुलंतइं

(प० च० २, ९०)

जीवन-हिंसाके प्रसंगमें देखिए—

वसा वीसढं देहि देहा वसाणं
पविट्ठो असाणं सासणं मसाणं
कुमारेण तंतेण दिट्ठं रउद्दम
ललंतं तमालं सिवा मुक्क सद्दं
महा सूल भिण्णंग कुदंत चोरं
विहंडत वीरंस हुंकार फारं।

(जस० हु० १)

या (कर० च० ११ में) श्मशानका वर्णन। विरक्तिके लिए बीभत्स-चित्रणके उदाहरण (म० पु० १, पृ० १०७ में) देखिए।

करुण—करुणभाव अपभ्रंश कथाकाव्यमें अधिक है। परन्तु करुण प्रायः शान्तका अंग होकर आता है। 'करुण' का सम्बन्ध लौकिक प्रसंगोंसे होता है। साहित्य मीमांसकोंने करुण रसकी स्थिति वहीं स्वीकार की है जहाँ रतिके लौकिक आलम्बनका अत्यन्ताभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति आनेपर अपभ्रंश लेखक अध्यात्मवादसे काम लेते हैं। वे लौकिक आलम्बनकी हेयता या क्षणभंगुरता दिखाकर, करुणाके समूचे वेगको आध्यात्मिक साधनाकी ओर प्रवाहित कर देते हैं। इसलिए करुण रसके प्रसंग अपभ्रंश कथा-काव्यमे कम हो गये। यह भी आवश्यक नहीं है कि इष्ट-वियोगमें करुण रस ही हो। अपभ्रंश काव्योंका अन्त इसीलिए करुणाकी अपेक्षा शान्तमें ही होता है। यह होनेपर भी, पति नायकोंका निधन होनेपर, या दूसरी लौकिक और स्वाभाविक घटनाओंमे करुण रसकी व्याप्ति है। चन्द्रनखा अपने पुत्रके निधनपर विलाप करती है :

कंदति रुवंति सवेयणिय पिज्जीव जाय णिच्चेयणिय
पुणु दुक्खु दुक्खु संचरिय मण, मुहकायर, दर मउलिय णयण
पुणु उट्ठेवि विहूणइ भुअजुअल, पुणु सिरु पुणु पहणइ वच्छयलु
पुणु कोक्कई धाहहि रडइ पुणु दीसउ णिहालइ पुणु पडइ !

रावणकी मृत्युपर उसके अन्त पुरकी यह अवस्था थी—

हा भत्तार हार मण रंजण हा माल यल तिलय णयणंजण
हा सूहव सुरहिय सिरसेहर, हा रिउ रमणी कर कंगन हर
हा कणकलस विहूसन पल्लव, हा कर फंस जणिय रोमंचिय
आलिंगण कीला भूसिय भुय।

यहाँ शृंगार करुणका अंग है।

वात्सल्य—शृंगार और वात्सल्यका स्थायी भाव एक है। भेद केवल आलम्बनका है। शृंगारकी तरह यह भी व्यापक वृत्ति है, पर आलम्बनके अत्यन्ताभावसे इसके भी संयोग और वियोग दो भेद होने चाहिए। संयोग वात्सल्यकी प्रायः सभी अपभ्रंश कवियोंने (म० पु० ३, कृष्णकी बाल-लीला) (भवि० क० पृ० ५, ६) (णा० कु० च० २२) (कर० च० पृ० १५) व्यंजना की है। कुमार भविसका बचपन इस प्रकार हाथों-हाथ बीता—

हरिथं हत्थु ममइ जणविंदहो चरिय सुहावहु सुट्ठणरिंदहो
णारियहिं सइं आंकु लइज्जइ चामर गाहिणिहिं विज्जिजइ
पवर विलासिणीह चुंचिज्जइ अण्णहिं पासउ अण्णहिं लिज्जइ ।

उसकी स्वाभाविक चेष्टाओंका वर्णन—

कोमल पयहिं दलइ अण हारइं आ खंचिवि तोडइ सिय हारइं

पति इसपर पत्नीसे कहता है—

पिए सावण्ण एहु णउ दीसइ, मंच्छुहु कुलिउ उज्जोउ करेसइ

तब वह हँसकर कहती है—

जो तउ तणइ अंगि उप्पणउ तासु सरीरि होइ किं दुण्णउ

(भवि० क० ७-८)

पतिके ठुकरानेपर पुत्र ही कमलाका सहारा था, भविसके विदेश गमनकी आज्ञा माँगनेपर वह बोली—

एक्क अकादिण कुविय वियप्पें विण्णु अणंतु दाहु तउ वप्पे
अण्णु वि पइं दं संतरु जंतहो को महुसरणु हियइ पजलंतहो ।

उसे यह भी आशंका थी –

तो तउ करइ अमंगल जंत हो, मूलु वि जाइ काहु चिंतत हो

(भवि० क० १७)

इसके बाद कवि वियोग वात्सल्यके करुण चित्र अंकित करता है। बारह वर्षकी कठोर और आतुर प्रतीक्षाके बाद सबके लौट आनेपर भी जब कुमार भविस नही लौटता तो अभागी माँ यह समझने लगती है – '**कुसलु किंपि जाऊविणि मंतिए**' फिर वह प्रलाप करती है – (यह विवरणमे आ चुका है)। भविसयत्त कहाका मध्य भाग कमलाके रुदन, विलाप, आकुलता और चिन्ता आदिके उद्गारोसे व्याप्त है। रामके वन जानेकी आज्ञा माँगनेपर कौशल्याकी यह दशा थी –

हा हा काइं वुत्त पइं हलहर दसरह वंस दीव जग सुन्दर
पइं विणु को पल्लंक सुवेसइ रविहं दिणु को किंदुग्ण रमेसइ
पइं विणु को हय गयेमहुं चडेसइ पइं विणु को अत्थाणु वहंसइ ।

(प० च० २, १६)

कृष्णकी बाललीला – नन्द यशोदासे कहते है –

हल्लरु हल्लरु जो भण्णइ, तुज्झु दसाएँ होसइ उण्णइ

सूरके कृष्ण मणिमय आँगनमे अपना प्रतिबिम्ब देखते है जब कि पुष्पदन्तके कृष्ण घीके बरतनमें –

घय मायणि अव लोइवि मावइ णिय पडिबिम्बु हिट्टु बोल्लावइ
(म० पु० ३, ६५)

गोपियोंके साथ उनकी स्वच्छन्द क्रीड़ा थी –
रंगतेण रमंत रमंते मंथिउ धरिउ ममंतु अणंते ।
(वही ६४) ।

अपने पुत्रकी असाधारण लीलाओंसे यशोदा कभी-कभी खीज उठती और कहती – 'मेरी कोखसे तुम राक्षस पैदा हुए हो, तुमने क्रोधमें आकर बैलको क्यों मरोड़ दिया, तुम भाग्यसे बच गये, लोग खड़े-खड़े तमाशा देखते रहे, तुम कितना सताते हो मुझे, आओ घर चलें (म० पु० ३, पृ० ७२) । इसमें क्रोध वात्सल्य उपालम्भकी सुन्दर व्यंजना है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि १०वीं सदीमें कृष्ण इन लीलाओंके नायक बन चुके थे और उन्हें विष्णुका अवतार भी माना जाने लगा था । डॉ० धीरेन्द्र वर्माने एक जगह लिखा है कि सूरने कृष्णके वैभवका जो इतना वर्णन किया है उसका कारण मथुरासे आगरेका नैकटच है । लेकिन १०वीं सदीमें आगरा नहीं था, तब भी कृष्णकी लीला और वैभवका वर्णन है ।

हास्य – हास्य अपभ्रंश कथा-काव्यमें नहीं है । नारद-जैसे इने-गिने पात्रोंके चरित्रमें इसकी योजना है, पर वह रस स्थिति उत्पन्न नहीं करती, संस्कृत काव्योंमें भी हास्य रस नगण्य ही रहा, असलमें 'हास्य' की ठीक अभिव्यंजना नाटकमें ही सम्भव थी । विदूषक पात्र भी इसीलिए होता था । प्रबन्ध-काव्यमें ऐसा कोई स्वतन्त्र पात्र नहीं हो सकता था इसीसे विश्वनाथको यह लिखना पड़ा कि हास्यके आलम्बनका नायकके रूपमें वर्णन किसी काव्यमें नहीं होता । केवल आक्षेपसे प्रतीति कर लेते हैं (सा० द० ३, २२०) ।

शान्त रस कहा जा चुका है । अपभ्रंश कथा-काव्य शान्तमें अवसित होते हैं । इसका आलम्बन उदात्त या लोकविश्रुत हो, यह आवश्यक नहीं, महान् या लघु सभी इसके आश्रय हो सकते हैं । अतः इनमें महान्के साथ लघुका भी अस्तित्व है । आलम्बन रूपमें संसारकी निस्सारता, क्षणभंगुरता, भोगोंकी अतृप्तिका वर्णन होता है । विरक्ति, स्मरण, दया, करुणा आदि इसके संचारी हैं । शान्त रस वहीं समझना चाहिए जहाँ सच्ची विरक्ति हो और फलकी कामना न हो । जैसे बाहुबलिकी यह उक्ति –

हा कि किज्जइ भुयबल मेरवु जं जायउ सुहि दुण्णय गारउ
रज्जहु कारणि पिउ मारिज्जइ बंधवहुं मि विसु संचारिज्जइ
ऐहु इंदिय छंदु विवज्जमि एवहिं पुण्णु ण पाउ समज्जमि।

(म० पु० १)

भक्तिको अपभ्रंश कवि रस मानते हैं। पुष्पदन्तने साफ़ लिखा है कि मेरो कविता 'भक्ति-रस' समुच्छलित है। (उदा० गीत तत्त्वके अन्तर्गत हैं) युग और स्रोतमें भक्तिका ऐतिहासिक परिचय दिया जा चुका है। हमे केवल इतना ही कहना है कि भक्तिके आलम्बन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमे चाहे स्वतन्त्र हों पर वे उसमें करुणा, आत्मा, परमात्मा-की एकता और लोकहित भावना समान रूपसे मानते हैं। यह बात अहिंसा और वेदान्तको माने बिना सम्भव नहीं। भक्तिका स्थायी भाव रति है, पर उसमे वियोगपूर्वक संयोग होता है जबकि लौकिक रतिमें संयोगपूर्वक वियोग, दोनोंमें यही मौलिक अन्तर है। हिन्दी साहित्यमें भक्तिके दो रूप हैं रागानुगा, और विरक्तिमूलक। अपभ्रंश कवि विरतिमूलक भक्तिमे विश्वास करते हैं। तुलसीकी दास्य-भक्तिमें लौकिक रतिसे विरति बहुत आवश्यक है। सूरकी प्रेमाभक्तिका अपभ्रंश कवियोंने उल्लेख नहीं किया, पर उसके आलम्बन (कृष्ण) की लीलाओंका स्पष्ट अंकन ये करते हैं।

■

अपभ्रंश काव्योंमें अलंकार-योजना

अपभ्रंश साहित्यकी रचनाके पहले ही संस्कृतमें सुबन्धु और बाणभट्ट-की अलंकृत गद्य-कथा लिखी जा चुकी थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतीय अलंकार शास्त्रका यह दूसरा स्तर था। पहलेमें यदि रसकी मुख्यता नाटक तक सीमित थी तो दूसरेमे अलंकारको शब्द-काव्य तक। तीसरे स्तरमें दोनोंका समन्वय हुआ। दूसरे स्तरमें दण्डी, भामह और वामन हुए। इनमें प्रथम दो आलोचकोंका स्वयंभूने उल्लेख किया है। इन्होंने रसका विवेचन अपने ग्रन्थोंमें नहीं किया। काव्यमें रस और अलंकारका प्रयोग बराबर होता रहा। अपभ्रंश साहित्यके उत्तरार्धके प्रारम्भमें आनन्दवर्धनने ध्वनि और रसकी मुख्यता प्रतिपादित की। नाटक और काव्यके समन्वयका प्रयत्न भामहके समय ही प्रारम्भ हो चुका था। उदाहरणके लिए भरत मुनि नाट्य शास्त्रमे अलंकारोंका वर्णन करते हैं। और भामह भी काव्यालंकार सूत्रमे काव्यकी चर्चाके अनन्तर नाटकके भेद गिनाते हैं। दण्डी काव्यादर्शमें काव्य-लक्षणोंमे आशीर्वाद, नमस्कार और कथावस्तु-निर्देश आदिको भी गिनाते हैं। स्पष्ट ही इन बातोंका सम्बन्ध नाटकसे था। परन्तु काव्यमें भी ये बातें आवश्यक समझी गयीं। अपभ्रंश साहित्यमें भी इसका अपवाद नहीं। यह सब विकास दिखानेका तात्पर्य इतना ही है कि अपभ्रंश काव्यपर दोनों धाराओंका प्रभाव स्पष्ट रूपसे पड़ा। कवियोंके परिचयमे हम देख चुके हैं कि एक ओर स्वयम्भू और पुष्पदन्त-जैसे अपभ्रंश कवि दण्डी और भामहसे प्रभावित हैं तो दूसरी ओर भरतमुनिके रस, अलंकारके अतिरिक्त अन्य काव्य-उपादानोंका समन्वय भी इनके साहित्यमें है। फिर भी अलंकार-रचनामें ये लोग भामह, दण्डीके अनुसार चलते है, स्वयम्भूने दण्डीसे पहले भामहका उल्लेख किया है। इससे वही पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं। अलंकारके सम्बन्धमें इन आचार्योंके विचार इस प्रकार हैं –

भरत कुल चार अलंकार मानते हैं – उपमा, रूपक, दीपक और यमक (ना० शा० १७ अध्याय); लेकिन इससे यह समझना ग़लत होगा कि और अलंकार इसके पहले नहीं थे। भरतने केवल नाटकके लिए

उपयोगी अलंकारोंका विचार किया है। यास्कने भी उपमाका उल्लेख किया है। उनके पहले गार्ग्यने उपमाकी यह परिभाषा की थी, 'यत् अतत् तत् सदृशं उपमा' वस्तुत: देखा जाये तो वेदोंमें रूपक, पुराणोंमें अतिशयोक्ति और लोक-काव्योंमें उत्प्रेक्षा और उपमाकी बहुलता है। लोक-काव्योंकी इसी प्रवृत्तिको देखकर ही शायद भामह और दण्डीने इनका विशेष विवेचन किया है। परन्तु इन आचार्योंके विवेचन क्रमको देखनेसे ऐसा लगता है कि उस समय अलंकारोंके स्वरूप और संख्याके सम्बन्धमें निश्चित धारणा नहीं थी। उदाहरणके लिए दण्डीने यमकके बाईस भेद किये हैं, उपमाके चौबीस; किन्तु भामह मालोपमा आदि भेद नहीं मानते। दण्डीके उपमाके बहुत-से भेद, बादके प्रतीप, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलंकारोंसे मिलते-जुलते हैं। कहना न होगा आलोच्य साहित्यमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदिकी मुख्यता है। यमक पुष्पदन्तको विशेष प्रिय है। आगे इसकी चर्चा होगी।

उपमा

अधिकांश अपभ्रंश कवि उपमानके चुनावमें विशेष भावुकताका परिचय देते हैं। वे उपमानके लोप, निह्नव, अपलाप या विधि-निषेधमें न पड़कर उसे भावनाके ऐसे साँचेमें ढालते हैं कि जिससे वह उपमेयकी भावपूर्ण प्रतीतिमें सहायक हो।

रूप चित्रणमें प्राकृतिक उपमानोंकी योजनाकी पद्धति बहुत पुरानी है। अपभ्रंश कवि ऐसी योजना विषम प्रसंगमें करते हैं। पतिके ठुकराने-पर जसवइकी यह अवस्था हो गयी —

जसवइ पिय वयणिं निठुरेण, विज्झाइय वणलय जिह दवेण।
तुट्टइ गरुय दुक्खह भरेण, सिरि ताडिय नावइ मोग्गरेण॥
रोवंतिए विनडहि उज्जलाइं, अंसुयइं नाइं मोत्ताहलाइं।
भयभुअ हरिण जिह दिट्ठ सीह, जरियव्व मुमइ दीसास दीह॥
सा रयणि णं केवइ खयहु जाइ, वरदाणु सुपत्तहिं दिन्नु नाइ॥

(प० सि० च० ९)

प्रस्तुत वर्णनमें उपमान वस्तुरूपमें भी है और वस्तु व्यापार रूपमें भी। कवि, जसवईकी विपन्न-अवस्थाका वर्णन करनेके लिए कभी दावानलसे दग्ध वनलताकी उपमा देता है और कभी डरी हुई हिरनीकी। कभी वह अमूर्त व्यापारकी उपमा देता है जैसे सुपात्रमें दिया दान नष्ट नहीं होता

वैसे ही वह रात भी पूरी नहीं हो रही थी। और भी उपमा है —

चंदण दुमोव्व सीयल सहाव आरूढ़ महागुण नाइ भाव।

(वही १२)

मूर्त उपमाओंकी अपेक्षा भावात्मक उपमाएँ अधिक हैं। पतिके रूठनेपर पद्मश्रीकी यह दशा हो गयी। कवि उपमानोंकी झड़ी लगा देता है।

संकिय वणलय जिह करि रायहु संकिय मंजरि जेम्ब दुवाउहु।
संकिय कमलिणी जेम्ब मियंकहु संकिय कुलवहु जेम्व कलंकहु।
संकिय गरुडहु जेम्ब भुयंगी संकिय वग्घहु जेम्ब कुरंगी।

(प० सि० च० २९)

इस प्रसंगमें जितने भी उपमान आये हैं, एक-दोको छोड़कर, सब प्रकृति या पशु-पक्षियोंसे लिये गये हैं। अपभ्रंश लोक-काव्यमें यह प्रवृत्ति अधिक थी। इस प्रकारकी उपमाओं-द्वारा कविका लक्ष्य निर्दोष नारीकी निरीह और आशंकापूर्ण अवस्थाकी व्यंजना करना है।

पतिके द्वारा ठुकरायी हुई पद्मश्री एकदम शोभा और श्रीसे विहीन हो गयी। इसपर कविकी उपमाएँ हैं—

वज्जिय विस मंजरि जिह भमरेहिं वज्जिय सूर दिट्ठी जिह तिमरेहिं।
वज्जिय सुमण-गोट्ठि जिह पिसुणेहिं वज्जिय सीह दिट्ठि जिह हरिणेहिं॥
तिह सयल सोक्ख परिवज्जिय निप्फलइ तारुन्न सिरि॥

(प० सि० च० ३१)

दिग्विजयके अनन्तर भरतका चक्र अयोध्याके भीतर नहीं गया। इसपर कवि उपमाएँ देता है—

पइसरइ ण पट्टणे चक्करयणु जिह अवुहंतरे सुकइ वयणु।
जिह बम्भ चारि मुहे काम सत्थु, जिह गोट्ठंगणे मणि रयण वत्थु।
जिह किविण-णिहेलणे पणइविन्दु जिह बहुल पक्खे रूय दिवस चंदु।
जिह कमिणिजणु माणुसे अदव्वे।

(प० च० १-३३)

इन उदाहरणोंसे यह साफ़ हो जाता है कि प्रस्तुत 'तथ्य' की व्यंजनाके लिए अपभ्रंश कवि अनेक उपमान देता है। ये उपमान उनके मानसिक दृष्टिकोणके बोधक तो हैं ही साथ ही इनसे कविके प्रकृति निरीक्षण, सामाजिक चिन्तन और नैतिक भावनाकी भी झलक मिल जाती है। जैसे युद्धके वर्णनमें यह उपमा है।

साहणइ मि अवरोप्परु मिडन्ति णं सुकइ कव्व वयणइं घडन्ति ।

नयी अनुभूति और उसकी व्यंजनामें कविके मनमें शब्दोंको जैसी हलचल मचती है वैसी ही कुछ हलचल उन दोनों सेनाओंकी भिड़न्तमें मची होगी। श्लिष्ट उपमा : रामके गीतका वर्णन स्वयम्भू श्लेषमें करते हैं—

णव बहुजणणिडालब्व तिलय चारु णिग्घण गयण यलु व मंदतारु ।
संणइ वलं पिव लयणतालु धणु रिव सउजीउ पसण्ण वाणु ।
(प० च० २)

नदीमें पड़े यन्त्रोंके वर्णनमें कविकी उपमान योजना यह है—

अह सुंदरइं सुकय-कम्माइं व णिग्गलाइं सुकिवि ण हिययाइं व ।
णिउण समासिय सुकइ पयाइं व कारिमाइं कुट्टणि वयनाइं व ।
(प० च० १, १२०)

दशरथके चार बेटे क्या थे, धरतीके चार समुद्र थे—

एम चयारि पुत्त तहो राय हो णाइं महा समुद्द महिमायहो ।
(प० च० २, ३)

सज्जन हृदयकी उपमा इन्हें बहुत प्रिय है—

दिट्ठउ वसंततिलउ उज्जाणउ सज्जण हियउ जेम अपमाणउ ।
लक्खण कहि मि गवेसहि तं जलु सज्जण हियउ जेम जं णिम्मलु
(प० च० ३, ४५)

वर्षाका पानी धीरे-धीरे सब ओर फैलने लगा, इसपर कवि ये उपमान जुटाता है—

पसरइ मेह विंदु गयणंगणे पसरइ जेम सेण्णु समरंगणे ।
पसरइ जेम तिमिरु अण्णाण हो पसरइ जेम बुद्धि बहुजाण हो
पसरइ जेम पाउ पापिट्ठहो पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो
(प० च० २, ६१)

लक्ष्मणको देखकर कपिल ब्राह्मणकी वही दशा हुई जो शेरको देखकर मृगकी होती है या जिनेन्द्रको देखकर संसारीको ।

णट्ठु कुरंगु व वारणवार हो णट्ठु जिणिंदु व भव संसार हो ।

वनमाला आत्मवधके लिए वृक्षपर चढ़ी हुई है । इसपर कविकी उपमा है—

रेहइ दुमे वणमाल किह, धणे विज्जु जिह,

दार्शनिक उपमानोंकी योजनाकी प्रवृत्ति अधिक है—

कत्थइ अरहट्ट भमंति केम संसारिय भव संसारे जेम।

(प० च० २, ८१)

नीतिमूलक और काव्यसम्बन्धी उपमान भी अपभ्रंश कवि प्रायः देते हैं—

कत्थइं मालइ कुसुमई खिवेंति सीस व सुकइहे जसु विक्खिरंति।

कत्थइ लक्खइ सरवर विचित्त अवगाहिय सीयल जिह सुमित्त।

(प० च० ३, ८३)

पौराणिक उपमा

लक्ष्मणने शक्तिको झेल लिया—

स वि धरिय एंति णारायणेण वामद्धें गोरि व तिणयणेण।

(प० च० २, ८४)

श्लिष्ट उपमाका एक और उदाहरण यह है। एक मुनिसंघ पेड़के नीचे आकर ठहरा। इसपर कवि कहता है—

रिसि रुक्ख व अविचल होवि थिय किसलए परि वेढावेढि किय।

रिसि रुक्ख व तवण ताय तविय रिसि रुक्ख व आलवाल रहिय।

(प० च० २, ९४)

राक्षसोंके बीच विभीषणको देखकर सीता कहती है—

एहु दुज्जण हो मज्झे को सज्जणु णिंब वण हो णं अब्भन्तरे चंदणु।

(प० च० २, १६५)

सीताके अखण्ड शीलपर हनुमान्की उक्ति है—

पर पुरुसेहिं णहु चित्तु लइज्जइ बालेहिं जिह वायरणु न भिज्जइ।

(प० च० २, १८७)

रामकी वियोगजन्य कृशता बताते हुए हनुमान् सीतासे कहते हैं—

बुच्चइ सुंदरि तुज्झ विओएं झीणु करीव करणि विच्छोएं।

झीणु सुधम्मु व कलि परिणामें झीणु सुपुरिस व पिसुणालावें।

झीणु मयंकु व वरपक्खक्खए, झीणु मुणिंदु व सिद्धि हे कंखए।

(प० च० २,१९९)

कुछ विशेष उपमाएँ—

सरजालु विहंजेवि लइउ तेहिं कावेरि सकिलु जिह नरवरेहिं।

(प० च० २, ११७)

हउं जणियउं ताइ महा सईए तणुरुहु कव्वत्थु व कइमईए।

(जस० च० १८)

आध्यात्मिक उपमा—

ऊंम जीउ मोहेण विसालिं तेम राय हउं वेढिउ जालिं।

(जस० च० ४९)

पुष्पदन्तने प्रायः उपमाएँ कम दी हैं। जो दी भी हैं वे श्लिष्ट हैं। जैसे—

हरिय हडा इव घंटामुहल वर नरवईसेवा इव सहल।

वेसा इव दरसिय दप्पणीय।

यहाँ जिनपूजाकी तुलना वेश्यासे करना असंगत है। पर पुष्पदन्त अलंकारके फेरमे पडकर प्रायः ऐसा कर बैठते हैं। श्लिष्ट उपमाका एक और उदाहरण महापुराण (२।३६) मे द्रष्टव्य है।

उपमाके प्रयोगके सम्बन्धमे इन कवियोंमे निम्नलिखित बातें लक्षित होती हैं—

१. किसी भाव, घटना या अवस्थाकी प्रभावपूर्ण व्यंजनाके लिए अनेक उपमानोंकी कल्पना।
२. उपमानके चुनावमे कवि स्वतन्त्रताका उपयोग करता है।
३. प्राकृतिक उपमानोंके अतिरिक्त पौराणिक धार्मिक और नैतिक उपमान भी ग्रहण करता है।
४. स्वयम्भूकी अपेक्षा पुष्पदन्तमें श्लिष्ट उपमाकी प्रवृत्ति अधिक है।

उत्प्रेक्षा

मगधका वर्णन —

जहिं सुय पंतिउ सुपरिट्ठियाउ णं वण सिरि मरगय कट्ठियाउ।

जहिं उच्छु वणइं ववणाहयाइं कंपीति व पीलणभय गयाइं।

(प० च० १,५)

देशवर्णनमे प्रायः यह उत्प्रेक्षा शैली देखी जा सकती है। पर कवि कभी व्यक्तिगत उत्प्रेक्षा भी देता है—

जहिं फाडिम वयणाइं दाडिमाइं णज्जंति ताइं णं कइ मुहाइं।

(प० च० १,५)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कविका मुख ऐसा ही था।

तपस्वी बालिके ऊपर रावणका विमान रुक गया—

रिसि तवतेएं थिउ विमाणु णं दुक्किय कम्मण वसेण थाणु।

सुक्के खीलिउ मेहजालु णं पाउसेण-कोयल वमालु।

णं दूसामिएण कुटुम्ब वित्तु णं मच्छे धारिउ महापवत्तु।

(प० च० १,१०६)

रावण कैलासके मुखविवरसे निकल पड़ा। इसपर कविकी यह उत्प्रेक्षा है—

लुअ केसर-उक्खय णह णिहाउ णं गिरि मुह मुएवि गइंदु आउ।

(प० च० १,११०)

घमासान युद्धमें धरती, डोलेमें बैठी नव वधूकी तरह मालूम देती है—

खग-उड पवनांदोलिय मेइणि डोलारूढी णं वर कामिणि।

(प० च० १,१४४)

पतिसे उपेक्षित अंजनाने अपने गहने एक-एक करके उतार डाले—

ढिल्लइं आहरणाइं परियलंति णं णेह खंडखंडइ पडंति।

(प० च० १,१५०)

सीता रामके साथ जानेके लिए अपने भवनसे क्या निकली मानो—

णिय मंदिर हो विणिग्गय जाणइ णं हिमवंत हो गंग महाणइ।

णं घंटहो णिग्गय गायत्ति णं सद्दहो णीसरिय विहत्ति।

णइं कित्तिसुपुरुस विमुक्की णाइं रम्भ णिय वासहो चुक्की।

(प० च० २,१७)

इसमें कविने वैदिक उपमानों की खुलकर उत्प्रेक्षा की है। सचमुच इस घटनासे वह अपने पाठकोंको प्रभावित करना चाहता है।

एक जिनमन्दिरमें रामको वृक्ष ऐसे दिखाई दिये—

तहो भवणहो पासेहिं विविह महादुम दिट्ठा।

णं संसार भयेण जिणवर सरणे पइट्ठा।

(प० च० २,१९)

वनमें रामसे मिलनेके लिए कैकेयी पहुँची। इसपर कविकी आशंकापूर्ण उत्प्रेक्षाएँ देखिए—

णं भर हो संपय रिद्धिविद्धि णं राम हो गमणहो तणिव सिद्धि।

णं भरहो सुंदर सोक्ख खाणि णं रामहो इट्ठ कलत्त हाणि।

(प० च० २,२७)

श्लिष्ट उत्प्रेक्षा—

पुणु वि पडीवइ णयरु णिहालिउ णाइं महायणु कुसुमो मालिउ।

णइं सेणु रहवाह अमुक्कउ णाइं विवाह गेहु सचउक्कउ।

(प० च० २,६३)

अटवीमें उडते पक्षी रामको ऐसे दिखाई दिये—

कत्थवि उड्डाविय सउण सय णं अडविहे उड्डेवि पाणगय।

(प० च० २,११५)

निराश चन्द्रनखाके विद्रूप रूपका वर्णन—

णं दावइ लक्खण राम किंत्ति णं खरदूषण रावण भवित्ति।
णं णिहियर लोयहो दुक्ख खाणि णं मंदोदरिय हो सुपुरिस हाणि।
(प० च० २,१२४)

कपट-सुग्रीवको छोड़कर विद्या चली गयी। इसपर उत्प्रेक्षा—

माया सुग्गीउ विसालिए मेल्लइविज्जए वेयालिए।
णं णिद्धणु मुक्कु विलासिणिए णं वरगथ लंछणु रोहिणिए।
(प० च० २,१८१)

पुष्पदन्त उत्प्रेक्षामें गंगाका वर्णन इस तरह करते हैं—

णं सिहिर धरारोहण णिसेणि णं रिसह णाह जसरयण खाणि।
(म० पु० १,२१०)

भरतके चक्रके प्रवेश न करनेपर पुष्पदन्त यह उत्प्रेक्षा करते है—

थक्कउ चक्कउ ण पुरि परि सक्कइ कुकइहिं कव्वु व णउ चिम्मक्कइ।
णं कोवाणल जालामंडलु णं पुर लच्छिहइ परिहउ कुंडलु।
(म० पु० २)

रामने सीताका पाणिग्रहण किया; इसपर कविकी यह उत्प्रेक्षा है—

वइदेहि धरिय करि हलहरेण णं विज्जलु धवले जलहरेण।
णं तिहुहणसिरि परम्पएण णं णायविति पालिय-पएण।
(म० पु० २,३९७)

सीताको खोजते हुए रामके अनुचरोंको सीताका उत्तरीय मिला, इसपर उत्प्रेक्षा देखिए—

दीसइ वसंग्ग विलंबमाणु णं रिउ गयगयणंगण पमाणु।
णं दावइ कंतिहि तणिय वट्ट इह दहमुह मारीयइ पयट्ट।
(म० पु० २,४२८)

लंकाविजयके बाद राम सीतासे मिले—

आणिय मिलिय देवि बलहद्दहु हेम सिद्धि णावइ रस सिद्धहु।
केवल णाण रिद्धि णं बुद्धहु दिव्ववाणि जाणिय परमत्थहु।
वरकइ-मइ णं पंडिय सत्थहु चित्त सुद्धि णं थास मुणिंदहु।
णं संपुण्वा कंति छणयंदहु णं वरमोक्ख लच्छि अरहंतहु।
बहु गुण संयय णं गुणवंतहु।
(प० च० २, ५०२)

उपमाके प्रसंगमें हमने जिन बातोंका निर्देश किया है, वे उत्प्रेक्षाके विषयमें भी लागू होती हैं। ये कवि एक साथ कई उत्प्रेक्षाएँ देते हैं। हिन्दी कवि सूरदास भी सौन्दर्य वर्णनमे प्रायः ऐसा करते हैं।

रूपक

यह भी अपभ्रंश काव्यका प्रमुख अलंकार है। प्रकृति-सम्बन्धी रूपकोंका उल्लेख प्रकृति-चित्रणमें है और कुछका युद्ध और वस्तु वर्णनके प्रसंगमें। निम्नलिखित उदाहरणमें कवि सहस्राक्षके अन्तःपुरपर कामनगरीका आरोप कर रहा है—

जं पुणु तहो केरउ अन्तेउरु णं पच्चक्खु जे मयरद्धयुरु।
णेउर मुरयहुं पेक्खणया हरु लायण्णम्भ् तलाउ मणोहरु।
सिर मुहकर कम कमल महासरु मेहल तोरणहं छण वासरु।

(प० च० १, ११९)

रूपककी प्रवृत्ति स्वयम्भूमें सबसे अधिक है। एक जगह वह लक्ष्मणपर ही सरोवरका रूपक बाँध देते हैं।

णयण कडक्खउ लक्ख सरवरु।

(प० च० २, ४८)

अथवा राम महागज है जैसे—

गुल गुलंतु हल हंइ महग्गउ णावइ गिरि कंदरहो विणिग्गउ।

(वही पृ० ४०)

कहीं सरोवरपर आकाशका आरोप है, जैसे—

ताहिं सरणह तले।

(वही पृ० ५०)

कहीं नगरको सरोवरका रूप दिया है, जैसे—

तहिं तेहए पुर सरवरे दुज्जय कीलए णाइं पइट्ठ।

(प० च० २, ७४)

अपभ्रंश कवि नारी रूपका आरोप प्रायः करते हैं, जैसे रामपुरीके वर्णनमें—

पुणु रामपुरि पद्योसिय लोएं णं णारिहे अणुहरिय णिओएं।

(प० च० २, ६३)

कभी उत्प्रेक्षाका मूल रूपक होता है, जैसे—

विट्ठ महारइ णाइं विलासिणी गिरिवर मणहर सिहर पगासिणी।

आध्यात्मिक रूपक प्रायः मिलते हैं जैसे—देह रूपी घरका यह चित्रण है—

पुग्गल परिमाणउ सुत्तु धरेवि कर चलण चयारि खम्भ करेवि ।
बहु अत्थि जि अंतहिं ढक्कियउ मासि हु चम्म छुह पंकिय उ ।
सिर कलसा लंकिउ संचरइ माणुसु वरभवण हो अणुहकइ ।
(प० च० २, ९६)

धर्मरूपी वृक्षका यह वर्णन है—

सो धम्मंघिउ एहउ गिज्जइ खम खभाय तंतुग्गय देहउ ।
मद्दव पल्लउ, अज्जउ साहउ ।

इसी तरह वृक्षके दूसरे अंगोंका आरोप कर कवि कह देता है—'यह धर्म-वृक्ष जीव दयापति-द्वारा ही रखा जा सकता है' सारे रूपकका मुख्य लक्ष्य है दयाको धर्मका मूल सिद्ध करना । संक्षेपमें वर्णनके लिए रूपकमें सुगमता होती है पर कहीं व्यर्थ अंग-प्रत्यंगोंका आरोप अरुन्तुद हो उठता है । कभी-कभी विशेष प्रयोजनसे कवि रूपक बाँधते हैं । जब वह रामरूप गजका पुरवर-रूपी सरोवरमें प्रवेश कराता है तो उसका मुख्य लक्ष्य यह बताना भी है कि वह धर्मरूपी अंकुशसे निरुद्ध था । धर्मकी मर्यादाका ध्यान बराबर रखते थे । अथवा जैसे पुष्पदन्तने लंकापर कमलका आरोप किया है, इसका मुख्य हेतु यही है कि आगे हनुमान् भ्रमर बनकर वहाँ जाते हैं । रूपककी प्रवृत्ति हिन्दी कवि तुलसीदासमें इससे भी अधिक है, विशेषतः प्रारम्भमें । परिसंख्याका प्रयोग है पर प्रायः नगर या देशके वर्णनमें । यह पुरानी पद्धति है । जैसे उत्पल खेडका वर्णन इस प्रकार है—

साहुद्धरणु जेत्थु णंदण वणि णउकंदति कहिं मि दीसइ जणि ।
जेत्थु लोउ विणाण णयल्लउ उद्धावणु एक्कु जि कर हुल्लउ ।
(म० पु० १, ३४७)

अन्य उदाहरण पउमचरिउ (३, ६७) तथा महापुराण (१,२३५, २,१३७, ४३५) मे देखे जा सकते हैं—

एकावलि

अभिषेकके कलशोंका वर्णन है—

अलिझंकारइं सरलइं सदलइं कलसि कलसि सँणिहियइं कमलइं ।
कमलि कमलि आसीणइं हंसइं हंसइ कयकल सर णिघोसइं ।
(म० पु० २, १३६)

अथवा ऐरावतके वर्णनमें पउमचरिउ (२, ९२) में यह द्रष्टव्य है—

अहिं जलहि णाहिं विणु पंकयेहिं पंकयइं णाहिं बिणु छप्पएहिं ।

व्यतिरेक

राजा श्रेणिकका वर्णन—

किं ति पयणु णं णं विरुव चक्खु किं सरुहरु णं णं एक्क पक्खु

(प० च० १, पृ० ७)

उल्लेख

जयन्धर राजाका वर्णन—

रुवेण कामु कंतीए चंदु धणवइ धणेण, विहवे इंदु ।

(णा० कु० च० १०)

अनन्वय

आयासु जि आयासहु सरिसु उवमाणु ण तुज्झु को वि सरिसु ।

(म० पु० १,५१)

उदाहरण

णउ दिट्ठ ताह सो तेत्थु केम अण्णाणिएहिं सव्वण्णु जेम ।

(म० पु० २,३९)

या

उप्पाडिउ केस कलाउ किह भवंकुरुह मूल पब्भारु जिह ।

(म० पु० २,३९)

निदर्शना

गच्छंतु अहोमुहु तिमिरपंथु णं दावइ णरयहु तणउ पंथु ।

रामहु कलत्तु इह हितु जेण जाए सइ सो मग्गेणे रेण ।

(म० पु० २,४२६)

या

जं सुहु असणेहि रच्चंचतए जं सुहु अंधारइ उच्चंतए ।

जं सुहु सिविणं तरु पिच्छंतए तं सुहु एत्थु नयरि आछंतए ।

(भवि० क० ४४)

क्रियासमुच्चय दीपक

सिरु धुणेइ कर मोडइ वलेइ कंपए,

अहिलेमि निज्झायइ काम सरेण जंपए ।

(प० च० २,१७१)

विरोधाभास

सुवत्तया अवत्तया रसंकिया वसुज्झया ।
सरुवया अरुवया सुगंधया अगंधया ।
सकारणा अकारणा ससंभया असंभया ।

(म० पु० २,४१)

श्लिष्ट विरोध

णं केसरि गय मासाहारिय णं परदार गमिण पर दारिय ।

(प० च० २,२५)

स्वभावोक्ति

राम मृगको पकडते हैं, पर वह उन्हें छकाता है—
णव दूवा दल कंदल भरइ तरवर किसलय पल्लव चरइ ।

(म० पु० २)

अतिशयोक्तिका प्रयोग आलोच्य साहित्यमें नहीके बराबर है। केवल रहमान इसके अपवाद हैं। उनके सन्देश रासकमे प्रायः यही वर्णन है कि हड़बड़ीमे नायिकाकी करधनी खिसक जाती है और कभी मारे खुशीके स्तन कंचुक फाड़कर बाहर निकल जाते हैं। प्रियवियोगमे नायिका इतनी सूख गयी है कि,

इक्कत्ति वलियडइ बेवि समाण हत्थ ।
या
जो कालंगुलि मंदडउ सो बाहड़ी समाइ ।

(पृ० ३१)

हिन्दी रीतियुगमें यह प्रवृत्ति अत्यधिक दीख पड़ती है।

भ्रान्ति

परिपुच्छिउ सुमालि दिण्णुत्तरु किं णहु यलु णं णं रयणायरु ।

(प० च० १,९८)

सन्देह

अहो अहो ताय ताय ससि धवलइं एयइं किंण जलुग्गय कमलइं ।
किं हिम सिहरइं साडेवि मुक्कइं ।

(प० च० १,९१)

शब्दालंकारोंमे श्लेष, यमक और अनुप्रासकी बहुलता है। यह स्वाभाविक भी था। यमक और श्लेषके उदाहरण पुष्पदन्तकी सन्धियोंके

शुरूमें आयी स्तुतियोंमें देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भोजन, वन, प्रकृति आदिमें श्लिष्ट शैली ही मिलती, बाणके पहलेसे ही यह शैली प्रसिद्ध हो रही थी। गरीब ब्राह्मणकी दरिद्र कुटियाका प्रायः सभीने श्लेषमें वर्णन किया है। वह घर मोक्षके समान था क्योंकि—

णिरवेक्खु णिरक्खरु केवलउ णिम्माणु णिरंजणु विम्मलु।
णिवत्थु णिरत्थु णिराहरणु णिद्धणु णिब्भत्थु णिम्मणु।

लेख-पत्रका वर्णन प्रायः श्लेषमें मिलता है—

महि मण्डले घत्तिउ दिट्ठु किह णावालउ गंगा बाहुजिह।
(प० च० ६१)

'गीत' 'तापस' का श्लिष्ट वर्णन अन्यत्र आ चुका है। कई श्लेष अपभ्रंश शब्दोंसे ही बनते हैं जैसे 'लक्खण' को लेकर स्वयम्भूने काफ़ी चमत्कार दिखाया है क्योंकि लक्ष्मण और लक्षणका अपभ्रंशमें एक ही रूप होगा। कतिपय ध्वनियोंके अभावसे इस भाषामें समान स्वरता अधिक है। अनुप्रासके लिए, जैसे—

जिय पउम सविब्भम पउम णयण, पउमच्छि पफुल्लिय पउम वयण।
(प० च० २,८६)

अन्त्यानुप्रास अपभ्रंशकी ही देन है। यह अपभ्रंश छन्दका आवश्यक गुण है। जब कि भामहसे लेकर राजशेखर तक किसीने इसका विचार नहीं किया। विश्वनाथने किया है। हिन्दीमें यह तुकबन्दी कहलाती है। अपभ्रंश साहित्यमें पहेलीका उल्लेख है पर इसका उदाहरण यहाँ नहीं मिला। 'सारंग' शब्दको लेकर अवश्य कुछ प्रदर्शन है, जैसे—

कमलु गंधु घेप्पइ सारंगे-णउ मालूरें णीसारंगें।
गमण लील जा किय सारंगें सा किं णासिज्जइ सारंगें।
(म० पु० २,६)

उलटवासियाँ

अपभ्रंश मुक्तककी पूर्वी शाखामें उपलब्ध हैं। वस्तुतः इनके मूलमें विरोधाभास होता है, सांकेतिक अर्थ करनेपर उसका विरोध हट जाता है। शब्द ज्योंके त्यों रहते हैं और कहीं तोड़-मरोड़ कर अर्थ करना पड़ता है।

अपना मांसे हरिणा वैरी खनहन छाड़अ भूकु अहेरी।

तिण न छुअइ हरिण पिवइ ण पाणी हरिण हरिणी णिलय न जाणी।
भुसुकपादके इस अवतरणमें शाब्दिक और प्रतीकार्थ है—

हरिण मृग-मन

अहेरी शिकारी-साधक

हरिणी मृगी-ज्ञान मुद्रा

कबीरमें यह शैली मिलती है—

दूसरे प्रकारके अर्थ विरोधके उदाहरण हमने गीत तत्त्वके प्रसंगमें दिये हैं। लेकिन यह केवल पूर्वी प्रदेशको विशेषता नहीं है क्योंकि पछाऊं मुक्तक और चरित कवियोंने भी थोड़ा-बहुत प्रतीक शैलीका अनुसरण किया है। जैसे—

एक्कु चोरु चिरु धरिउ तलारें गीव मुह णासच्छि णचिट्टउ।
सासु लएंतेहुं कहिमि ण दिट्ठउ।

(प० च० २,११०)

श्लिष्ट ऊहात्मक उक्तियोंसे सन्देश रासकका दूसरा प्रक्रम (उत्तरार्ध) भरा पड़ा है।

■

अपभ्रंश काव्योंकी छन्द-योजना

अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यधारा, सचमुच छन्दकी दृष्टिसे बहुत अधिक समृद्ध है। पर यह समृद्धि एकदम आकस्मिक नहीं। वह परम्पराका विकास है। अपभ्रंश काव्यधाराके पहले प्राकृतमें छन्द काफ़ी विकसित हो चुका था। डॉ० वेलणकरने ऐसे छह छन्द-शास्त्रियोंके नाम गिनाये हैं, जो स्वयंभूके पहले, छन्दपर कुछ लिख चुके थे। छन्दकोशके लेखक रत्नशेखरने भी अर्जुन और गोशाल नामक छन्दलेखकोंका उल्लेख किया है। इसी प्रकार स्वयं स्वयंभूदेवने भी गोविन्द और चतुर्मुखके नाम दिये हैं। इनमें अधिकांशकी मूलकृतियाँ उपलब्ध नहीं, अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उसमें मुख्य रूपसे किस भाषाके छन्द हैं। पर इससे यह स्पष्ट है कि स्वयंभूके पहले प्राकृतमें छन्दशास्त्र लिखा जा चुका था। उक्त प्राकृत छन्दकारोंमें-से कुछ ऐसे हैं जिनके अवतरणोंका उल्लेख स्वयंभूच्छन्दमें मिलता है। जैसे चतुर्मुख और गोइन्द। इनके जो अवतरण स्वयंभूच्छन्दमें हैं, वे अपभ्रंशमें है। इससे यह अनुमान भी होता है कि उन्होंने प्राकृतके साथ अपभ्रंश छन्दोंका भी विचार किया होगा। जब प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यका समानान्तर विकास हो सकता है, तो छन्दोंका भी समानान्तर विकास और उसका अध्ययन सम्भव है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपभ्रंश छन्दपर स्वयंभूके पूर्व चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी।[1]

अपभ्रंश छन्दोंके स्रोत दो हैं, एक तो विभिन्न छन्दशास्त्रियों-द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश छन्दोंका विश्लेषण और दूसरे, अपभ्रंश काव्यमें प्रयुक्त छन्दोंका अनुशीलन। इससे हम सर्वप्रथम पहले स्रोतको लेंगे। अभीतक जो लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें कुछमें अपभ्रंश छन्दोंका विचार है

---

१. डॉ० जैनके अनुसार प्राकृतछन्दपर गाथालक्षण सबसे पुराना ग्रन्थ है। इसमें 'शर' आदि संज्ञाओंका प्रयोग मिलता है। पिंगलके विपरीत इसमें गाथाके तीन भेद हैं—पथ्या, विपुला और चपला। ह्रस्व दीर्घके आधारपर विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा भेद किये गये हैं। अक्षर-संख्याके आधारपर गाथाके २० भेद हो सकते हैं। गाथामें मात्राओंकी घटती-बढ़तीके कारण विगाथा, उद्गाथा और गाथिकी भेद होते हैं, इनमें प्रथम तीन आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार उपगीति, उद्गीति और गीति माने जाते हैं।—(भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान)

और कुछमें प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनोंका। जहाँतक अपभ्रंश छन्दोंकी ऐतिहासिक विकास रेखा खींचनेका सम्बन्ध है, इसके लिए स्वयंभूच्छन्द और छन्दोनुशासनका सबसे अधिक महत्त्व है। एक तो दोनों ही रचनाएँ, अपने युगके दो प्रतिनिधि विद्वानोंकी हैं, दूसरे उनमें अपभ्रंश छन्दका अलगसे विवेचन है। स्वयंभूच्छन्द पहलेकी रचना है। डॉ० वेलणकरका अनुमान है कि छन्दोनुशासन स्वयंभूच्छन्दके आधारपर नहीं लिखा गया। भले ही हेमचन्द्राचार्यने उल्लेख न किया हो; पर उनके सम्मुख कुछ और रचनाएँ (स्वयंभूच्छन्दसे भिन्न) थीं, जिनके आधारपर उन्होंने अपने ग्रन्थकी रचना की!

यही नहीं, डॉ० वेलणकरकी यह स्थापना भी है कि स्वयं स्वयंभू-च्छन्दकारने उक्त ग्रन्थोंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की। इसी सन्दर्भमें उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया है कि स्वयंभूच्छन्दका लेखक कौन है? स्वयंभूकवि या दूसरा और कोई?[1] डॉक्टर साहब स्वयंभू कविको छन्दशास्त्री नहीं मानते। इस सम्बन्धमें उनके तर्क दिये हैं—

१. स्वयंभूकविके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूने इस बातका उल्लेख नहीं किया।

२. कवि स्वयंभूने अपनी रचनाओंके अवतरण नहीं दिये।

३. स्वयंभूच्छन्द इस नामको लेकर यह प्रमाणित करना कि यह स्वयंभूका है, यह कठिन है।

४. वह न तो छन्दशास्त्री थे और न वैयाकरण ही जैसा कि डॉ० हीरालाल जैनने अपने लेखमें सिद्ध किया है।[2]

यह तो हुआ डॉ० वेलणकरकी स्थापनाका ऋणात्मक दृष्टिकोण। उसका धनात्मक दृष्टिकोण यह है कि स्वयंभूच्छन्दके लेखक कवि स्वयंभू न होकर, सम्भवतः चतुर्मुख थे। अपने मतके प्रतिपादनमें वे कहते हैं कि एक ओर कवि स्वयंभूने चतुर्मुखको विविध छन्दोंके प्रयोगमें कुशल बताया है, दूसरी ओर छन्दशास्त्री स्वयंभूने भी लिखा है कि चतुर्मुखने राम-कथापर कोई प्रबन्धकाव्य लिखा है। इससे लगता है कि चतुर्मुख प्रबन्ध कवि और छन्दशास्त्री दोनों थे। स्वयंभूच्छन्द उन्हींकी

---

१. देखिए, जर्नल ऑफ़ बम्बई यूनिवर्सिटी, आर्ट्स एण्ड ला नम्बर १, नवम्बर ३६, पार्ट III.

२. देखिए, नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल नं० १, दिसम्बर १९३५ पी० पी० ७४–८४.

रचना होनी चाहिए। अपभ्रंश छन्दके क्षेत्रमें डॉ० वेलणकरके अनुशीलन-की सराहना करते हुए भी, मैं उनकी इस स्थापनासे सहमत नहीं हो सकता। अन्तः-बाह्यसाक्ष्य, और सहज तर्कसे जो बात सिद्ध की जा सकती है उसके लिए तार्किक जटिलता उत्पन्न करना सचमुच अनुसन्धानके क्षेत्रमें एकदम ग़लत प्रक्रिया है। पहले अब हम उन तर्कोंको लेते हैं जिनके आधारपर स्वयंभूच्छन्द कवि स्वयंभूका नहीं हो सकता।

१. त्रिभुवन स्वयंभूने इसका उल्लेख नहीं किया, कोई महत्त्व नहीं रखता। उलटे उसने अपने पिता स्वयंभूके लिए पंचानन कहा है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है पाँच विद्याओंमें पण्डित। इन विद्याओंमें एक छन्द-विद्या भी है।

२. स्वयंभूने अपनी रचनाओंके अवतरण नहीं दिये, एकदम निराधार है। वास्तविकता यह है कि स्वयंभूने एक दो नहीं दर्जनों अवतरण अपनी कृतियोंसे दिये हैं।

३. स्वयंभूच्छन्दसे प्रमाणित नहीं होता कि स्वयंभूच्छन्द स्वयंभूका है, कोई अर्थ नहीं रखता। कम-से-कम वह चतुर्मुखका तो नहीं हो सकता। स्वयंभू नामके व्यक्तिका ही होना चाहिए। वह कवि स्वयंभूका हो सकता है, क्योंकि उनके अवतरण उसमें हैं। जो अवतरण उनके अपने हैं, उन-पर नाम नहीं है। जो दूसरोंके हैं वे नामसहित है।

४. स्वयंभू वैयाकरण नहीं थे, प्रस्तुत समस्यासे एकदम असम्बन्धित प्रश्न है। फिर भी अकेले पद्मचरितके अन्तःसाक्ष्यपर यह कहा जा सकता है कि स्वयंभू अच्छे वैयाकरण थे। व्याकरण-सम्बन्धी इतनी उपमाएँ पद्म-चरितमें हैं कि वे अपनी कल्पनाके लिए विशेष पाण्डित्यकी अपेक्षा रखती हैं। इसके सिवा पद्मचरितकी भूमिकामें कविने जो आत्मलघुता बतायी है उससे भी उनके वैयाकरण होनेका संकेत मिलता है। इन सब बातोंके अतिरिक्त इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको नहीं भूलना चाहिए कि लोकभाषा-कवि होनेके नाते इन कवियोंका दोहरा काम था। लोकभाषा-काव्यशैलियों-पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना एक काम, और शास्त्रीय धारणाओंको आत्मसात् कर उसे अभिव्यक्ति देना दूसरा काम। उन्हें अपनी कवितामें लोकप्रियता, अलंकरण और पाण्डित्य, तीनोंका संगम करना था, ज्ञान उन्हें शास्त्रोंसे उपलब्ध था, अलंकरणके लिए संस्कृतका साहित्य-शास्त्र उनके पास था। पर छन्दके लिए उन्हें अपना ही सहारा था। क्योंकि छन्द

अपनी भाषाकी प्रकृति और गीतात्मकताके अधीन होता है। जिस प्रकार कोई भाषा अभिव्यक्तिमें स्वयं अपनी शैली विकसित करती है, उसी प्रकार उसकी लय और गीतात्मकताका भी स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उनका आकर्षण और रमणीयता, वस्तुतः उसीमें निहित रहती है। यही कारण था कि अपभ्रंश कवि छन्दपर पूर्ण अधिकार किये बिना अपनी अनुभूतिको अभिव्यक्ति नहीं दे सकते थे। अतः कवि स्वयंभूके लिए छन्दशास्त्री होना जरूरी था। उनके द्वारा छन्दशास्त्री होनेका एक प्रमाण है स्वयंभूच्छन्द यह नाम। दूसरा है, उनके द्वारा काव्यमें प्रयुक्त छन्द। चतुर्मुख विविध छन्दोंके प्रयोगमें कुशल थे, इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि उन्होंने काव्यमें अनेक छन्दोंका प्रयोग किया। क्योंकि छन्दवैविध्य एक ऐसी विशेषता है जो भारतीय प्रबन्ध-काव्यमें उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। यह भी हो सकता है कि चतुर्मुखने भी छन्दपर कोई रचना की हो, पर स्वयंभूच्छन्द उनका नहीं हो सकता।

स्वयंभूच्छन्दमें प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओंके छन्दोंका सोदाहरण विवेचन है। अपभ्रंश छन्दोंकी परिभाषाके सन्दर्भमें सबसे पहले छन्दकार स्वयंभू स्वरोंके लघु-गुरु होनेकी प्रक्रियाकी विस्तारसे चर्चा करते हैं। फिर उत्साह छन्दकी परिभाषाके बाद 'दुवह' छन्दका विवेचन है। दुवह वस्तुतः हिन्दीका दोहा है। दुवहके तीन भेद किये गये हैं—दुवह, उवदुवह और अपदुवह। इनमें क्रमशः सम विषम पादोंमें १४-१२, १२-१२, और १२-१४ मात्राएँ होती हैं। स्वयंभूका अपदुवह, दुवहका उलटा रूप है, जो हिन्दीका सोरठा छन्द है। तदनन्तर, मत्ता, मत्त-बालिया, मत्तमधुकरी, मत्तविलासिणी, मत्तकारिणी, रड्डा आदि छन्दोंकी परिभाषाएँ दी गयी हैं। स्वयंभू यह भी बताते है कि लौकिक पुरुषोंकी प्रशस्ति-परक छन्दोंको अपभ्रंशमें धवल कहते हैं। इसके उन्होंने भेद-प्रभेद भी किये हैं। बादके अध्यायोंमें जाति छन्दोंका विवेचन है। जिसमें चतुष्पदी और द्विपदीके भेद-प्रभेदोंकी परिकल्पना है। डॉ० वेलणकरके अनुसार द्विपदीके विवेचनमें स्वयंभू और हेमचन्द्रमें काफ़ी समानता है। बड़ी द्विपदियोंके बारेमें डॉ० वेलणकरका कहना है कि उन्हें चतुष्पदी या सप्तपदीके अन्तर्गत समझना चाहिए। पर द्विपदीके सम्बन्धमें उनका यह तथ्य बिना किसी हिचकके स्वीकार किया जा सकता है कि वे वाद्यके साथ अवश्य गायी जाती थीं। उनमें जो पहली और दूसरी 'यति'का अन्तर

है वह वस्तुतः तालके गणको सूचित करनेके लिए है। इसी सन्दर्भमें यह भी ज्ञातव्य है कि मध्यम और दीर्घ द्विपदियाँ, कड़वकके प्रारम्भमें आती हैं। पर छोटी द्विपदीके बारेमें ऐसा कुछ भी स्पष्ट रूपसे नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, 'कहाव्रत' आदिके लिए उनका प्रयोग होता रहा हो। यह भी सम्भव है कि वर्णनात्मक आख्यानोंमें उनका प्रयोग कम हो गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि द्विपदी, प्रारम्भसे ही संगीतसे प्रभावित रही है। वह आठ मात्राओंके धमाली तालमें गायी जाती थी। उसकी यति संगीतात्मक थी। उसका तालमेल तालसे था। 'यति' सच पूछिए तो एक प्रकारसे संगीतात्मक विराम थी। कुछ विद्वान् प्राकृत गाथाको द्विपदी माननेके पक्षमें हैं, यह प्राकृतका पहला छन्द माना जाता है। आठवें अध्यायमें स्वयंभूने अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी कुछ सामान्य विशेषताओंका उल्लेख किया है, इनका सम्बन्ध छन्दोंसे है। इसमें घत्ता छड्डुणिआ और पद्धडिआका एक साथ विचार है।[1] लगता है रासाबन्धसे उनका अभिप्राय ऐसे प्रबन्ध-काव्य (अपभ्रंश) से है जिसमें छड्डुणिआ घत्ता और पद्धडिआ आदि सभी छन्द हों। हो सकता है उस समयकी लोक-परम्परामें ऐसी कोई रमणीय लोकप्रिय काव्यशैली प्रचलित रही हो। फिर वह छड्डुणिआ घत्ता आदिके भेद-प्रभेदोंका विचार करते हैं। छड्डुणिआ सात प्रकारकी होती है, घत्ता तीन प्रकारका होता है। परन्तु पद्धडिआके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। विविध गीत भी हो सकते हैं।[2] साधारणतया पद्धडिआके सम्बन्धमें उनका विचार है कि उसके एक चरणमें १६ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार उसके आठ यमक होते हैं। यमकके आदिमें घत्ता रहता है और अन्तमें छड्डुणिआ। इस प्रकार एक कड़वक बनता है और फिर कई कड़वकोंसे सन्धि और सन्धियोंसे काव्यकी रचना होती है। छड्डुणिआ और घत्ताके भेद-प्रभेदोंसे कई तरहकी सन्धियोंकी रचना होती है।[3] सन्धिके आदिके छन्दके विषयमें स्वयंभू कहते हैं कि घत्ता, दुवह, गाहा, अडिल्ल, मत्ता, पद्धडिका, छड्डुणि आदिमें से कोई एक छन्द हो सकता है। यद्यपि अपभ्रंशके सभी प्रबन्ध-काव्योंमें इस नियमका निर्वाह नहीं मिलता। हो सकता है स्वयंभूकी समकालीन या पूर्ववर्ती काव्य-

---

१. स्वयंभूच्छन्द श्लोकसंख्या ४९, ५०, ५१,
२. वही।
३. वही।

धारामें इस प्रकारका नियम रहा हो। स्वयंभू एक ओर इस बातका उल्लेख करते हैं कि काव्यमें संगीत वाद्य और अभिनयसे युक्त रचनाएँ होती हैं। यह इस बातका (जैसा कि मैंने अन्यत्र भी प्रतिपादित किया है) प्रमाण है कि अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यधारामें संगीत, वाद्य और अभिनयके तत्त्वोंको आत्मसात् कर लिया गया था।[1]

विषय एक होते हुए भी, अपभ्रंश छन्द-शास्त्रियोंकी विश्लेषण-शैलीमें एकरूपता नहीं है। कोई एक छन्दका विस्तारसे विचार करता है तो दूसरा किसी और छन्दका। सम्भवतः इसका यही कारण हो सकता है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें अपभ्रंश कविता अधिक लचीली, सुगम और गतिशील रही होगी। इसलिए छन्दके प्रयोगमें ढीलापन होना स्वाभाविक है। अपभ्रंश छन्दके बारेमें एक विशेषता यह उल्लेखनीय है कि वह व्यक्ति नहीं जातिसे सम्बन्ध रखता है। यह इसलिए भी स्वाभाविक था, क्योंकि प्रारम्भमें छन्दका प्रयोग सजीव और सहज होना चाहिए। कहना कठिन है कि प्रारम्भमें अपभ्रंश छन्दका स्वरूप क्या था? अधिकतर सम्भावना यही है कि उसमें मात्रा और अक्षरवृत्त ही रहे होंगे। संस्कृतमें जब गणवृत्तका प्रचलन हुआ तो उसमें 'गण' की प्रधानता होने लगी; पर गणका नियन्त्रण भी वस्तुतः मात्राओंसे होता है। प्राकृत माध्यमसे यह वृत्त अपभ्रंशमें आया; पर अपभ्रंश छन्दकी प्रकृतिके भीतर ही उसे स्वीकार किया गया। पण्डितोंने साधारणतया दो प्रकारके अपभ्रंश छन्द स्वीकार किये हैं—१. प्रबन्ध काव्य-परम्पराके छन्द, २. चारण अथवा मुक्त-परम्पराके छन्द; पर यह विभाजन किसी ठोस आधारपर स्थित नहीं है। दूसरे, समयकी धारा उनमें परिवर्तन करती रही है। मोटे तौरपर यह माननेमें अवश्य कोई आपत्ति नहीं कि स्वयंभू और कवि दर्पणकारने पहली परम्पराके छन्दोंका विचार किया है, रत्नशेखर और प्राकृत पैंगलकारने दूसरी परम्पराके छन्दोंका। परन्तु प्रस्तुत मान्यताका इतना ही अर्थ होना चाहिए कि अपभ्रंश छन्दके सम्बन्धमें अधिक शास्त्रीय दृष्टि

---

१. संधिहिं आइहिं घत्ता, दुवइ माहा डिल्ला।
मत्ता पद्धडिआए छड्डणी आवि पडिल्ला।
संगीअ वज्ज अभिणअ संजुत्तं तालमेअ मिइ सुणसु।
मत्तच्छेदो रूचं पंचतालं च होइ कव्वमि।
तेहिं रुए हिंम इइअ तित्तालं तं मुणिज्जासु॥

अपनाना ठीक नहीं। इससे यह अभिप्राय भी ध्वनित होता है कि अपभ्रंश कवि छन्दके प्रयोगको लेकर बड़े सजग रहे। लोकभाषाकी गतिशीलताको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक भी था। यही कारण है कि उसमें दोनों परम्पराओंके छन्द मिलते हैं। साहित्यिक अपभ्रंश काव्योंमें गणवृत्तों-का उसी प्रकार प्रयोग है जिस प्रकार खड़ी बोली हिन्दीके आदि प्रबन्ध-काव्य प्रियप्रवासमें। पर प्रियप्रवासकारके छन्द-प्रयोगका सबसे बड़ा दोष है, उसका शास्त्रीयपन। खड़ी बोलीकी सहज प्रकृति और लालित्य संस्कृत छायासे उसमें बोझिल हो उठा है। यही कारण है कि परवर्ती कवियोंने उसका अनुसरण बहुत कम किया। पर यह बात अपभ्रंश कवियोंके बारेमें नहीं कही जा सकती। गणवृत्तोंके प्रयोगसे न तो उनकी भाषा बोझिल हुई है और न शैली ही शिथिल। श्रीअलसफ़ोर्डने अपभ्रंश छन्दके दो भेद किये हैं—गणप्रधान और मात्राप्रधान। फिर उन्होंने मात्राप्रधानके पाँच भेद किये हैं—१. चारपादका लयात्मक छन्द, २. दोहा आकारके छन्द, ३. केवल लयवाले छन्द, ४. मिश्रित छन्द, ५. घत्ताके आकारके छन्द।[1] इसी प्रकार प्रयोगकी दृष्टिसे भी भेदोंकी कल्पना की जा सकती है। १. मुक्तक रचनाओंमें प्रयुक्त होनेवाले छन्द, २. कड़वकरचनामें प्रयुक्त छन्द, ३. कड़वकके आदि-अन्तमें प्रयुक्त छन्द। दोहेके बारेमें यह विचारणीय है कि वह अपभ्रंशका औरस छन्द माना जाता है, पर अपभ्रंश काव्यमें उसका प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। हाँ, मुक्तक-परम्परामें वह अवश्य मुक्त रूपसे प्रयुक्त है। पुष्पदन्तके महापुराण: भाग १९।५ की एक टिप्पणीसे जान पड़ता है कि स्वयंभूकी पद्धडियामें लिखी हुई रामायण बहुत प्रसिद्ध थी। स्वयं महाकवि स्वयंभूने भी रिट्ठणेमिचरिउकी भूमिकामें लिखा है कि चतुर्मुखने छड्डणिय, दुवह, धुवक आदिसे जड़ित पद्धडियाकी रचना की है। पद्धडियासे उनका अभिप्राय सम्भवतः रासाबन्ध या प्रबन्ध-काव्यसे है, परन्तु डॉ० भायाणीने इस उल्लेखके आधारपर पद्धडियाको कड़वकका प्रमुख छन्द सिद्ध करना चाहा है। बहरहाल यह कहना तो कठिन है कि कड़वकरचनाका कौन प्रमुख छन्द था और कौन अप्रमुख? इसका विचार हम कड़वकके प्रसंगमें करेंगे। फिर भी इस सन्दर्भमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि अपभ्रंशमें छन्द प्रायः व्यक्ति नहीं जाति है। दूसरे, यह कि प्रयोगभेद-

---

१. अपभ्रंश स्टेडेन १९३७ पृ० ४६।

से छन्दके नाममें परिवर्तन सम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश छन्दोंमें 'यति' प्राय: संगीतात्मक होती है, लोकभाषाके छन्दोंका अपभ्रंश छन्दोंपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त प्रयोगभेदसे अपभ्रंश छन्दोंके धवल, मंगल आदि नाम होते हैं। उदाहरणके लिए जैन-प्रार्थनाओं और स्तुतियोंमें 'धवल और मंगल' शब्द आते हैं।

धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाममहं यजे।

अर्थात् धवल और मंगल गीतोंकी ध्वनियोंसे भरपूर जिन-मन्दिरमें मैं जिनके नामकी आराधना करता हूँ। छन्दोऽनुशासनमें भी इसी अर्थमें ये शब्द प्रयुक्त हैं। वस्तुत: लौकिक महापुरुषोंकी प्रशस्ति करनेवाले गीत धवल कहलाते थे, और आध्यात्मिक महापुरुषोंकी प्रशस्ति-परक-गीत मंगल। जिनेन्द्र भगवान्का व्यक्तित्व दोनों दृष्टियोंसे महान् था, इसलिए उनके सम्बन्धमें दोनों गीत-विधाएँ प्रयुक्त होती थी। सच पूछिए तो अधिकांश अपभ्रंश चरितकाव्य एक प्रकारसे धवलमंगलगान ही है। आगे चलकर हिन्दीमें धवलगानवाले चरितकाव्य अलग लिखे गये और मंगलगानवाले काव्य अलग। हिन्दी साहित्यके इतिहासका चारणयुग धवलकाव्य है और भक्तियुग मंगलकाव्य। वैसे मंगलकाव्योंकी बंगालमें एक परम्परा मिलती है।

कड़वकरचना

साधारणतया एक कड़वकमें कुल आठ यमक, या १६ पंक्तियाँ होनी चाहिए। इसका अर्थ हुआ चार छन्द। स्वयंभूने प्राय: इसका पालन किया है। उसके बाद घत्ता देनेका नियम है; परन्तु आगे चलकर न केवल यमकोंकी संख्या बढ़ी; किन्तु कड़वक रचनामें विविध छन्दोंका भी प्रयोग होने लगा, आगे हमने महापुराणसे इसके उदाहरण दिये हैं। उसमें वर्णवृत्तोंका भी प्रयोग है। स्वयंभूने भी ऐसा किया है। पउमसिरि चरिउ मे मुख्य पद्धडिया है पर वदनक भी है। करकण्ड चरिउ और जसहर चरिउका अनुकरण है। णायकुमार चरिउ और जसधर चरिउमे एक ही कविकी कृतियाँ होनेसे यही बात है। मुक्तक काव्योंमे प्राय: 'दोहा' है; पर गीत-काव्योंमे 'पद' के अतिरिक्त रसिक और कुन्दका भी प्रयोग है। यह प्रचलित गीतकाव्यका अनुकरण होना चाहिए। सन्देश रासक खण्डकाव्य हैं, पर उसमें छन्दोंकी विविधता है। उसमे वस्तुत: कलाका रूढ़ अनुकरण अधिक है। सन्धि और कड़वकके प्रारम्भमें या कड़वकके अन्तमें भी कई

तरहके छन्दोंका प्रयोग है। आगे हम इस बातके विचारका अवसर पायेंगे कि घत्ता कोई खास छन्द नहीं, एक विशेष रूपमें प्रयुक्त किसी भी छन्दको घत्ता कहा जा सकता है। इसी तरह सन्धिके प्रारम्भमें आने-वाले विभिन्न छन्दोंको ध्रुवक कहते हैं, परन्तु कड़वकके प्रारम्भमें आनेवाले स्वतन्त्र छन्दका कोई खास नाम नहीं था, विभिन्न छन्द अपने ही नामके प्रयुक्त होते हैं। स्वयंभू छन्दके आठवें अध्यायसे ऐसा मालूम होता है कि कड़वकके प्रारम्भका छन्द घत्ता और अन्तका छन्द छड्डिनी कहलाता था। परन्तु आलोच्य प्रबन्ध-काव्योंमें इसका एक भी उदाहरण नहीं मिला, अतः जबतक किसी और स्रोतसे इसका समर्थन नहीं होता तबतक यह कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। कड़वकके प्रारम्भमें छन्द देनेकी प्रवृत्ति पुष्पदन्तमे सबसे अधिक है। इसमें उन्होंने उल्लाला, आवली, मलयविलसित, मलयमंजरी, नन्दिनी, रुचिता आदि छन्दोंका प्रयोग किया है।

कड़वकका मुख्य छन्द

सन्धि कड़वकोंके समूहसे बनती है और कड़वकमें चार पद्धडिका होता है, परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि कड़वकका मुख्य छन्द क्या है, जैकोबी और अल्सफ़ोर्ड इन चार छन्दोंको मुख्य छन्द मानते है। पद्धडिका, अडिल्ल, बदनक और पारणक। उपलब्ध साहित्यके आधार-पर अल्सफ़ोर्ड[1] इसका समर्थन विशेष रूपसे करते हैं। उनका यह मत छन्दोनुशासनपर अवलम्बित है। हेमचन्दने लिखा है—

सन्धिके आदि और कड़वकके अन्तमे ध्रुव, ध्रुवा या ध्रुवम या घत्ता होता है। कड़वकके समूहको सन्धि कहते है, और चार पद्धडिकादिके समूहको कड़वक कहते हैं। उसके अन्तमें निश्चित रूपसे ध्रुवक होता है। ध्रुवा या घत्ता उसके नामान्तर है। उसके तीन भेद है—षट्पदी, चतुष्पदी और द्विपदी। कड़वकके अन्तमें प्रारब्ध अर्थके उपसंहारके लिए छड्डुणिका आती है। प्रारब्ध या प्रकरणके आयत्त अर्थको, कड़वकके अन्तमें, भंगिमासे कहनेमे षट्पदी, चतुष्पदी, आदि ही छड्डुणिआ कहलाती

---

१. पउम चरिउ भूमिका 'मीटर' शीर्षक।

है[1]। इस कथनके आधारपर कुछ विद्वानोंका अभिमत है कि उक्त चार छन्दोंमें कड़वककी रचना की जा सकती है, परन्तु उनमें एक पद्धडिका होनी चाहिए। दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ हुआ कि तीन छन्दोंके साथ एक पद्धडिका भी हो। श्रीअल्सफ़ोर्डके अनुसार ये तीन छन्द हैं—अडिल्ल, वदनक और पारणक।

इस सम्बन्धमें प्रो० भायाणी काफ़ी विचार-विमर्शके बाद निम्नलिखित निष्कर्षपर पहुँचे हैं—

१. इस बातका निश्चित पता चलता है कि कड़वक चार छन्दोंसे बनता है, चाहे यह पद्धडिया हो या अन्य कोई।

२. स्वयंभूने पद्धडियाके प्रत्येक चरणमे १६ मात्राएँ मानी हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है।

३. कविदर्पण, पृ० ३९ में 'पद्धडिया-चउक्क' लिखा है, इससे भी स्पष्ट है कि 'चार पद्धडिका' होनी चाहिए।

४. यह परिभाषा प्रारम्भिक अपभ्रंश काव्योंमें अवश्य मिलती है, पर बादमें ऐसा कोई नियम नहीं रहा।

५. कड़वकरचनामे पद्धडिका बन्ध ही कहने लगे। इससे यही सिद्ध होता है कि कड़वकरचनामें किसी भी छन्दका उपभोग किया जा सकता है।

घत्ता

कड़वकको समाप्तिको सूचित करनेवाले छन्दका नाम घत्ता है। इसके ध्रुवा, ध्रुवक या छड्डुणिया भी नाम हैं। कड़वकके अन्तमें इसका होना अपभ्रंश काव्यमें बहुत जरूरी है। इतना प्रसिद्ध छन्द होते हुए भी इसके स्वरूपका प्राचीन छन्द-लक्षणकारोंने व्यवस्थित विचार नहीं किया।

---

१. सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवकं घत्ता वा।
कडवकसमूहात्मकः सन्धिः, तस्यादौ चतुर्भिः पद्धडिकाद्यैः छन्दोभिः कडवकम्। तस्यान्ते, ध्रुवं निश्चितं स्यात्, इति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वेति संज्ञान्तरम्। सा च त्रेधा, षट्पदी, चतुष्पदी, द्विपदी च। कडवकान्ते प्रारब्धार्थोपसंहारे, आद्ये च छड्डुणिका, प्रारब्धस्य प्रकरणायत्तस्य अर्थस्य कडवकान्ते भंगिमान्तरेण अभिधाने षट्पदी चतुष्पद्यावेव छड्डुणिका संज्ञे, न केवलं ध्रुवादि संज्ञे, छड्डुणिका संज्ञे चेति—अर्था, छन्दोनुशासन अध्याय ६०।

घत्ताकी अन्तिम मात्राको निश्चित करनेका कोई खास नियम नहीं है, उसे ह्रस्व या दीर्घ किया जा सकता है।

श्री अल्सफ़ोर्डने हरिवंशपुराण-काव्यके स्वसम्पादित संस्करणमें घत्ताके दो भेद किये हैं—

१. शास्त्रीय, २. वस्तुत: व्यवहारमें प्रचलित।

आचार्य हेमचन्दने घत्ताका एक भेद दुवई माना है, और उसका बहुत विस्तारसे विचार किया है। इसमें २८ से ४० मात्राएँ तक हो सकती हैं। इसके कोई ६४ भेद-प्रभेद उन्होंने सोदाहरण गिनाये हैं। डॉ० भायाणीके अनुसार इनका स्वयंभू और पुष्पदन्तने सम्भवत: घत्ताके रूपमें प्रयोग नहीं किया। उनका विचार है कि दुवई, चतुष्पदी आदिके प्रयोगमें थोड़ा अन्तर था। यह किस आधारपर था यह बताना कठिन है। पिंगलके अनुसार (१७१ पृ०) घत्ताका लक्षण है—प्रतिपंक्ति ३१ मात्राएँ, यति १०।८ अन्तिम दो लघु-लघु; परन्तु यह वास्तवमें हेमचन्दका छड्डुणिका है। छन्दोनुशासनमें लक्षण इस प्रकार है। अर्थात् ४ मात्राके सात गण, तथा तीन मात्रा। १० और ८ मात्रापर यति। इसमें अन्तिम तीन मात्राओंको ह्रस्व दीर्घ होनेके विषयमें कुछ भी संकेत नहीं है, परन्तु पूर्वान्वयसे यही सिद्ध होता है कि अन्तिम दो ह्रस्व हों, अत: दोनोंकी योजना हुई।

घत्ता पिंगल १०।८।१३ अन्तिम दो लघु।

छड्डुणिआ हेमचन्द १०।८।१३ अन्तिम दो लघु।

यह कहा जा चुका है कि ध्रुवा, ध्रुवक आदि भी घत्ताके ही दूसरे नाम हैं। जब भंगिमाविशेषसे किसी अर्थको (कड़वकके अन्तमें) कहते हैं तो वह छड्डिणी कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि 'घत्ता' के कई नाम हैं।

घत्ता क्या है—अब देखना यह है कि 'घत्ता' किसी खास छन्दका नाम है, या छन्दोंके विशेष प्रयोगका। इसके दो आधार हो सकते हैं—लक्षणकार क्या कहते हैं और उपलब्ध काव्योंमें इसका क्या स्वरूप है।

१—हेमचन्दने घत्ताके तीन भेद किये हैं—षट्पदी, चतुष्पदी और दुवई। इनका छठे अध्यायमें विस्तारसे विचार किया है। छड्डुणिका (पिंगलका घत्ता) को उन्होंने दुवईका एक भेद माना है। इसी तरह षट्पदी और चतुष्पदीके भी कई भेद उन्होंने किये हैं। उनका यह भी कहना है कि इन सबका कडवकके अन्तमें प्रयोग होता है, अत: ये भी घत्ता

हुए। इसीलिए पिंगलका घत्ता छड्डुणिआ है और वह दुवईकी एक जाति है, इसका जब कड़वकके अन्तमें प्रयोग होता है तो घत्ता कहलाता है; लेकिन दुवई आदिके अन्य भेदोंको भी इस रूपमें प्रयुक्त होनेपर 'घत्ता' ही कहते हैं। स्वयंभूके इस कथनसे भी कि 'चतुर्मुखने छर्दनिका द्विपदी और ध्रुवकोंसे जड़ित पद्धडिया दी' यही बात पुष्ट होती है, यहाँ पद्धडियाका तात्पर्य कड़वकसे है। उसके अन्तमे घत्ता रूपमें छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवक आते है, ध्रुवक घत्ताका ही नाम है। दुवईसे तात्पर्य उसकी सभी जातियोंसे है। छर्दनिका छड्डुणिआ ही है जो हेमचन्दके अनुसार दुवई-का ही एक भेद है। इसका अलगसे नाम गिनानेकी आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि इसका घत्तामें अधिक प्रयोग होता होगा, इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रारम्भमें कड़वकके अन्तके छन्दका नाम निश्चित नहीं था। छड्डुणिआकी इस लोकप्रियताको देखकर ही शायद पिंगलकारने उसे 'घत्ता' नामसे अलग छन्द ही मान लिया; पर उनकी बात अधिक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह अनेक हाथोंका संग्रह-ग्रन्थ है (प्राकृत पैंगलम् १९०२, भूमिका ७ पृ०)[1] फिर उसके टीकाकारने (पृ० १७१ में) साफ़ लिख दिया है 'अथ द्विपदो घत्ता छन्द' अर्थात् दो पदवाला घत्ता छन्द।

२. उपलब्ध काव्योंसे भी यही बात प्रकट होती है कि पिंगलवाले घत्ताके सिवा दूसरे छन्दोंका भी प्रयोग ठेठसे उनमें होता आ रहा है। आगे हम इसके उदाहरण देंगे। डॉ० द्विवेदीने घत्ता रूपमें प्रयुक्त जिन छन्दोंके उदाहरण दिये हैं वे अन्तसमा चतुष्पदीकी जातियाँ हैं। इसमें १०।१३ पर यति होती है। पउमसिरि चरिउकी पहली सन्धिमें घत्ताके लिए षट्पदीका प्रयोग है। भविसयत्तकहामे घत्ताके लिए चतुष्पदीके कई रूप प्रयुक्त हुए हैं, जैसे कुसुम निरन्तर (१७) विभ्रमविलसितवदन (१६) इत्यादि। इनका हेम-चन्दने चतुष्पदीके अन्तर्गत विचार किया है। इन सबका घत्ता रूपमे प्रयोगका विघटन है। यथार्थमे देखा जाये तो ध्रुवक, चतुष्पदी, षट्पदी और दुवई

---

१. इट सीम्स टू बी नाट दी कम्पोजीशन ऑफ़ ए सिंगल पर्सन, बट ए कम्पाइलेशन फ्रॉम सेवरल आर्थरस्। वस्तुतः प्राकृतपैंगल, एक संग्रहात्मक छन्दो-ग्रन्थ है। प्राकृत अपभ्रंश और अवहट्टके लोकप्रिय छन्दोंका परिचय देना इसका उद्देश्य है। मुख्यतया अपभ्रंशोत्तर कालके छन्दोंका यह विवेचन करता है।

तथा इनकी जातियाँ दो पादोंके ही छन्द हैं। हेमचन्द सम्भवतः मात्रा छन्दोंका यही विकासक्रम दिखाना चाहते हैं। उदाहरणके लिए ध्रुवक दो पादका छन्द है। छं० आ० के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ७ से लेकर १७ मात्राएँ हो सकती हैं। मात्राओंकी वृद्धिसे उनके गणक्रममें परिवर्तन होना अनिवार्य है। लेकिन जब इन्हीं ध्रुवोंके चरणोंको अनुप्रास और मात्राके आधारपर तीन पादोंमें विभक्त कर दिया जाता है तो वही षट्पदी छन्द बन जाता है। मान लीजिए किसी ध्रुवकके एक चरणमें १७ मात्राएँ हैं, तो उसमें गणक्रम इस प्रकार हो सकता है—

१ – ६ + ४ + ४ + ३ = १७ या २ – ४ + ४ + ४ + ५ = १७। इसमें भी १, २, ४ और ५ पदोंकी मात्राएँ ज्योंकी त्यों रहती हैं, ३ और ६ की मात्राओंकी वृद्धि होती है, बढनेकी अधिकतम संख्या १७ हो सकती है। इस प्रकार १, २, तथा ४ और ५वें पदों की मात्राएं ९ तक बढ़ायी जा सकती हैं। इस प्रकार षट्पदीकी कई जातियाँ और उपजातियाँ बन जाती हैं। निम्न योजनासे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए किसी षट्पदीके प्रत्येक पादमें २४ मात्राएँ हैं और उनका गण विभाजन यह है—

प्रथम पाद १. २. ३.
७ + ७ + १० = २४
४. ५. ६.
७ + ७ + १० = २४

इसमें पदसंख्या १,२,४ और ५ ज्योंकी त्यों रहेगी, परन्तु ३, ६ मे मात्राएँ बढ़ायी जा सकती हैं। दूसरे पादमें भी यही क्रम समझना चाहिए। हेमचन्दके अनुसार इन सबका घत्ताके रूपमें प्रयोग हो सकता है।

चतुष्पदी

इसका दूसरा नाम वस्तुक है। इसमे भी वस्तुतः दो पाद होते हैं; परन्तु प्रत्येक पादको अनुप्रास और मात्राओंके आधारपर दो पदोंमे विभक्त कर देते हैं। नियम यह है कि किन्हीं दो पदोंमे समानता होनी चाहिए। इसके विषम पद (१ और ३)मे ७ से १६ तक मात्राएँ बढ़ायी जा सकती है और समपदो (२ और ४) मे ८ से १७ तक। इस तरह इसके ५५ भेद हो सकते हैं। सर्वसमा चतुष्पदीमें चारों पद समान होते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्य छन्द ये हैं—

ध्रुवक	मात्रा ९	(५ + ४)
शशांक वदना	१०	(८ + २)
मारकृति	११	(४ + ५ + २) या (४ + ४ + ३)
महानुभाव	१२	
अप्सरोविलसित	१३	
पारणक	१५	
पद्धडिका	१६	
रगड ध्रुवक	१७ आदि ।	

द्विपदी

इसके अन्तर्गत हेमचन्दने (छन्दोनुशासन अध्याय ७ मे) २८ मात्राओं-से लेकर ४० मात्राओं तकके भेदोंका विचार किया है। इस प्रकार ध्रुपदी-ध्रुवाके ६४ भेद होते है। वह यह भी लिखते है कि षट्पदो ध्रुव विद्वानोंकी गोष्ठीमे बहुत ही वरिष्ठ मानी जाती है[1]। मंगलगानमे जब द्विपदीका प्रयोग होता है तो वह ध्रुवका कहलाती है नहीं तो द्विपदी। (मंगलैव ध्रुवा प्रोक्ता द्विपदाऽन्यत्र कीर्त्यते)। यह तो हुआ २८ या उससे अधिक मात्राओंकी द्विपदो छन्दोंका विचार। परन्तु इससे कम मात्राओं-की भी द्विपदी हो सकती है। हेमचन्दने चार मात्रासे लेकर १२ मात्राओं-की द्विपदियोंका विचार किया है।

विजया — ४ मात्रा
दैवका — ५ ,,
गण — ६ ,,

सात मात्राकी द्विपदीमे गणक्रम बदलनेसे छन्द भी बदल जाता है—

जैसे— ४ + ३ = स्वर द्विपदी
५ + ३ = अप्सरा

मात्रा ८
५ + ३ – मदनविलसित
४ + ४ – करिमकर भुजा
३ + ६ + ९ – पुष्पमाला, इसका दूसरा नाम तोमर भी है

१२ मात्राओं तक 'दुवई'का विचार करनेके अनन्तर लेखकने कह दिया है कि ३० मात्राओं तक इस छन्दका विस्तार समझ लेना चाहिए।

---

१. 'विदग्ध गोष्ठ्यां वरिष्ठा षट्पदी ध्रुवा।— छन्दोनुशासन ३८ पृ०

दूसरे शब्दोंमें मात्रिक छन्दोंके विकासका संक्षिप्त सूत्र इस प्रकार है—

१. मात्रिक छन्द दुवईसे शुरू हुआ; परन्तु यमकका होना उसमें आवश्यक था।

२. सात मात्राओंके चरणवाली दुवईमें गणोंके विकल्प होने लगे। इस आधारपर छन्दका नाम भी अलग हो गया। १२ मात्राओं तक यही क्रम चला।

३. चरणमें मात्रा अधिक बढ़नेपर अनुप्रास और मात्राओंके अनुपातसे उसके दो पद बना दिये गये। 'चतुष्पदी' या चार चरणवाले मात्रिक छन्दोंका विकास इसी तरह हुआ। पादोंकी समानता या असमानताको लेकर यह चतुष्पदी चार प्रकारकी कहलायी। अर्धसमा, अन्तरसमा, विषमा और सर्वसमा। इनके भी कई भेद-प्रभेद हैं।

४. अधिक मात्राओंवाले पादके दोकी जगह तीन पद करनेपर षट्पदीका विकास हुआ। विभाजनका आधार पूर्ववत् है। इसके अन्तर्गत भी अनेक छन्द आते हैं।

५. २८ मात्राओं या उससे अधिक मात्राओंवाली दुवईका विचार, यति और गुरु लघुके आधारपर भी किया गया। इस जातिके भी कई छन्द बने।

६ चतुष्पदी (दुवई) का भी घत्तामें प्रयोग होता है। पद्धडिका, चतुष्पदी है। छन्दोनुशासनमें उसकी पदयोजना इस प्रकार है—

१ और २ पाद — ४ + ४ + ४ + ग०ल०ल०

३ और ४ पाद — ४ + ४ + ४ , ल० ल० ग०

पउमचरिउकी ३४वीं सन्धिके ११वें कड़वकमें 'घत्ता'की पद योजना यह है—

४ + ४ + ४ + , ग० ल० ल० चारों पादोंमें।

इसीके कड़वक ६में घत्ताकी पदयोजना इस प्रकार है—

४ + ४ + ४ + , ग० ग० १ और २ चरणमें

४ + ४ + ४ , ग० ल० ल० ३ और ४ में

छन्दोनुशासनमें इसीलिए केवल यह उल्लेख है कि इसमें चार मात्राओंके चार गण होना चाहिए। गणक्रम क्या हो इसका कोई निर्देश उसमें नहीं है, परन्तु पिंगलकारने आदर्श पद्धडियाका जो लक्षण दिया है उसके अनुसार पदयोजना यह होगी—

४ + ४ + ४ , ल० ग० ल०

कड़वक-रचनामें प्राय: यह पद्धडिया आदर्श मानी गयी है। घत्ताके रूपमें इस भेदका उदाहरण पउमचरिउकी उक्त सन्धिमें नहीं मिला। शायद कड़वक-रचनामें अत्यधिक प्रसिद्ध होनेसे पिंगलकारने 'इस भेद' का विशेष रूपसे उल्लेख कर दिया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार छड्डिणीका घत्ताके नामसे। इससे सहज यह जाना जा सकता है कि पिंगलकार अपभ्रंश काव्यमे प्रयुक्त प्रसिद्ध छन्दोंको चुन-चुनकर रखनेके पक्षमे है। अत: घत्ताके सम्बन्धमें इन सारी बातोंका निष्कर्ष यह है—

क. कड़वकके अन्तमे आया छन्द घत्ता कहलाता है।

ख. मुख्य रूपसे दुवई, चतुष्पदी और षट्पदी इसके तीन भेद है।

ग. किन्तु इन छन्दोंका अन्यत्र भी प्रयोग किया जा सकता है; पर कड़वकके अन्तमे आनेपर इन्हें घत्ता कहते हैं।

घ. घत्ता रूपमे इन विविध छन्दोंका प्रयोग स्वयंभूके पहले भी प्रचलित था।

ङ. इनके कितने ही भेद-प्रभेद किये जा सकते है पर उनका आधार 'दो पाद' ही होता है।

च. पिंगलका घत्ता और हेमचन्दका छड्डिणी एक ही छन्द है।

छ. दुवई चतुष्पदी और षट्पदीके भेद-प्रभेद मुख्य रूपसे निम्न कारणोंसे होते है—

१. मात्राकी वृद्धि। २. मात्रागणोंके क्रममे परिवर्तन। ३. ह्रस्व दीर्घके विनिमयमे परिवर्तन। ४. यमक और अनुप्रासमे परिवर्तन।

आलोच्य काव्यमे प्रयुक्त छन्दोंका स्वरूप और प्रयोग-परिचय भी यहाँ आवश्यक है।

पद्धडिया

इसके दो अर्थ है – खास छन्द और इस जातिके सभी छन्द साधारणतया १६ मात्राओंके उन सभी छन्दोंको पद्धडिया कह सकते हैं, जिनका कड़वकमे प्रयोग होता है। किसी भी प्राचीन लक्षणकारने इसकी स्पष्ट व्याख्या नही की। पिंगलके अनुसार (पृ० १२५) प्रत्येक चरणमे चार मात्राओंके चार गण हों और अन्तिममें जगण हो – यह प्राय: सभी अपभ्रंश काव्योंकी कड़वक-रचनामे प्रयुक्त है। डॉ० भायाणीका मत है कि १६ मात्रिक पादवाले छन्दोंसे निर्मित काव्यको रासाबन्ध भी कहते थे।

सम्भव है 'पद्धडिया' का अधिक प्रयोग होनेपर इसे पद्धडिया बन्ध कहा जाने लगा हो। इसमें आठ मात्रापर हलकी-सी यति होना आवश्यक है। वदनकमें यह आवश्यक नहीं, गणयोजनामें छूट बरती गयी है। पद्धडियाके ४ + ४ + ४ (लघु, गुरु, लघु) इस रूपके सिवा दूसरे रूपोंके उदाहरण भी अपभ्रंश काव्यमें विरल नहीं, जैसे पउम चरिउ सन्धि ७ के अन्तिम कड़वकका यह रूप मिलता है।

१, २, ३ पंक्तियोंमें उक्त रूप हैं; परन्तु ४ पंक्तिमें अन्तिम गण-क्रम है ल०ल०ल०ल०। ५ पंक्तिमें ल०ग०ल० है पर ६ पंक्तिमें ल०ल० ग० और ७ में ल० ग० ल०। ८ में भी यही क्रम है। इससे स्पष्ट है कि पिंगलकी आदर्श पद्धडियाका प्रयोग सर्वत्र नहीं है। एक विशेष बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि किन्हीं दो पंक्तियोंका ही गणक्रम ठीक मिलता है। द्विपदीमें यह होना आवश्यक था, चतुष्पदीमें नहीं। जब यह क्रम चार पादोंमें मिलता है तो उसे चतुष्पदी या पद्धडिया आदि कहते हैं; परन्तु हमारा अनुमान है कि अपभ्रंश कवि दो पंक्तियोंकी समानतापर ही कड़-वककी रचना करते हैं। इससे ८ यमककी जगह हमें कहीं-कहीं ८ यमक तथा १ पंक्ति और यानी कुल १७ पंक्तियाँ मिलती हैं। पंक्तियोंकी यह संख्या कम-बढ़ भी हो सकती है। स्वयंभूने आठ यमककी बात इस-लिए लिखी होगी क्योंकि वह छन्दमें चार पाद अनिवार्य मानते होंगे, आगे चलकर हम देखेंगे कि वर्ण-वृत्तोंके प्रयोगमें भी अपभ्रंश कवि केवल दो पादों या पंक्तियोंमें ही समानता दिखलाते है, पूरे वर्ण छन्दका प्रयोग उन्होंने अनिवार्य न समझा।

वदनक

कविदर्पणने 'आदि शब्दात्' इसकी टिप्पणीमें लिखा है कि इसके अन्तर्गत और भी छन्द आते हैं। जैकोबीने इसका ख़ूब विस्तारसे विचार किया है। वे और अलसफ़ोर्ड इसे अडिल्ल कहनेके पक्षमें हैं। जब कि कवि-दर्पणकार और स्वयंभू इसे वदनक कहते हैं। आचार्य हेमचन्दने इसे अडिल्ल-का एक रूप माना है। इसकी गणयोजना यह है—

६ + ४ + ४, ल० ल०

इसमें अन्तिम दो मात्राएँ लघु होनी चाहिए। यदि इन्हीं अन्तिम दोको दीर्घ कर दिया जाये तो यह चौपाई बन जाती है। तुलसीदासने राम-चरितमानसकी रचना इसी छन्दमें की है; पर मात्राएँ इसमें भी १६ होंगी।

पुष्पदन्तने इसका खूब प्रयोग किया है।

अडिल्ल

वदनकके अन्तिम लघु वर्णोंमें यमक कर देनेसे अडिल्ल बन जाता है। ६ + ४ + ४ (२ लघु यमक) दो चरणोंमें यमक होनेपर अडिल्ल कहलाता है और चारों चरणोंमें होनेपर मडिल्ल। पिंगलमें भी यही परिभाषा है।

पारणक

१५ मात्राओंका छन्द है। इसकी रचना पद्धडियासे मिलती है। उसका अन्तिम गण बदलनेसे यह बन जाता है। स्वयंभूके अनुसार गणक्रम यह होगा ४ + ४ + ४ (ल० ल० ल०)। स्वयंभूके अनुसार १६ मात्राके छन्दका ही पद्धडिया बन्धमें प्रयोग होता है। फिर भी पारणकका प्रयोग उन्होंने किया है क्योंकि इसमें अधिक अन्तर नहीं है। यह पद्धडियाका ही विकसित रूप है।

मदनावतार

यह अन्तरसमा चतुष्पदीके अन्तर्गत है। पुष्पदन्तने इसका खूब प्रयोग किया है। १०वीं सदीके लेखकोंको यह खूब प्रिय था। गणक्रम ५ + ५ + ५ = २०। अन्तिम गण इसमें हमेशा दीर्घ होगा। इसे कामिनी मोहन भी कहते हैं।

विलसिर्नी

३ + ३ + ४ + ३, इसमें अन्तिम गण ग० ल० होगा। लेकिन स्वयंभूने जो उदाहरण दिये हैं उनमें यह गणक्रम भी घटता है (५ + ५ + ३ + ल० ग०) यह क्रम भूषणगलतिकका भी है। अतः परिभाषाके विषयमें कुछ कहना कठिन है।

परभणी

१२ मात्राओंका छन्द है। चार गण होते हैं, प्रत्येक गणमें यह क्रम होगा—ल० ग० उदा० प० च० १७वीं सन्धि कड: १६।

सिंहावलोकन

प्रतिचरण १६ मात्रा चार गण कुल गणको अन्तिम दो मात्रा शुरू होनी चाहिए। पिंगल २९६।

प्लवङ्गम

यह २१ मात्राका छन्द है – ६ + ६ + ६, ल० ग० = २१ मात्रा कुल
(पिंगल २९८)

करिमाभुजा

यह दुवईका एक भेद है। प्रति चरण ८ मात्रा, गण ४ + ४ = :८: उदाहरण पउम सिरि चरिउ पृ० ३।

स्कन्धक

प्रथम पंक्तिमें ३२ मात्राएँ, सभी लक्षणकार इसकी परिभाषामें एक-मत हैं। छन्दोनुशासनके अनुसार चार मात्राओंके आठ गण इसमें होने चाहिए। यह गीतिके ढंगका है। सन्देश रासकमें इसका जो उदाहरण है उसमें ३० मात्राएँ हैं। प्रोफ़ेसर भायाणीका तर्क है कि ३० मात्राके छन्द-को भी स्कन्ध कहनेकी प्रथा थी। हरिभद्रका धूर्ताख्यान इसीमें है।

मोत्तियदाम

३२ मात्रावाले स्कन्धकमें बारह और आठपर यति देनेपर यह छन्द बनता है। करकण्ड चरिउमें इसके खूब उदाहरण मिलते हैं।

दुवई

इसके सम्बन्धमें काफ़ी मतभेद है। इसका एक छन्दके रूपमें भी विचार है और उसके कई भेद-प्रभेद भी हैं। प्रोफ़ेसर भायाणीकी धारणा है कि अपभ्रंश काव्योंकी सन्धिके प्रारम्भमें यह दो पादोंमें प्रयुक्त होती थी और गीतिकाव्यमें चार पादोंमें।

पिंगलके अनुसार (१५२-१५३ पृ०) इसका क्रम है ६ + ४ + ४ + ४ + ६ = २८ मात्रा कुल, अन्तिम गणका अन्तिम अक्षर होना चाहिए।

रासा या आभाणक

यह सन्देश रासकका मुख्य छन्द है। परिभाषामें मतभेद है। गण-क्रम है, ६ + ४ + ४ + ४ + ३ = २१ मात्रा कुल। परम्पराके अनुरोधसे अन्तिम तीन मात्राएँ लघु होनी चाहिए; पर बादमें गणभेद होने लगा।

कुन्द

छन्दोनुशासनके अनुसार इसका लक्षण है। ४ + ५ + ५ (जगण, ग०ग०) = कुल २२ मात्राएँ; परन्तु उव० क० रा०में टीकाकारने जिस

कुन्दको वस्तुक छन्दका भेद माना है उसमें 'कुन्द'की 'जगण + ग०ग०' यह विशेषता नहीं है। वह वस्तुतः रासा होना चाहिए। रासा और रासवलय प्रायः एक है। थोड़ा मणभेद होता है। छन्दोनुशासनमें 'कुन्द' रासाके अन्तर्गत है और रासावलय वस्तुके अन्तर्गत। अतः उक्त टीकाकारने प्रमादसे 'रासा' को 'कुन्द' कह दिया। रासावलयका 'वस्तु प्रकरण' में विचार हेमचन्दने तीन कारणोंसे किया जान पड़ता है। १. पादोंकी समानता, २. जगणका अभाव, ३. अन्तिम लघु होना। हमारा विचार है कि वस्तु-प्रकरणके छन्द भी रासा जातिके हैं। केवल इनमें पास समान है और अन्तिम लघु होता है। इसीसे अडिल्ल वदनक आदि भी इसी जातिके हैं। इसीसे कोई-कोई इन्हें चतुष्पदी वस्तुक कहते हैं। 'रासक' मुक्तक काव्यमें अधिक लोकप्रिय रहा है। अडिल्लके बारेमें डॉ० भायाणीका कहना है : शास्त्रीय आलोचक इसे वदनकका एक भेद मानते हैं। अन्तमें यमक होना चाहिए। शायद चार पादोंके अच्छे छन्दमें आभीरी भाषा और यमक होनेपर उसे अडिल्ल कहनेकी एक परम्परा थी। (सं० रा० पृ० ५)

चउपइय

इसे हेमचन्द वस्तुक भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत कई भेद हैं। पहले दो पादोंके समान शेष दो पाद हों तो यह छन्द हो जाता है। पिंगलके अनुसार यह लक्षण है। चार मात्राओं ७ गण, अन्तिम गुरु = ३०। १८ और १२ पर यति।

दोहा

प्रत्येक पंक्तिमें १३ + ११। इनमें गण ६ + ४ + ३, और ६ + ४ + १ होते हैं।

चूडिल्लय

दोहे ही का विकसित रूप है। उससे ५ मात्रा अधिक होती है। यही चूड़ा कहलाती है (पि० २७५) क्रम होगा ल० ग०ल०ल०ग० अन्तिम अधिक मात्राओंका। कुल एक पंक्तिमें २९ मात्राएँ।

फुल्लय

इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है पर यह वृत्तजातिसमुच्चयके उत्फुल्लकके समान है। ४ + ४ + ४ + ४, ग०ग० पर गण क्रम भेद है।

कलहंस

२४ मात्राका छन्द है। १० और १२ पर यति, पिंगलमें यह नहीं है। छन्दोनुशासनमें है।

रमणीक

५ + ५ + ५ + ४ + ल० ग० (वृ० जाति स०) सं० रा०से इसका समर्थन होता है।

पुष्पामाला

१२ मात्राका दुवई छन्द।

३ + ६ + ३ उदा० कर० च० १० कड० १७।

जंभेटिया

दुवई छन्द। ४ + ५ = ९ उदा० पं० च० ४८ सन्धि।

चारु

५ + ५ = १० प० च० ४८। कड० ११।

छड्डिणी

घत्तामें इसका उल्लेख आ चुका है।

रासा

छन्दोनुशासनके अनुसार लक्षण यह है—

४ + ५ + ५ + ४, ग० ग०। १४ और ४ पर यति। अन्तमें नगण, प्रस्तारसे इसके कई भेद हैं। ऊपर इसका विचार हो चुका है।

मिश्रितछेद

वत्थु या वस्तु : काव्य + उल्लाला = वस्तु कहलाता है, इसका दूसरा नाम छप्पय है। सन्देश रासकमें दो रूप हैं—

१. काव्य + उल्लाला, २. रासा + उल्लाला।

खडखडय

परिभाषामें मतभेद है। वृत्तजातिसमुच्चयके अनुसार भ्रमरावलि गाथा। इसका एक नाम अवचूरित भी है।

रड्डा

इसका नाम मत्ता भी है। ५ पाद होते हैं। इसका दूसरा अंश

दोहा होता है। पिंगलके अनुसार, १.१५,२.१२,३.१५,४.११,५.१५ मात्राएँ होती हैं। बादमें दोहा देनेसे रड्डा बनता है। इसे राजसेना भी कहते हैं।

उल्लाला

६ पदका छन्द है। प्रथम चार पदोंमें २४ मात्राएँ होती हैं, अन्तिम दो दलोंमें क्रमशः २८ + २८ = ५६ मात्राएँ होती हैं। अन्तिम दलोंके गणोंमें मात्रा क्रम होगा। चार मात्राओंके पहले तीन गणोंमें ६ गुरु हों, उसके बाद तीन मात्राके गणमें १ गुरु, फिर ६ मात्राके गणमें ३ गुरु, और उसके बाद चार मात्राके गणमें २ गुरु, फिर तीन मात्राके गणमें १ गुरु इस प्रकार १३ गुरु और २ ह्रस्व कुल मिलाकर एक दलमें २८ मात्राएँ हुईं (पिं० ११८ श्लोक) १५ + १३ = २८ लघु दीर्घका क्रम आवश्यक है। इसमें कई जातियाँ होती हैं।

लयात्मक छन्द

डोमलिया यह चारण छन्द प्रतीत होता है; पर वर्णवृत्तकी तरह प्रयुक्त है। इसमें ८ सगण होते हैं, ८ अक्षरपर यति होती है, यतिका आधार लय ही है, अतः क्रम ल० ल० ग० न होकर ग० ल० ल० होगा।

घत्ता रूपमें प्रयुक्त-मात्रिक छन्द

छड्डुणीका विचार हो चुका है।

अभिसारिका – दुवईके ढंगका छन्द है। एक पादमें २२ मात्राएँ, क्रम ९ + १३। यह मंगलाचरणमें भी आता है। छन्दोनुशासनके अनुसार अन्तरसमा चतुष्पदीका एक भेद है।

मन्मथतिलक – विषम पाद ८, सम १४ मात्राएँ—

१–३ २–४

कुसुमनिरन्तर – वि० ९ स० १४, उदा० पउम चरिउ ११ सन्धि।

नवपुष्पन्धय – वि० ११, स० १४।

विभ्रमविलसित – वि० ११ स० १३।

किन्नर मिथुन विलसित – वि० ११, स० १५।

वर्णवृत्त

मुक्तक काव्य और कडवक रचनामें इन वृत्तोंका उपयोग है। पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति अधिक है; परन्तु स्वयम्भूमें भी है। सन्देश रासकके

आधारपर डॉ० भायाणी वर्ण-छन्दोंकी भाषामें प्राकृत प्रभाव मानते हैं; परन्तु इन कवियोंके वर्ण-वृत्तोंकी भाषामें यह बात नहीं।

मालिनी – न न म य य, उदा० (सं० रा० छं० १००)

नन्दिनी – यह तोटक है। ४ सगण उदा० (सं० रा० १७१:)।

भ्रमरावली – ५ सगण, उदा० उक्त १७३।

चामर – ज र ज र ज उदा० (म० पु० २.१८४)

मल्लिका – र० ज० ग० ल०। म० पु० २.१८३-१८३।

कमला – न न स (म० पु० २.४८७)

संखणारी – २ यगण – म० पु० १ (१४४) २.१०५,१०९,१७०, ३१६, ३. १६१, प० च० रा० ४४ कड० ५।

लक्ष्मीधरा – चार रगण – भवि० क० ४. १३।

मन्दरा – २ भगण – भवि० क० ४-३।

जमक – न ल० ल० ५ अक्षरका वृत्त (म० पु० १, पृ० २०, ३,७४)

पमाणिआ – ज, र – म० पु० १ पु० १४१,३७७,३९५, २. ९२,२५१
प० च० सं० ४४ कड० ५ उत्तरार्ध;

परन्तु म० पु० १,२०३ के आधेमें यह है, और बाकी आधेमें 'स न' वाला छन्द है। विविध वृत्तोंसे कड़वक-रचनाकी प्रवृत्ति भी थी। कभी-कभी दो ही पंक्तिका वर्णवृत्त मिलता है। इससे जान पड़ता है कि अपभ्रंश कवि दो पंक्तियोंके आधारपर ही वर्णवृत्तकी रचना करनेके पक्षमें थे। कड़वक रचनाके लिए यह आवश्यक भी था।

मौक्तिक दाम – ४ जगण (म० पु० १ पृ० ४०९)

समाणिआ – ज० ग० (म० पु० ४०,४१ पृ०)

भुजंगप्रयात – ४ यगण (म० पु० ९९,११०,१४१)

सम्माणिया – य ज ग (म० पु० २,१२२)

देशके नामपर छन्द

अपभ्रंश छन्दोंमें कुछ देशके नामपर नाम है, पिंगलमें इनका उल्लेख है।

आभीर – पिंगल १७७ के अनुसार, प्रति चरण ११ मात्राएँ, अन्तमें जगण आवश्यक ।

सुन्दरि गुज्जरि णारि, लोअण दीह विसार ।
पीण पयो हर भार, लोलइ मोत्तिय हार ॥

सोरठा – सौराष्ट्रसे इसका सम्बन्ध जोड़ा गया है । दोहासे ठीक विपरीत । स० १३, दिन ११ ।

मरहट्ठ – इसका सम्बन्ध महाराष्ट्रसे माना जाता है ।

गण क्रम ६ + ४ + ४ + ४ + ४ + ४ +, ग० ल०
यति १०,८,११ (पिंगल २०८) ।

जइ मित्ता धणेसा ससुर गिरीसा तइ बिहु पिंधण दीस ।
जई अमि अह कंदा, णिअलहि चन्दा तइ विहु भो अण बीस ॥
जइ कणय सुरंगा गोरि अधंगा, तइ बिहु डाकिणी संग ॥
जो जसुहि पिआबा देव सहाबा, कबहु ण हो तसु भंग ॥

निष्कर्ष

इस विवेचनके ये निष्कर्ष हैं—

१. छन्दकी दृष्टिसे यह साहित्य समृद्ध है । यह समृद्धि छन्दोंकी अनेकता और विविधतासे है ।

२. मात्रिक छन्दोंके विकासमें 'दुवई' ही मूल है ।

३. अनुप्रास, यमक और मात्रा गणभेदसे उसके अनेक भेद-प्रभेद हुए ।

४. विषय और प्रयोग-भेदसे भी एक ही छन्दका नाम बदल जाता है ।

५. इनमें 'लय और गेय'के पुटका ध्यान रखा गया प्रतीत होता है ।

६. अन्त्यानुप्रास इसमें आवश्यक है । मात्रिक ही नहीं वर्ण-वृत्तोंमें भी यह अनिवार्य है । अतः लोकभाषामें वर्ण-वृत्तोंका प्रयोग पुराना है ।

७. विषय और प्रसंगके अनुसार ही छन्द बदलते हैं । जैसे—स्तुति, द्वन्द्वयुद्ध, लीला-वर्णन, प्रेम प्रसंगमें छोटे छन्दोंका व्यवहार है । पहाड़, युद्ध, नगर वर्णन आदिमें यथासम्भव बड़े छन्दोंका व्यवहार है ।

८. अधिकांश हिन्दी छन्द अपभ्रंश छन्दोंके निकले, गीतमूलक पदोंमें भी अन्त्यानुप्रास और दो पंक्तियोंकी समानता आवश्यक है ।

अपभ्रंश मात्रिक छन्दोंका आधार भी यही है। सिद्ध कवियोंमें पद-परम्परा मिलती है। अपभ्रंश छन्दोंमें संगीतका पुट पुष्पदन्त और स्वयंभू-ने दिया है। उदाहरणके लिए प० च० सन्धि, ४९ और ५६ के पहले कड़वकके छन्दोंकी गति क्रमशः संगीतके स्वर और वाद्योंके लयपर ही चलती है। वस्तुतः वे नृत्यगीत हैं।

■

अपभ्रंश काव्योंका प्रकृति-चित्रण

प्रकृति शब्दका 'नेचर'के अर्थमें प्रयोग नया है[1]। दण्डीने महाकाव्यमें कतिपय प्राकृतिक दृश्योंके वर्णनका विधान किया है जैसे पर्वत, ऋतुशोभा, समुद्र, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदिका वर्णन। परवर्ती साहित्य-मीमांसकोंने इसे ही दोहराया है। केवल राजशेखरने कुछ नवीनतासे इसका विचार किया है, वह भी कालविभागके भीतर इसका विचार करते है। वर्णनके सिद्धान्त और शैलीकी आलोचनाकी अपेक्षा दो-तीन बातें उन्होंने महत्त्व-पूर्ण कही हैं—

(क) सभी ऋतुओंका एक साथ वर्णन आवश्यक नहीं।

(ख) इनका प्रसंगके अनुसार वर्णन बदल सकता है।

(ग) प्रकृति-चित्रणकी चार अवस्थाएँ हैं – सन्धि, शिशु, प्रौढ़ और अनुकृति। (का० मी० पृ० २५८)

आगे चलकर हम देखेंगे कि ये तथ्य आलोच्य प्रकृति-चित्रणमे बहुत हद तक घटते हैं। इधर यह शिकायत भी बढ़ती जा रही है कि मनुष्य प्रकृतिसे दूर हटता जा रहा है, मैं समझता हूँ मनुष्य प्रकृतिसे दूर तो नहीं हुआ, हाँ उसका दृष्टिकोण अवश्य बदला है। अब उसका दृष्टिकोण, सौन्दर्य-वादी न होकर उपयोगितावादी अधिक है। काव्यमें प्रकृति-चित्रण, बहुत कुछ कविकी मनःस्थितिपर अवलम्बित रहता है। आचार्य शुक्लजीने काव्य (विशेषतः प्रकृति-चित्रण) में अर्थग्रहणकी अपेक्षा बिम्बग्रहणपर अधिक जोर दिया है (चि० भ० भाग २, पृ० १, २) उन्होंने इस बात-पर भी दुःख प्रकट किया है कि संस्कृत महाकाव्यों-जैसा स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण हिन्दी साहित्य (प्राचीन) मे नहीं है, वह आलम्बन रूपमे प्रकृति-चित्रणके बहुत बड़े आन्दोलनकर्ता भी थे।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि संस्कृत काव्योंमें प्रकृति-चित्रण शुद्ध परिस्थिति-योजनाके लिए था, उद्दीपन रूपमें प्रकृति-चित्रण नाटकोंमे ही था, लेकिन जब दृश्य और श्रव्य काव्योंकी धाराएँ मिलीं, तो 'रस'के उद्दीपनके लिए

१. प्रकृतिके अर्थ—त्रिगुण-प्रकृति, स्वभाव, प्रजा मन्त्री और योनि।
—वि० लो० को० पृ० ४७।

प्राकृतिक योजना भी वैसी होने लगी। उत्तरकालीन संस्कृत महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। हिन्दी रीतिकालपर इसका प्रभाव काफ़ी पड़ा, इस बातको ध्यानमें रखकर शुक्लजी निम्नलिखित तर्कोंके आधारपर प्रकृतिके स्वतन्त्र चित्रणपर जोर देते हैं—

१. प्रेम दो प्रकारका है–प्रेममूलक और साहचर्यमूलक। दूसरा अहेतुक है।

२. जीवनकी तरह परिस्थिति भी भावका आलम्बन है, और वह दृश्य ही है, अतः यह भी हमारे भावका आलम्बन हुआ।

३. पूर्वजोंसे वासना रूपमे यह संस्कार हमें मिलता है।

४. अतः भाव भी रसके बराबर हो सकता है (चि० म० २ पृ० ३४)। परन्तु इस विषयमे हमारी विप्रतिपत्ति यह है—

१. प्रेमका आधार चाहे जो हो पर साहचर्यमूलक प्रेम भी स्वार्थ-सहित होता है।

२. परिस्थिति भावका आलम्बन बनती है, पर जीवनकी ही अपेक्षा-से। अतः इससे रहित परिस्थिति जड़ है। व्यक्तिके आलम्बनसे मनुष्यकी भावना जितनी विकसित होती है उतनी जड़को आल-म्बन मानकर नहीं।

३. परम्परा बद्ध होनेसे ही कोई भाव स्थायी भाव नहीं कहा जा सकता। देखना यह चाहिए कि उसकी स्वाभाविक सत्ता मानव मनमें है या नहीं।

४. 'प्रकृति प्रेम' अलग भाव नहीं रतिका आलम्बनगत भेद है, पर यह भेद भाव दशा तक ही हो सकता है।

शुक्लजीके प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी विचारोंमें रीतिकालकी प्रतिक्रिया अधिक है, उन्होंने स्वतन्त्र प्रकृति चित्रणके प्रसंगमें 'मेघदूत'का उदाहरण दिया है। परन्तु वहाँ भी 'आषाढ़के प्रथम दिनके प्रथम मेघका दर्शन' ही कारण है। प्रकृति वहाँ विशेष मानवी भावनाकी ही सहचरी बनकर आयी है। वह उसे जगाती भी है और उकसाती भी। प्राकृतिक परिस्थिति और प्राकृतिक दृश्यमें वही अन्तर है जो परिस्थिति और घटनामें। समय-चक्रके कारण प्रकृतिमे जो परिवर्तन आते है वही दृश्य कहलाते है। इसका प्रभाव मानव-मनपर भी पड़ता है। अतः उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका चित्रण नितान्त रूपसे उपेक्षणीय नहीं। फिर मनुष्यका

स्वभाव यह भी है कि वह प्रकृतिसे प्रभावित ही नहीं होता, किन्तु अपने मनकी भावनाका आरोप उसपर करता है। यदि उसमें उपदेश प्रबल है, तो वह उपदेशका आरोप उसपर करेगा, यदि वह रहस्यवादी है तो रहस्य-वादका। अलंकारवादी है तो प्रकृतिमे वह अलंकरण खोजेगा। लेकिन इनको हम अलग-अलग प्रकृति-चित्रणके भेद नहीं मान सकते। इधर हिन्दीके सयाने आलोचकोंमें भेद-प्रभेदोंकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। श्री गुलाबरायजीने ये भेद माने हैं – आलम्बन, उद्दीपन, अलंकार, उपदेश, मानवीकरण, ईश्वरीसत्ता या रहस्यवाद (सि० अ०)। परन्तु मैं प्रकृति-चित्रणकी अधिकसे अधिक तीन विधाएँ माननेके पक्षमें हूँ। १ – शुद्ध प्रकृति चित्रण, २ – उद्दीपन, ३ – आरोपित। इसमें भी शुद्धके दो भेद हैं—यथातथ्य और पृष्ठभूमिके रूपमे। हिन्दी आचार्योंके शेष भेदोंका समाहार, आरोपितवादमे हो जाता है; क्योंकि उपदेश, अध्यात्म, रहस्य आदि इसी आरोपके प्रतिफल है। कुछ लोग इसी रूपमें प्रकृति-चित्रण मानते हैं, पर वह काव्यकी एक शैली है न कि प्रकृति-चित्रणकी विधा। आगे मैं अपने मतको स्पष्ट करूँगा।

शुद्ध प्रकृति-चित्रण

अपभ्रंश काव्योंमें यथातथ्य चित्रणके कम उदाहरण है; जो है भी उनमे प्रकृतिके व्यापारोंका सूक्ष्म निरीक्षण कम है। ये कवि मुख्य रूपसे वन, उद्यान, ऋतु, पर्वत आदिका वर्णन करते हैं। ऋतुओंमें वर्षा, वसन्त और शरद्का वर्णन है। ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिरका वर्णन नहीं है। इन ऋतुओंके मेलसे कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्योंकी सुन्दर योजना भी है, परन्तु अलंकरणके भारसे उनका स्वरूप निखर नहीं पाता। रामको यात्रामें गम्भीर नदी मिली उसका स्वाभाविक चित्रण यह है –

परिहच्छ मच्छ पुच्छच्छलंति फेणावलि तोय तुसार देंति।
कारंडडिम्म उम्मिय सरोह वरकमल करम्बिय जलपओह।
हंसावलि पक्ख समुल्हसंति कल्लोल बोल आवत्त दिंति।
सोहइ वहु त्रणगय जूह सहिय डिण्डीर पिण्ड दरिसंति अहिय।
उच्छलइ वलइ पडिखलइ धाइ मल्हन्ति महागय लीलणाइं।

(प० च० २, २१)

दण्डकवनकी शोभा रामने इस रूपमें देखी –

कत्थवि पंचाणणगिरि गुहेहिं मुक्तावलि विक्खिरंति णहेहिं।

कत्थवि उड्डाविय सउण-सय णं अडविहे उड्डेवि पाण गय ।
कत्थवि कलाव णच्चंतिवणे णावइ णट्टावा जुवइ जणे ।
कत्थवि हरिणहिं भयभीयाइं संसार हो जिह पव्वइयाइं ।
कत्थवि णाणाविह रुक्खराइ णं महि कुल वहु अहे रोमराइ ।

(प० च० २, ११५) ।

प्रस्तुत वर्णनमें मुख्य उत्प्रेक्षा है, पर कल्पनाएँ सुन्दर और स्वाभाविक हैं । नर्मदाके वर्णनमें कुछ प्रकृतिका उग्रभाव दर्शनीय है –

करिमयर-कराहय उहय तड तड यड पडन्ति णं वज्झझड ।
झडभीम णिणाएँ गीढमय भयभीय समुट्ठिय चक्कहय ।

(प० च०, २, ५३)

वनका भी उग्र रूपमें वर्णन देखिए—

कहिंजि भीम कंदरो झरंत णीर णिज्झरो ।
कहिंजि रत्त चंदणो तमाल ताल वंदणो ।
कहिंजि दिट्ठ छारया लवंत मत्त मोरया ।
कहिं जि सोह मंडया धुणंत पुच्छदंडया ।

(प० च० २, ८७)

तिलय दीपके वनका स्वाभाविक चित्रण—

कत्थइ पाणियाइं अवमाणियाइं करिजूह डोहियाइं ।
कत्थइ णिज्झराइं पडिरव कराइं जलरेणु भूसियाइं ।

(भवि० क० पृ० २२)

उद्यानकी शोभाका यह यथातथ्य वर्णन है—

वायं दोलण लीला सारो तरुसाहाए हल्लइ मोरो ।
सोहइ घोलिर पिंछ सहासो णं वण लच्छि चमर विलासो ।
दिण्णं हंसेणं हंसीए चंचु चुवंतीए ।
फुल्लामोय वसेण भग्गो केयइ कामिणीयाए लग्गो ।

(ज० स० ११ ।)

पृष्ठभूमिके रूपमें प्रकृति-चित्रण अपभ्रंशकाव्योंमें अत्यधिक है, ऐसे प्रसंगोंमें प्रस्तुत भावकी अनुभूतिके अनुकूल प्राकृतिक वातावरण उत्पन्न करना ही मुख्य लक्ष्य होता है । जलक्रीड़ा और दाम्पत्यरतिकी व्यंजनामें 'वसंत वर्णन' ही पृष्ठभूमिके रूपमें आता है । जैसे—

डोला-तोरण-वारे पईहरे-पइट्ठु वसंतु वसंतसिरी-हरे।
सररुह-वासहरेंहि रव-णेऊरु-आवासिउ महुअरि अन्तेपुरु।
कोयल कामिणीउ उज्जाणेहिं सुय सामंत लयाहर थाणेहिं।
पंकय छत्त दंड सर-णियरेहिं, सिहि साहुलउ महीहर सिहरेहिं।
कुसुमा मंजरि-धय साहारेहिं दवण गंठिवाल केयारेहिं।
वाणर मालिय साहावंदेहिं महुअर मत्त मयरन्देहिं।
मंजु ताल कल्लोला वासेहिं गुंजा अहिणव पालमहणासेहिं।
एम पइट्ठु विरहि विद्धन्तउ गयवह-वम्मेहिं अंदोलंतउ।

(प० च० १, ११४)

प्रस्तुत वर्णनमें वसन्त राजा ठाठसे प्रवेश करते हैं। पर यह प्रसंग राजा सहस्रकिरणकी जलक्रीड़ाकी भूमिकाके रूपमें है। अन्तमें कवि 'वियोगियों के सताये जाने' का भी संकेत कर देता है। अन्तमें 'रेवा' का सुन्दर दृश्य देखकर, राजाको ध्यान हो आया 'सो वसन्तु सा रेवा तंजलु'। यहाँ पृष्ठभूमिके रूपमे आये प्रकृति-चित्रणमे अलंकरण और उद्दीपन भी अन्तर्भुक्त है।

एक दूसरे जलक्रीड़ा-प्रसंगमें भी 'वसन्त' का वर्णन आता है—

पइट्ठु वसंत राउ आणंदें कोइलकलकल मंगल सद्दें।
अलिमिहुणेहिं वंदणेहि पढंतेहिं, वरहिणवाणरेहिं णच्चंतेहिं।
अंदोला सय तोरण वारेहिं ढुक्कु वसंतु अणेय पयारेहिं।

(प० च० २, ४४)

इसके पहले कवि सजधजके साथ किसी राजाके नगर-प्रवेशका वर्णन कर चुका है। 'वसन्त प्रवेश' पर भी उसने उसी रूपका स्वाँग आरोप कर दिया है। कथाकी चलती धारामे पिछले वर्णनका प्रभाव कविके मस्तिष्कमें रहना स्वाभाविक है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति स्वयंभूमें अधिक है। कवि पुष्पदन्त भी राम और सीताकी रतिक्रीड़ाके लिए 'वसन्त' ही पसन्द करते है—

सोहइ वसंतु जगि पइसरंतु अहिणव साहारहिं महमहंतु।

(म० पु० २, ३९७)

कवि धाहिल भी पद्मश्री और समुद्रदत्तका गन्धर्व-मिलन वसन्तमें करवाते हैं (प० सि० च० पृ० १५)। वात्सल्य विप्रलम्भकी व्यंजनामे भी 'वसन्त' ही पृष्ठभूमिका काम देता है। वसन्तमें घर-घर उत्सवकी धूम मची है।

घरि घरि मंगलइं पघोसियाइं घरि घरि मिहुणइं परिआसियाइं ।
घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइं घरि घरि अंदोलयसोहलाइं ।
घरि घरि वत्थाहरण सोह घरि घरि आइद्ध महा जसोह ।
(भवि० क० ५६)

सब लोग आ गये, पर कमलाका बेटा भविस नहीं आया – पद्मश्री सुहाग रातके लिए जा रही है । पृष्ठभूमिके रूपमें प्रकृति वहाँ भी है—

अत्थमिउ दिवायरु संझ जाय थिय कणय घडिय नं भुयण भाय ।
(प० सि० च० २५)

इसके बाद कुछ वीभत्स चित्रण है । फिर प्रकृति अपने मधुर अंचलमे सब कुछ समेट लेती है । अपभ्रंश कवि सन्ध्याके पहले भागका वर्णन कुछ वीभत्स ही करते हैं ।

अलंकृत शैली

अलंकरणके रूपमे प्रकृति-चित्रण एक बात है, और अलंकार रूपमें दूसरी बात । एकमे प्रकृति-चित्रणके लिए अलंकारोंका उपयोग होता है, और दूसरेमें अन्य वर्णनोके लिए प्रकृति अलंकारके उपादानोंका काम देती है । एकमे प्रकृति प्रस्तुत है, दूसरेमें अप्रस्तुत । दूसरेको प्रकृति-चित्रणकी विधा मानना ठीक नहीं । क्योंकि वहाँ वर्णनीय कुछ और ही है । प्रकृति केवल उपमान रूपमे आती है । लेकिन ये उपमान, प्रकृतिको छोड़कर अन्यत्रसे भी लिये जा सकते है । यदि मुखकी तुलना चन्द्र या कमलसे की जाती है, तो उसमे प्रकृतिसे तात्पर्य नहीं, जहाँ प्रकृति-वर्णनमें अलंकारोंका प्रयोग हो उसे अवश्य अलंकृत शैलीमे प्रकृति-चित्रण मान सकते है । यह यथासम्भव सभी विधाओमे हो सकता है । अपभ्रंश काव्योंमें रूपक शैली-मे प्रकृति-चित्रण बहुधा मिलता है, उसके बाद उत्प्रेक्षामें । वसन्तरूपी राजा जगतरूपी घरमें प्रवेश कर रहा है—

सुप्पहाय दहि-अंस रवण्णउ कोमल कमल किरणदल छंण्णउ ।
जयहरे पइसारिउ पइसन्ते णावइ मंगल कलसु वसंते ।
फग्गुण खलहो दूउं णीसारिउ जेण विरहिजणु कहविण मारिउ ।
जेण वणप्फइ पइ विब्भाडिय फलदल रिद्धि महप्फर साडिय ।
गिरिवर गाम जेण धूमाविय वणपट्टण णिहाय संताविय ।
सरि पवाह मिहुणइं णासंतइं जेण वरुण घण णियलेंहिं घित्तइं ।

जेण उच्छुविड्डु जन्तेंहिं पीलिय, पव मण्डव णिरिक्क आवीलिय।
जासु रज्जे पर रिद्धि पलासहो तहो मुहुमइलेवि फग्गुणमासहो।
(प० च० १, ११४)

सामन्त युगमें सामन्त राजा अपने प्रतिद्वन्द्वीको हराकर, किस तरह सजधजके साथ प्रवेश करता था, इसी बातके आरोप-द्वारा कविने यहाँ फागुनकी पराजयपर वसन्त-प्रवेशका वर्णन किया है। 'वसन्त नरेश'के प्रवेशका उल्लेख ऊपर भी किया जा चुका है। फागुन और वसन्तके युद्धमें दो ऋतुओंकी सन्धि-अवस्थाका चित्रण है। कवि पुष्पदन्त भी उपवनमें वसन्त प्रभुके आगमनका जोरदार वर्णन करते हैं (म० पु० १, पृ० ४४०)। उसमें भी प्रायः इन्हीं रूपोंका आरोप है।

मानवीकरण

प्रकृति-चित्रणमें मानवी प्रसंगोंके आरोपकी प्रवृत्ति भी इन काव्योंमे अधिक है। राम-लक्ष्मणके विन्ध्याचलमे पहुँचते ही सूरज डूब गया, इस-पर कवि निशापर कुटिल नारीका आरोप करता है। जैसे—

बरि सग्ग वत्थ सीमन्त वाह णक्खत्त कुसुम सेहर सणाह।
किंत्तिय चच्चंकिय गंडवास मग्गव भेसइ कण्णावयंस।
बहुलंजण ससहर तिलयतार जोण्हा रंखोलिर हार भार।
णं वंचेवि दिट्ठि दिवायरासु णिसि वहु अल्लीण णिसायरासु।
(प० च० १, ११३)

या नर्मदापर अभिसारिकाका आरोप—

वसन्तमें कामको रतिकी तरह भोली-भाली मदमाती रेवा बाला प्रिय (समुद्र) से मिलने चल पड़ी, फौरन उसने अपने-आपको सजा लिया—

घव घवंति जे जलपब्भारा ते जि णाइं णेउर झंकारा।
पुलिणइं जाहिं बेवि सच्छायइं ताइं जे उड्ढणाइं णं जायइं।

इसी तरह वह समस्त अलंकरण कर लेती है। (प० च० १, ११५)

रातपर वधूका आरोप हिन्दीके छायावादी कवियोंको बहुत प्रिय है। इस आधारपर मानवीकरण भी प्रकृति-चित्रणकी एक विधा मानी जाती है। परन्तु वास्तवमे उसके मूलमे रूपक है। 'धीरे-धीरे क्षितिज से आ वसंत रजनी' (आ० क० पृ० ४८) महादेवीजीके इस गीतमें यही आरोप है। या कवि निरालाकी 'सन्ध्या सुन्दरी' कवितामें। एकमें प्रिय 'समुद्र' है, दूसरेमें समूचा विश्व। मानवीकरण दोनोंमें है। प्राचीन कवि

ऐसे मानवीकरणमें दोनों पक्षोंपर यह आरोप करते हैं। जब कि छाया-वादी कवि एक ही पक्षपर आरोप कर उसपर अपनी भावनाका आरोप कर देते हैं। प्राचीन कवि अन्य उपमान प्रकृतिसे ही ग्रहण करते हैं। छायावादी कल्पित उपमान भी गढ़ते हैं। रूपकमें प्रकृतिका चित्रण करना स्वयंभूको अधिक प्रिय है। जैसे वह दण्डक अटवीपर विलासिनीका आरोप करते हैं—

दिट्ठ महाडइ णाइं विलासिणी गिरिवर थणहर सिहर पगासिणी।
पंचाणणणह णियर वियारिय दीहर सर लोयण विप्फारिय।
कुंदर दरि मुह कुहर विहूसिय तरुवर रोमावलि उद्धसिय।
चंदण अगरुगंध डिविडिक्किय इन्दगोव कुंकुम चंचिक्किय।
अवहइ किं बहुणा विस्थारें णं नच्चइ गयपय संचारें।

वह मुनिसुव्रत भगवान्‌का पाठ भी कर रही है—
उज्झर सुर वप्फालिय सद्दें वरहिण थिर सरिट्ठिय छंदे।
महुअरि तिअ उवगीय बमालें अहिणव पल्लव कर संचालें।
सीहोरालि समुट्ठिय कलयलु णाइं पढइ मुणिसुव्वय मंगलु।

(प० च० २, १०५)

हिन्दी कवि केशवने भी पंचवटीको धूर्जटी बनाकर नचाया है (रामचन्द्रिका)।

ग्रीष्म और वर्षाके युद्ध रूपकका एक नमूना यह है—
जं पाउसु णरिंदु गलगज्जिउ धूलीरउ गिम्भेण विसज्जिउ।
गंपिणु मेहविन्दे आलग्गउ तडिकरवाल पहारेंहिं भग्गउ।
जं विवरम्मुहु चलिउ विसालउ उट्ठिउ 'हणु' भणंतु उण्हालउ।
धग धग धग धगन्तु उद्धाइउ हस हस हस हसंतु संधाइउ।
जल जल जल जलंतु जालावलि फुलिंग मेल्लंतउ।
धूमावलि धय दंडुब्भेप्पिणु वरवाउल्लि खग्गु कड्ढेप्पिणु।
मेह महागय घड विहडन्तउ जं उण्हालउ दिट्ठु भिडंतउ।

(प० च० २, ६१)

अन्तमें पावसराजने ग्रीष्म राजको पछाड़ दिया।

यह भाव जायसीके 'चढ़ा असाढ़ गगन घन साजा' में थोड़े फेरसे आया है। (पद्मावत १५२)। पर कवि पुष्पदन्त प्रकृतिका चित्रण उत्प्रेक्षामें करते हैं। जैसे चन्द्रोदयके वर्णनमें वह कहते हैं—

ता उइउ चंदु सुरवइ दिसाइ सिरि कलसु व पइसारिउ णिसाइ ।
णं पोमा करयल लहसिउ वोमु णं तिहुयण सिरि लायण्णधामु ।
णं अमय विंदुसंदोह रुंदु जस वेल्लिहि केरउ णाइं कंदु ।
माणिय तारा सव वत्त फंसु णं णहसरि सुत्तउ रामहंसु ।

(म० पु० १, ६८)

इसी तरह सूर्योदयका वर्णन है—

ता उग्गमिउ सूरु पुव्वासइ रइरंगुत्र दरिसउ कामासइ ।
किं सुय कुसुम पुंजु णं सोहिउ, णं जगभवणि पईवु पवोहिउ ।
चारु सूरु वंसुहु णं कंदउ लोहिउ ससि रोसेण दिणिंदउ ।

इसके बाद सूरजकी किरणें लाल रंगमे मिलकर खिल जाती हैं ।

मिलियउ सोहइ विद्दुम महियलि मिलियउ सोहइ कंकोल्लीदलि ।
मिलियउ सोहइ रत्तइ सयदलि मिलियउ सोहइ रमणीकरयलि ।

(म० पु० १, २८१)

यह विश्लेषण प्रायः कठिन है कि प्रकृति-चित्रणमें कवि कहाँ किस विधाका कितना उपयोग करेगा । जहाँ यह अलंकृत शैली औचित्य और अनुभूतिके अनुकूल है, वहाँ ठीक है । परन्तु कही चमत्कारके लोभसे ये कवि विद्रूप चित्रण भी करने लगते है । जैसे – प्रातःकालीन सूर्यपर यह उत्प्रेक्षा है –

णं वाडवग्गि णहसायरासु णं दिसिणिसियरि मुह मास गासु ।
णं ताहि जि केरउ अहर बिंबु णं णिसि वहुवहि पयमग्गलंबु ।

(म० पु० १, ७०)

स्वयंभूने भी रातपर राक्षसीका आरोप किया है –

रिसि णिसियरि दस दिसहिं पधाइय महि गयणोट्ठ उसेवि संपाइय ।
गह णक्खत्त दंत उद्दन्तुर उवहि जीह गिरि दाढा भासुर ।
घण लोयण ससि तिलय विहूसिय संझा लोहिय दित्त पदीसिय ।

(म० च० २, ५२)

परन्तु इसी रातको लक्ष्मण कल्याणमालाको छोड़कर चल देते है । अतः उसके लिए यदि रात राक्षसी लगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं । इसलिए यह वर्णन एकदम निराधार नही, फिर भी ऐसे वर्णन स्वयंभूने कम ही किये हैं । पुष्पदन्तमें यह बात बहुत है । सूर्यके लाल बिम्बपर कविकी कल्पना है –

कुंकुम कुसुमा मेलु व रत्तउ णं चउपहर रुहिर रस लित्तउ ।

(म० पु० १, ५५५)

श्लिष्ट चित्रणमें प्रकृतिकी और भी दुर्दशा हुई है। कहीं सरोवरपर आकाशका आरोप है (प० च० २, ४९) तो कहीं रामपर सरोवरका (वही)। श्लेषमूलक तुलनामें भी यही बात है जैसे जिन और उपवन, समुद्र या सेना, तथा सीता और वनस्थलीकी आपसमें ये कवि श्लेषसे तुलना करते हैं। जैसे रिसभ जिन और गिरिराजकी तुलना –

गिरि सोहइ चुयमहु आसवेंहिं जिणु सोहइ रुद्धहिं आसवेहिं ।
गिरि सोहइ वियलिय णिज्झरेहिं जिणु सोहइ रम्मइं णिज्जरेहिं ।

(म० पु० ५८६)

इसमें केवल शब्द समानता और यमक है – सीताके यौवनकी वनसे तुलना –

वणु दीसइ णच्चिय णीलगलु सीयहि जोव्वनु मयगलु ।
वणु दीसइ णिम्मल भरिय सरु सोयहि जोव्वनु णिरुमहुरसरु ।

इसका आधार है 'वण' और 'जोव्वण'की समानता। (म० पु० २,४१२)। इस तरह राम और पहाड़की तुलना है (म० पु० २, ५०४)। ऐसी तुलना पुष्पदन्तमे बहुत है। रामायण और णंदणवणुकी समानता देखिए–

दिट्ठउं णंदणुवणु केहउं महु मावइ रामायणु जेहउं ।
जहिं चरंति मीयण रयणीचर, चउ दिसु उच्छलंति लक्खण सर ।

(वही)

उद्दीपन

शृंगारके संयोग और वियोग पक्षमें ही प्राय: प्रकृतिके उद्दीपन रूपमें चित्रणकी प्रथा रही है। उसमे भी ऋतु वर्णन चन्द्रोदय आदि व्यापारोंका ही अधिक वर्णन रहता है। पर वन, उपवन, ऋतुके बिना मानवी भावनाका उद्दीपन करनेमें असमर्थ हैं। जहाँतक अपभ्रंश कवियोंका सम्बन्ध है वे वात्सल्यके प्रसंगमें भी प्रकृतिका उद्दीपन रूपमें वर्णन करते हैं। दूसरे षड्ऋतु पद्धतिको किसी भी प्रबन्ध कविने नहीं अपनाया, स्फुट रूपमें वे वसन्त, शरद् या वर्षाका उल्लेख करते हैं, चक्रवाक-जैसे पक्षियोंकी चेष्टाएँ भी उद्दीपन रूपमे अंकित की गयी है। संयोगकी क्रीड़ा और वियोगकी पीड़ा दोनोंमें वसन्तका अधिक वर्णन है फिर भी यह

वर्णन पृष्ठभूमि रूपमें है, असल बात यह है कि उद्दीपनकी दृष्टिसे अपभ्रंश काव्यके नायकोंको प्राकृतिक व्यापार उतना आकृष्ट नहीं करते जितना नायक-नायिकाका रूप या सौन्दर्य। यही कारण है कि इसमें चन्द्रमाको कोसने या कोइल, मोर, दादुरको डाँटने-डपटनेके प्रसंग नहींके बराबर हैं। रहमानकी बात छोड़िए। प्रायः देखा यह गया है कि ये कवि प्रारम्भ करते हैं प्राकृतिक पृष्ठभूमिसे; पर अन्त करते हैं उद्दीपनमें। पहले इसका उदाहरण (प० च० १, ११४) आ चुका है। वर्षावर्णन (प० च० २) के अनन्तर कवि संकेत करता है —

घणु गज्जउ विज्जुवि विप्फुरिउ णडउ सिहंडी वि मूढ़मइ।
विणु सीयइ, पावसु राहवहु भणु किं हियवइ करइ रइ।

शरद्‌का आना भी उन्हें अच्छा नहीं लगा —

णउ रूच्चइ रामहु वट्टमाणु पिय विरहउ किच्छें धरइ पाणु।
(म० पु० २, ४६४)

वसन्तके प्रवेशसे चारों ओर मादकता फैलने लगी —

वज्जइ वीणा पिज्जइ पाणं पियमाणुसचित्तं साहीणं।
गिज्जइ महुरं सत्त सरालं दढपेम्मं पसरइ असरालं।
परिमल पउरं पोसिय रामं बज्झइ फुल्लिय मल्लिय दामं।
गंध कयंबय छउय वियारे णेवर कलरव णच्चिय मोरे।
सुप्पइ दवणय विरइयगेहे पुप्फत्थरणे भमिय दुरेहे।
संधइ कामो कुसुम खुरुप्पं णासइ तावस तत्र माहप्पं।
अणुणिज्जइ रूसंति पियल्ली दाविज्जइ कंदप्प सुहेल्ली।
सरजल केलीसिंश सरीरो जंत विमुक्कसकुंकुम णीरो।
(म० पु० २, ३९९)

सन्देश रासकमें प्रकृतिचित्रणमे उद्दीपन और ऊहात्मक उक्तियाँ अधिक हैं। (देखो प्रक० २) फिर भी कुछ प्राकृतिक उक्तियाँ स्वाभाविक हैं। वियोगिनी कहती है, क्या उस देशमें चन्द्रमा नहीं उगता —

किं तहि देसि णहु फुरह जुण्ह णिषि णिम्मल चंदह।
अह कलरउ, नकुणंति हंस फल सेवि रविंदह।
(वही, पृ० ७३)

यह सूरके 'घन गरजत नहि उन देसहि (भ्रमर गीत सार पद २८०)

से तुलनीय है। वह प्राकृतिक व्यापारोंका मधुर उल्लेख करते हैं। शरद्में घर-घर आनन्द है, पर उसे प्रियका दुःख है—

अच्छइ घरि घरि गीउ रवन्नउ ऐगु इकट्ठु कट्ठु मह दिन्नउ।

(१८०)

या वसन्तमें सखियाँ खेलमे मस्त है—

पंगुरणिहिं चच्चिउ तणु विचित्तु मिलि सहीयहि गेउगिरंति णित्तु।

(२-२)

चच्चरिहिं गेउ झुणि करिवि तालु नच्चीयइ अउव्व वसन्त कालु।

(२१९)

जायसीके पदमें—

सखि झूमक गावैं अंग मोरी हों झुराव बिछुरी मोरी जोरी।

(पद्मावत १५२)

यह ध्यान रखना चाहिए कि रहमानने कहीं-कहीं प्रकृतिका यथातथ्य मार्मिक चित्रण किया है। ग्रीष्मका चित्र देखिए—

जम जीहइ णं चंचलु नहयलु लहलहइ
तड तेड यड धर तिडइ न तेयह मरु कहइ।

(१३२)

वर्षाका वर्णन—

मच्छर भय संचडिउ रन्नि गोयंगणिहि
मणहर रमियइ नाहु रंगि गोयंगणिहि।
हरियाउलु धरवलउ कयंबिण महमहिउ
कियउ मंगु अंगंगि अणंगिण मह-अहिउ।

(१४९)

लेकिन इसके बाद वह उद्दीपनमे बदल जाता है।

आरोपित वाद

हिन्दीके आचार्योंके द्वारा मान्य प्रकृति-चित्रणकी विधाओंको मैं कविके अपने दृष्टिकोणका आरोपमात्र मानता हूँ। यह ठीक है कि प्रकृति मनुष्य-को प्रभावित करती है पर साथ ही मनुष्य भी अपनी भावनामे प्रकृतिको रंगता है। कवि नीतिवादी है तो उसके प्रकृति-चित्रणमे यह नीतिवाद अवश्य झलकेगा। यही है उपदेश रूपमें प्रकृति-चित्रण। यथार्थमे यह

प्रकृतिका उपदेशमें वर्णन नहीं है। अपितु कवि अपने खास दृष्टिकोणसे उपमान रूपमे ऐसी बातें कहता है कि प्रस्तुत वर्णन-द्वारा उसकी भावना व्यक्त हो जाती है। वस्तुतः यह आरोपित चित्रण है। उदाहरणके लिए वर्षावर्णनमें कवि कहता है—

> दद्दुर रडेवि लग्ग णं सज्जण णं णच्चंति मोर खल दुज्जण।
> णं पूरंति सरिउ अक्कंदें णं कइ किलिकिलंति आणंदे।
> णं परहुय विमुक्क उग्घोसें णं वरहिया लवंति परिओसें।
>
> (प० च० २, ६२)

यह प्रभातका प्रसंग है, कवि कहता है—

> विच्छाव कंति ससि अत्थमइ सकलं कहं किं थिरु उदउ होइ।
> मउलंति कुमुय महुयर मुयंति थिरनेर मलिण किं कहपि हुंति।
>
> (प० सि० च० २६)

संवेदना रूपमे प्रकृति-चित्रणकी विधामे भी भावनाका आरोप ही है। इसीसे प्रकृति-चित्रणमे रस्किनने संवेदनाको हेत्वाभास माना है। विशेष मानसिक स्थितिमे मनुष्यसे जड़ चेतन ज्ञान लुप्त हो जा सकता है। सीताके वियोगमे राम कहते हैं—

> रे हंस हंस सा हंस गमण पई दिट्ठी कत्थइ विउल रमण।
> चंगउ चिम्मकहुं सिक्खिओसि महुं अकहंतु जि खल किं गओसि।
>
> (म० पु० २, ४२८)

इसी प्रकार वह कुंजर सारंग आदिसे भी कहते हैं क्योंकि वे सीताके अंगोके उपमान है। पवनकुमार भी अंजनाके वियोगमे यह सब पूछता है (पं० पु० १, १५९)। ये प्रसंग तुलसीके 'हे खग मृग हे मधुकर सेनी' इस वर्णनसे तुलनीय है। कवि धाहिल परित्यक्ता पद्मश्रीकी भावनाका तादात्म्य प्रभातसे करता है—

पद्मश्रीके तेजकी तरह आकाशसे तारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। उसके इन्द्रिय-सुखकी तरह तम नष्ट होता जा रहा था। उसके हृदयके मोहकी तरह मुर्गेका स्वर फैल रहा था। आकाशमे चन्द्रमा फीका हो गया। चकवा भी शोकमे व्याकुल। उसके नेत्रोंकी तरह, कुमुद संकुचित हो रहे थे। उसकी आशाकी तरह दिशाएँ दूर-दूर तक फैलती जा रही थीं। उसके हृदयके सन्तापकी भाँति सूरज निकल रहा था। (प० सि० च० ३०)

रहस्यवाद

इस रूपमें प्रकृति-चित्रण भी आरोपवाद ही है। मानवीकरणमें आरोप मुख्य होता है, चित्रण गौण, इस बारेमें हम छायावादी दृष्टिकोणका विचार कर चुके है। गुलाबरायजीका कहना है कि 'प्रकृति-प्रेमको सार्थकता देनेके लिए दो ही बातें मुख्य हैं या तो उसे मानवी रूप दिया जाये, या उसका आधार परमात्मा माना जाये। (सि० अ० १५६) पर हमारी समझमें यह आवश्यक नहीं। इन मुख्य दो बातोंके बिना भी प्रकृति-प्रेमकी सार्थकता हो सकती है। इनमें एक बातका सम्बन्ध छायावादसे है, और दूसरीका रहस्यवादसे, पर ये सब आरोपमात्र हैं। एक ओर तो हम प्रकृतिके स्वतन्त्र अस्तित्वको मानते हैं, और दूसरी ओर उसे ईश्वरका अंग बनाना चाहते हैं, साहित्यिक दृष्टिसे, प्रकृति-प्रेमके लिए ऐसा कोई दार्शनिक बन्धन मानना उचित नहीं, प्रकृतिपर चेतनताका आरोप भावात्मक दृष्टिकोण है, और उसका आधार ईश्वर मानना दार्शनिक। यदि कोई अध्यात्मवादी है तो वह दूसरे कोणसे भी प्रकृतिको देख सकता है। जैसे प्रकृति-चित्रणके प्रसंगमें आध्यात्मिक संकेतका एक उदाहरण यह है—

पुणु कोइलु कलसद्दें मज्जइ णं वसंत पहु पडइउ वज्जइ।
रुणुरुणंतु अप्पाणु ण चेयइ महुअरु महु पिएवि णं गायइ।
ता परमेसरु मणि मीमंसइ अम्हारउं वणु अण्णुजि दीसइ।
काले कंटइयउं अंकुरियउ पल्लवियउं कुसुमोलिहिं भरियउं।
फलिउं फला वर्लाहिं णं पणवइ एहि सयलहु लोयहु परिणइ।

(म० पु० २।१३५)

हरे-भरे नन्दन वनको देखकर, द्रष्टाको आत्माके वनकी क्षणभंगुरता याद आ गयी क्योंकि वह क्षणिकताका विश्वासी है। यदि वह ईश्वर-प्रेमी हो तो उसमें प्रेमकी झलक देख सकता है।

परिगणन रूपमें किये गये प्रकृति-चित्रणमें कोई कलाकी बात नहीं, फिर भी अपभ्रंश काव्यमें यह विरल नहीं। सन्देश रासक (पृ० २४), पउमचरिउ (१,२४; २,२५) भविसदत्त कहा (तिलयद्वीपवर्णन) में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। हमारा अनुमान है कि प्राचीन भारतमें उद्यान लगानेकी जो प्रथा थी, उसीसे लोकभाषा प्रबन्ध काव्योंमें वृक्षोंके नाम गिनानेकी प्रथा चल पडी।

प्रकृति-चित्रणकी इस आलोचनामें हम कविकी भावदशा और कथाकी

नाजुक स्थितिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। एक उदाहरणसे यह स्पष्ट होगा। रावण सीताको उठाकर लंकाके नन्दन वनमे ले गया, परन्तु वहाँकी बाह्य प्रकृति अपने शासककी अन्तरंग प्रकृतिके विरुद्ध हो उठी, इस प्रसंगमें पुष्पदन्त इतने उत्तेजित हो उठते हैं कि वह घटना उनके सम्मुख हुई होती तो शायद वह क़लमकी जगह कुठार उठाकर हमला कर देते। जब उसे कुछ नहीं मिला तो वह वहाँ पशु-पक्षियोंको ही मोरचेपर लगा देता है –

रावण किं आणिय परजुवइ तरु चुय सिण्हंसुएहिं रुवइ।
वणु णाइं करइ साहुद्धरणु हा पत्तउ णारि रयण-मरणु।
अलि कण्णासण्णउ रुणुरुणइ पहु एउं अजुत्तु णाइं भणइ।

हंसावलि लवइव लोयं पिय मइं जेहीं तेरी किंपि सिय।
मा मइलहि माणिवि एह तिय मा णासहि लंकाउरिहि सिय।
अंबउ लोहिय पल्लव ललिउ णं णिव अण्णायसिहिं जलिउ।
चंदणु पुणु विसहर दक्खवइ पडिवक्ख वाण माणु व थयइ।

(म० पु० २, ४२३)

मुझे अभीतक प्रकृतिके इस सहज मानवी और उग्र रूपका ऐसा चित्रण देखनेमे नहीं मिला। हिन्दी आचार्योंकी, प्रकृति-चित्रणकी विधाओंमें इसे अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। अतः ऐसे प्रसंगमे यही मानना चाहिए कि कवि प्रकृतिपर अपनी भावनाका आरोप कर रहा है, क्योंकि यह रामकथाका अधिक करुण और निरीह मोड है, इसमे प्रकृतिका समग्र रूप ही अभिप्रेत है, वियोगमे रामको सीताके अंगोंके प्राकृतिक उपमानों-को देखकर, जो भ्रान्ति होती है, या उन्हे कोसने लगते हैं, यह न भ्रम है और न प्रकृतिका अनादर, केवल भावनाका आरोप है।

(प० च० २, १४५)

संक्षेपमे अपभ्रंश काव्यमे प्रायः सभी विधाओंमे प्रकृति-चित्रण मिलता है, फिर भी पृष्ठभूमि और अलंकृत शैलीके रूपमे वर्णनकी मुख्यता है। प्रकृतिके उग्र और मधुर दोनों रूपोंका अंकन है। बहुत थोडे स्थलोंपर अरुचिकर चित्रण है। फिर भी प्राकृतिक वस्तुओंके प्रति उपालम्भ और अतिशयोक्ति प्रबन्ध कवियोमे नही है। प्रकृतिकी अवस्थाओंका चलता वर्णन इनमें अवश्य है। पर 'बारह मासा और षड्ऋतु' पद्धतिका इनमें

अभाव है। तुलसीदासमें भी यही बात है। केवल रहमानके प्रकृति-चित्रणमें अतिशयोक्ति, षड्ऋतु वर्णन, उपालम्भ आदि पद्धतियाँ मिलती हैं। भावनाके आरोपकी प्रवृत्ति इनमें सबसे अधिक है। किसी दार्शनिक वादका आरोप तो ये प्रकृतिपर नहीं करते, पर प्रकृति-चित्रण और निरीक्षणसे दार्शनिक तथ्य अवश्य निकालते हैं। हिन्दी कवि पन्तमें यह बात है। अलंकृत शैलीमे रूपक और श्लिष्ट योजना अधिक है। रूपकके मूलमे तीन कारण हो सकते हैं –

१. सामन्त युगका प्रभाव, युद्ध या राजाके आरोपोंका कारण यही प्रभाव है।
२. काव्य-कथाके पूर्व वर्णनोंका प्रभाव, इसमें कवि किसी घटनाका पहले अंकन कर चुकता है। बादमें प्रकृति-चित्रण करनेपर उसका आरोप कर देता है।
३. रूपक-शैली इन्हें प्रिय थी।

श्लिष्ट योजनामे यद्यपि कुछ तुलनाएँ असंगत हैं, या अधिक हृदय-ग्राही नहीं हैं, फिर भी कई स्थल सुन्दर हैं। उदाहरणके लिए रावण सीताको चित्रकूटमें अकेली देखता है, चित्रकूटकी उस रमणीयतामे सीता-का यौवन उसे और भी आकर्षक जान पड़ा, मानो दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। पुष्पदन्तके सम्मुख समस्या है कि वह कैसे दोनोंका एक साथ वर्णन करे। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकमे या तो भेद हैं. या फिर किसी एककी मुख्यता! श्लिष्ट शैलीमे इसका हल हो गया।

वणु दीसइ णच्चिय णीलगलु सीयहि जोव्वणु मण णीणगलु।
(म० पु० २, ४१८)

रामके लंकाविजयके अनन्तर पीठगिरिपर पहुँचनेपर यही शैली उनके वर्णनमे प्रयुक्त है। (म० पु० २, ५०८)

इसमें सन्देह नही कि प्रकृति-चित्रण आलोच्य काव्यमें अत्यन्त अपेक्षित है और दो-चार अपवादोंको छोड़कर सुरुचिपूर्ण भी।

अपभ्रंश साहित्यमें वर्णित समाज और संस्कृति

अपभ्रंश साहित्यमें जिस समाज और संस्कृतिकी झलक है – उसका अपने युगसे कितना सम्बन्ध है, यह निश्चित रूपसे बताना कठिन है। फिर भी उस युगको मुख्य प्रवृत्तियों और मान्यताओंका प्रभाव इसमें देखा जा सकता है। इधर हमारे देशमें साहित्यिक कृतियोंके सांस्कृतिक अध्ययनकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। परन्तु इस विषयमें विशेष सावधानी बर्तनेकी आवश्यकता है। आलोच्य साहित्यमें जो सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था अंकित है, उसकी रूपरेखा इस प्रकार है—

परिवार

समाज चार वर्णोंमें विभक्त था। इनमें भी कितनी ही जातियाँ थीं। इन जातियोंकी उत्पत्तिके विषयमें कई मत थे। पुष्पदन्तका कहना है कि (म० पु० १, पृ० ८८) रिषभ जिनने लेखक, लुहार, कुम्हार, तिल-पीड़क (तेली), चमार आदि की रचना की। यथार्थमें इन जातियोंका विकास इससे भी पूर्व हो चुका था। समाजकी मुख्य संस्था थी परिवार। अधिकतर सम्मिलित परिवार प्रथा थी। इसीलिए, अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यमें सम्मिलित कुटुम्बमें चलनेवाली प्रतियोगिता, सास-बहूकी कलह, आदिका वर्णन मिलता है। पउमसिरि चरिउकी कथावस्तुका आधार यही पारिवारिक अवस्था है। सास-बहूके झगड़ेके सम्बन्धमें तो कवि स्वयंभू यह लिखते हैं (प० च० २, १५५) कि दोनोंका बैर अनादिसिद्ध है, वैसे ही जैसे दुष्टका सुकविकी कथासे, या हिमपातका कमलिनीसे। नारी-का चरित्र सन्देहकी वस्तु था, अंजनाकी उसकी सास, एक कल्पित सन्देह पर पीटकर निकलवा देती है। उसके माता-पिता भी उसे ठुकरा देते हैं। (प० सि० च०) बहु-विवाहकी पुरुषोंको खुली छूट थी, इससे भी परि-वारमें कई उलझनें उठ खड़ी होती थी। भविसकी करुणगाथाका आधार यही प्रथा है। अपनी स्थितिको सुरक्षित बनाये रखनेके लिए सौतोंमें शीत युद्ध चला ही करता था। नागकुमारकी कहानीका विकास इसी संघर्षसे होता है। कृष्णकी दोनों पत्नियों – सत्यभामा और रुक्मिणीमें यह शर्त थी कि जिसके बेटेकी पहले शादी होगी वह दूसरीके सिरके बाल कटवा देगी

(म० पु० ३, १७१)। किसीको बहुत-सी सुन्दर पत्नियाँ होना भी उस युगमें असीम पुण्यका फल समझा जाता था।

गृह-संस्कारोंमें चूड़ाकर्म आदिका उल्लेख है। बच्चोंको गहने पहनानेकी प्रथा खूब थी। इन्द्रने प्रायः सभी तीर्थंकरोंके कान स्वयं छेदे थे। विवाह-संस्कार धूम-धामसे होते थे (देखें वस्तु-विवरण) और पुरोहित ब्राह्मण ही बनते थे। विवाह प्रायः माता-पिताकी सहमतिसे धर्मानुसार होते थे। कुलदेवीकी स्थापना आवश्यक समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त गन्धर्व और प्रेम-विवाहोंकी तो भरमार ही थी। वैसे आलोच्य साहित्यमें परिवारोंकी सम्पन्नताका चित्रण है, पर दरिद्र ब्राह्मणकी कथा बराबर आती है। अर्थकी बहुधा निन्दा मिलती है। इन सब कारणोंसे यही प्रकट होता है कि उस कालमे राजन्य और वैश्य परिवारोंकी स्थिति अच्छी थी, साधारण जनता विपन्न ही थी।

राजनैतिक अवस्था

राजनैतिक दृष्टिसे इस साहित्यमे एक ऐसी अवस्थाका चित्र है जिसमें अनेक राज्यतन्त्र है। यद्यपि सार्वभौम सत्ता स्थापित की जाती है, पर वह अधिक टिकती नहीं। युद्धोंकी भरमार, ऐसे राजधर्मकी सूचना देती है कि जिसमें राजाके आदर्श बहुत ऊँचे है, पर शासक उनका ध्यान नहीं रखते। प्रत्युत प्रायः उनका दुरुपयोग भी कर बैठते हैं। राज्य व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्तिका साधन बन जाता है। अपभ्रंश साहित्यमें वर्णित युद्ध, राजपूत कालका सही चित्रांकन करते है। कन्याकी प्राप्ति या अपहरण, व्यक्तिगत शक्तिका प्रदर्शन, बढ़-चढ़कर डींग हाँकना इत्यादि बातें, उस युगकी विशेषताएँ कही जा सकती है। राज्यके आदर्श जो भी हों, पर वे नीतिसे अवश्य अनुप्राणित थे, फिर भी ये वर्णन प्रायः बँधे-बँधाये हैं। उनमें कुछ तो नैतिक आदेश हैं और कुछ कूटनैतिक बातें। जैसे रावणकी बढ़ती हुई शक्ति देखकर इन्द्र एकान्त मन्त्रि-परिषद्से मन्त्रणा करता है। शुक-सारिकाका प्रवेश भी उस भवनमे निषिद्ध था। मन्त्रणाके मुख्य विषय हैं (प० च० १ पृ० १३७)—

१. साम, दाम, दण्ड और भेदमें-से किसे अपनाया जाये।

२. पंचांग मन्त्रका विचार।

३. मन्त्रि-परिषद्में कितने सदस्य हों।

भारद्वाजका मत है कि एक भी मन्त्री नहीं होना चाहिए। लेकिन दूसरे

नीतिशास्त्री इसका विरोध करके निम्नलिखित संख्या निर्धारित करते हैं – विशालाक्ष – १, पाराशर – २, पिशुनाचार्य – ३, कौटिल्य – ४, मनु – १२, शुक्राचार्य – १६, भृगुनन्दन – २० ।

इसपर इन्द्र अपना निर्णय यह देता है कि एक हजार मन्त्रियोंके बिनाठीक मन्त्रणा नहीं हो सकती । यह परामर्श अर्थशास्त्र (पृ० ४५) से मिलता-जुलता है । शेष दो बातोंपर निर्णयकी अपेक्षा रावणसे सन्धि कर लेनेका प्रस्ताव हो गया ।

एक कूटनीतिज्ञमें पुष्पदन्त और स्वयंभू निम्नलिखित बातें आवश्यक मानते हैं (प० च० पृ० १२८) । वह उत्साह, मन्त्र और राजशक्तिसे युक्त हो । चार विद्याओं, छह गुणों, छह करबलों और सात प्रकारकी प्रकृतिसे युक्त हो । सत्रह व्यसनोंसे रहित हो । बुद्धि और शक्तिसे सम्पन्न हो । छह अन्तरंग शत्रुओंका नाश करनेवाला और अठारह तीर्थोंका पालन-कर्त्ता हो । इससे यही जान पड़ता है कि राजदूतको उस समय काफ़ी अधिकार और शक्ति प्राप्त थी । राजाकी दिनचर्याके मुख्य अंग अठारह प्रकारके विनोद थे । प्रत्येकको पूरा करनेमें आधा प्रहर समय लगता था । ये विनोद इस तरह है –

१. प्रजाकी खोज-खबर और अन्तःपुरका रक्षण ।
२. कन्दुक क्रीडा व दरबारकी व्यवस्था ।
३. स्नान, देवार्चन, भोजन, परिधान और विलेपन ।
४. द्रव्यनिरीक्षण और उपहार-प्रत्युपहारोंकी देख-भाल ।
५. लेखवाचक, शासनहर और दूतोंको निपटाना ।
६. स्वेच्छासे विद्या-विनोद, या अभ्यन्तर मन्त्रणा ।
७. सेना, रथ, गज और अश्वोंका निरीक्षण ।
८. सेनापतिसे सम्भाषण ।

रातकी चर्या यह है—

१. गूढ़ पुरुषोंके साथ विचार-विमर्श ।
२. स्नान, आसन या नरपतियोंसे भेंट ।
३. जय तूर्यका सुनना, अन्तःपुरमें प्रवेश ।
४. शयन, और अपनी सुरक्षाकी व्यवस्था ।
५. नगाड़ोंकी ध्वनिसे उठना, शास्त्र-स्वाध्याय करना ।
६. अपने राज्यकी चिन्ता और मन्त्रियोंसे मन्त्रणा ।

७. शासनहरोंको आज्ञा देना और वैद्योंसे बातचीत।

८. रसोइयासे बातचीत, नैमित्तिक और पुरोहितोंसे भेंट करना।

(प० च० १, १२९)

पुष्पदन्तने लगभग इसी दिनचर्याका वर्णन किया है। (म० पु० १, ४३३)। विशेष बात यह है कि वह, धार्मिक चर्चा, कामशास्त्र और तन्त्र-मन्त्रके अध्ययनका विशेष रूपमें उल्लेख करते हैं।

दूतका महत्त्व आलोच्य साहित्यमे बार-बार अंकित है। पउम चरिउ (१, १३२) में दूतके सज-धज और शानसे जानेका उल्लेख है। अर्थशास्त्र-में लिखा है कि दूत यान, वाहन, नौकर-चाकर और उत्तम सामानके साथ शत्रुके देशमें प्रवेश करे (अध्याय १६ पृ० ४८)। महापुराण (२, १६२) मे दूतोंके लक्षण गिनाये हैं, इन दूतोंका स्वागत भी खूब किया जाता था, क्योंकि सन्धि-विग्रहके सारे अधिकार इनके हाथमे रहते थे। दूतका नाम प्रायः चित्रांगद ही मिलता है। रावण-इन्द्र-युद्ध, या पोदनपुर और भविस-कुमारके युद्धमें दूत ही चुनौती देकर जाते हैं। दूतके इतने महत्त्वका कारण, इस युगके युद्धोंकी बहुलता ही है।

राजनैतिक उपदेश

प्रायः दो प्रसंगोंमें आते हैं—(१) राजकुमारोंको शिक्षा देते समय (२) राजनैतिक मन्त्रणाके अवसरपर। उल्लेख बहुत है पर उनमे विचार एक-से हैं। अतः एक दो अवतरण ही हम काफ़ी समझते हैं। चक्रवर्ती भरत (म० पु० १, ४३४) सामन्तों और नरेशोंकी सभामें क्षात्रवृत्तिका जो आदर्श रखता है उसपर थोड़ा-बहुत धार्मिक रंग भी है। वह कहता है कि धर्मसे प्रजाका पालन करना राजाका कर्त्तव्य है। अकारण प्रजाका वध करना यमकृत्य है। जिस प्रकार गोपाल अपने गोमण्डलकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको पृथ्वीका पालन करना चाहिए। नृपचरितके ये पाँच आदर्श वह रखता है –

(१) अपने कुलका पालन, (२) बुद्धि ठीक रखना, (३) अपनी सुरक्षा-की चिन्ता, (४) प्रजा-पालन और (५) संयम।

इसके अतिरिक्त राजाको प्रमादरहित और उद्योगशील होना चाहिए। दुष्टोंकी संगतिसे दूर रहना चाहिए। वह अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे। इन्द्रिय-जय और व्यसनोंका त्याग आवश्यक है। कुलहीन और बुद्धिहीन मन्त्रीकी नियुक्तिसे प्रजाका अकल्याण होता

है। इसके बाद वह कुछ नैतिक बातोंका उपदेश करता है। णायकुमार-चरिउमें राजाका आदर्श दीन जनका उद्धार माना गया है (पृ० ९०)। हमारा अनुमान है कि स्वयंभूके विचार अर्थशास्त्रपर अवलम्बित हैं और पुष्पदन्तके नीतिवाक्यामृतपर। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि इस ग्रन्थके लेखक सोमदेवसूरि पुष्पदन्तके थोड़े पहले हुए थे और जैन भी थे।

राज्यतन्त्र होते हुए भी कई बातोंमे राजाके अधिकार सीमित थे। उसे जनताकी आवाजका आदर करना पड़ता था। भविसदत्त कहा में बन्धुदत्तके धन और स्त्री-हरणके अपराधपर राजा नागरिकोंकी सलाह लेता है। पहले वह धन और स्त्री वापस कराकर, बन्धुदत्त और उसके पिता धनवईको छोड़नेकी आज्ञा देता है। पर यह मालूम होनेपर कि बन्धुदत्तने वधू भविष्यानुरूपापर ज़बरदस्ती करनेकी चेष्टा की, वह पिता पुत्रको जेलमें बन्द करवा देता है। इसपर प्रजामे रोष बढ़ गया, उसने हड़ताल कर दी, दूतने आकर उसे यह रिपोर्ट दी—'घर-घरमे काम-काज बन्द है, लोगोंकी आँखोंमे आँसू है, बच्चे बूढ़े अपने घरोंमे है। बाज़ारमे लेन-देन ठप्प है। आपकी मुद्राका चलन बन्द है।' (भवि० क० पृ० ७०)। अन्तमे नागरिकोंके परामर्शसे राजाको धनवईको छोड़ना ही पड़ा, यह बात अवश्य है कि वह नगरसेठ था। आलोच्य कालमे नगर-सेठका पद महत्त्वका था। ये सेठ विदेश-यात्रासे काफ़ी धन लाते थे और राजाको क़ीमती उपहार देते थे। बन्धुदत्त और भविस, दोनोंने यात्रासे लौटकर उपहार दिये थे। अटवीराज्य और भीलराज्योंका भी इस साहित्यमे उल्लेख है, (म० पु० १, २३१)। राम भरत और नाग-कुमारको इन भीलोंके सम्पर्कमे आना पड़ा था। भीलोंका उत्पात रोकने-के लिए जनकने रामको बुलाया था।

शिक्षा-दीक्षा

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमे शिक्षाका जो वर्णन है। उसका सम्बन्ध सामन्त समाजसे था। जन-साधारणकी शिक्षा-व्यवस्थाका पता उसमें नहीं मिलता। राजपुत्र पहले गुरुके घर ही पढ़ने जाते थे। पर आलोच्य-कालमे राजभवनमे ही उनकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था थी। अत: राजगुरुका पद महत्त्वपूर्ण हो गया। प्राय: सभी शास्त्रों और कलाओंकी शिक्षा देनेका उल्लेख है, रिसभने भरतको निम्नलिखित विद्याओंमें पारंगत किया था (म० पु० १, पृ० ७६)—काले (स्याही) अक्षर,

गणित, संगीत, नाटक, नर-नारीके लक्षण, विविध आभूषण, कामशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, रत्न-परीक्षा, गज और अश्वकी शिक्षा, विविध आयुधोंका संचालन, देश-देशकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान, कवि वचन और अलंकारोंका अध्ययन, ज्योतिष, छन्द, तर्क, व्याकरण, मल्लयुद्ध, वैद्यक, लोक-व्यवहार, चित्रकर्म, लेपकर्म और काष्ठकर्म। इतने अध्यापनके बाद, उन्होंने नीतिशास्त्रका उपदेश दिया। नागकुमारको भी लगभग यही शिक्षा दी गयी (णा० कु० च० पृ० २४)। उसे वनस्पति-विज्ञान भी पढ़ाया गया। कुमार भविसने भी उपाध्यायके घर जाकर इन्हीं विद्याओंका अध्ययन किया (भवि० क० ८)। ब्राह्मी और सुन्दरी (रिसभकी पुत्रियाँ) को काव्यकी शिक्षा विशेष रूपसे दी गयी—संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश, छन्द, शास्त्र-निबद्ध कलाएँ, सर्गबद्ध गाथा, और गीत वाद्य। इससे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि राजकुमारियोंको उस युगमें काव्यकी शिक्षाका विशेष महत्त्व था। संस्कृत काव्यके अतिरिक्त लोक-भाषा साहित्य भी उन्हें पढ़ाया जाता था। इस काव्यके कई भेद थे। जैन उपाध्याय भी पढ़ाते थे। 'गणेशाय नमः' की जगह 'ओं नमः सिद्धानाम्' शिक्षाके प्रारम्भमें कहा जाता था।[1] वट-वृक्षके अलंकृत वर्णन (प० च० २, ६०) से यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय लोक-भाषा (अपभ्रंश ११) की पढ़ाई भी होती थी। एक रूपकमें कवि कहता है कि वट रूपी उपाध्याय विविध पक्षियोंको कवका, किक्की, कुक्कू, केक्कई कोक्कउ आदि पढ़ा रहा था। बारहखड़ीकी यह पद्धति लोक-भाषाकी वर्णमालासे सम्बन्ध रखती है। संस्कृत वर्णमालासे नहीं। क्योंकि इसीके कुछ बाद अपभ्रंशका यह नमूना आता है। राम लक्ष्मणको पुकारते हैं—

ताम हलाउहु कोक्कइ लग्गउ मो भो लक्खण आउ कहिं गउ।

(प० च० २, पृ० ७०)

विवाह

आर्ष विवाहके सिवा गन्धर्व विवाह और विजातीय विवाह भी होते थे। मानवेतर जातियोंमें विवाहप्रथा अपेक्षाकृत शिथिल थी। विवाहोंमें धूम-धामका ध्यान रखा जाता था। साधारणतया वरकी बारात वधूके घर जानेका नियम था। परन्तु विशेष परिस्थितिमें पिता लड़कीको लड़के-

---

१. डॉ० आल्टेकरका लेख (१० व० अ० ग्रं०)

के घर ले आता था। कई प्रदेशोंमें (खासकर दक्षिणमें) मामाकी लड़कीसे विवाहकी प्रथा थी। दहेजकी प्रथा थी। स्वयंभू और पुष्पदन्तने ससुरके अर्थमें 'मामा' शब्दका प्रयोग किया है। इससे इनके दक्खिनी होने की बात पुष्ट होती है। जो भी हो स्वयंवरकी प्रथा थी। इन दिनों यह भी एक युद्धका कारण था। यह सब होते हुए भी बहुत-से विवाह विचित्र ढंग और भविष्य वाणीसे भी तय कर लिये जाते थे। स्वयंवर दो प्रकार के थे, एक लड़की स्वयं वरण करती थी, दूसरेमें वरका चुनाव परीक्षा-द्वारा होता था। कहीं यह परीक्षा अत्यन्त क्रूर थी। इसमे बेचारे कितने ही युवकोंकी जान चली जाती थी। लक्ष्मणको जितपद्माको पानेमें कठिन शक्तियाँ झेलनी पड़ी थीं। गन्धर्व, वानर और राक्षस जातियोंमें विवाह सम्बन्ध अधिक खुला था।[१] वेश्या नृत्यका विवाहों में आम रिवाज था।

आमोद-प्रमोद

इसके दो रूप थे, एकका सम्बन्ध राजसमाजसे था और दूसरेका जन-साधारणसे। राजसमाजमे जलक्रीड़ा, संगीत, वनक्रीड़ा और नृत्य प्रेक्षण-का अधिक शौक़ था। प्रदर्शन शास्त्रीय भी होते और कच्चे भी। अपभ्रंश कवि, संगीतके भेद-प्रभेदोंको चर्चा विशेष रूपसे करते हैं। उदाहरणके लिए महापुराण (१, ९४-९७) में संगीतका जो वर्णन है वह नाट्य-शास्त्र (अध्याय ४, ५, ११, २८, ३१ और ३३) से तुलनीय है। रिसभकी विरक्तिमे 'शान्त रस' को छोड़कर शेष रसोंका नाट्या-भिनय किया गया। स्वयंभूने भी (प० च० १, १८) इसका उल्लेख किया है।

साधारण जनतामे चर्चरी, रासलीला, दोलाक्रीड़ा आदिका अधिक प्रचार था। विवाहके प्रसंगमे हँसी-मज़ाक़, चुहुलबाज़ी ख़ूब चलती थी। नटोंके प्रदर्शन भी इस कालमें ख़ूब पसन्द किये जाते थे। राम स्वयं नट बने थे। वीणाका आम रिवाज था, सुन्दर लड़कियोंको रिझानेके लिए यह जादूका काम करती थी। जुआ मनोविनोदका महत्त्वपूर्ण अंग था। बाप-बेटे, पति-पत्नी और राजा-प्रजामे खुलकर द्यूत-क्रीड़ा होती थी, नागकुमारने जुएमे धन जीतकर अपनी माँके गहने बनवाये थे, द्यूत-गृह भी होते थे। जुएके द्वारा ही रतिवेगाने अपने खोये पति करकण्डुका पता

१. देखो विवाह प्रकरण।

लगाया। नागकुमारको जुएकी भी शिक्षा दी गयी थी। मल्लयुद्ध इस युगमें दिलचस्पीका विषय था।

लोकाचार और अन्धविश्वास

विशेष पुरुषों और राजाके स्वागतमें खास आयोजनकी चाल खूब थी। दिग्विजयसे लौटनेपर राजाके दर्शनके लिए जनता उमड़ पड़ती थी। भरत जब लौटकर आया तो अयोध्यामें उत्साहकी लहर दौड़ गयी। केशरका छिड़काव होने लगा, कपूरकी रंगोली पूरी जाने लगी। दूर्वा, दही और सरसों (सिद्धार्थ) से स्वागतकी तैयारी होने लगी। अशोकके पल्लवोंके तोरण सजाये जाने लगे। घर-घरमें भरतकी स्तुति सुनाई पड़ने लगी। द्वारपर मंगल-कलश रख दिये गये (म० पु० १, पृ० २६२)। हनुमान्के किष्किन्धा पहुँचनेपर ऐसा ही स्वागत हुआ, (प० च० २, पृ० १९६)। किसीको बिदाई देते समय भी दूर्वादिका उपयोग होता था। भविसके प्रवास प्रसंगपर उसकी माँने डबडबाये नेत्रोंसे उसे बिदा किया (पृ० २०)। पुत्रके लिए मनौती करनेका उल्लेख अनेक बार आया है। नन्दको मनौती करनेपर देवीने पुत्र होनेका वरदान दिया था। परन्तु हुई लड़की। तब वह उसे देवीके आगे फेंकने गये, रास्तेमें उग्रसेनने अपना बेटा कृष्ण देकर वह लड़की ले ली (म० पु० २, ८६)। जैन श्रावक पुत्र-प्राप्तिके लिए रत्नोंकी जिन-प्रतिमा बनवाते थे। खोटे सपनेका फल टालनेके लिए जीवबलि की जाती थी, जसहरकी माँने ऐसा ही करना चाहा था (जस० च० ३३ पृ०)। इस युगमें शकुन-अपशकुनमे जनताका विश्वास घना था। क्योंकि इस साहित्यमे इनका अधिक उल्लेख है साधारणतया इतने शुभ-अशुभ शकुनोंके नाम आये हैं इनका उल्लेख वैदिक-साहित्य गृह्यसूत्र और संस्कृत-काव्योंमे भी है (हं० सा० अ० १३५)

अपशकुन

(१) साँपका रास्ता काटना, (२) बाल खोलकर स्त्रीका रोना। (३) बायाँ नेत्र फड़कना (४) रक्तस्नान और बसा भोजन करना। (५) धरतीका काँपना (६) घर और मन्दिरका लोट-पोट हो जाना। (७) असमयमें महामेघोंका गरजना (८) आकाशमें धड़का नाचना। संख्या १ और तीनके सिवा, ये अपशकुन और (प० च० १, ७१) हैं।

(१) दक्षिण पवनका चलना (२) कौएका विरस बोलना। (३)

सियारका रोना (४) नाकके दक्षिणभाग हवा निकलना। (५) आकाश में नये ग्रह दिखाई देना (६) सियारका लँगड़ाकर चलना।

(प० च० २, पृ० १३६)

इसीके पृ० २४९ पर संख्या १, २, ३, के अतिरिक्त गधेके रोनेका भी उल्लेख है। महापुराण (३, पृ० ६५) में ये अपशकुन अंकित हैं—

(१) स्त्रीका मरघटमें रोना (२) नक्षत्रोंका टूटना। (३) सपनेमे राजक्षत्रका भग्न दीखना (४) दिशाओंका जलता दिखाई देना।

शुभ शकुन ये हैं –

दर्पण, शंख, कमल, दिगम्बर, मुनि, सफ़ेद छत्र, भ्रमर, अश्व, चामर, सालंकार स्त्री, दहीका घड़ा लिये हुए सुन्दर सुकुमारी, धुँआरहित आग, अनुकूल हवा, कौएका मधुर बोलना। (प० च० २, ८३)।

(१) बाएँ अंग और भुजाका फड़कना (२) मृगका दाँयीं ओर भागना (३) दाईं आँख फड़कना (स्त्रीकी) (४) पुरुषकी बायीं आँख फड़कना

(भवि० क० पृ० ५३)

किसीके आगमनको जाननेके लिए कौएको उड़ानेका भी प्रायः विश्वास था, भविसकी प्रतीक्षामें उसकी माँ ऐसा ही करती है। यक्ष-राक्षस और भूतलीलामे इस युगका पूरा विश्वास था। पद्मश्रीको भूतकी करनीसे ही अपने पतिसे वंचित होना पड़ा था। देवीकी हिंसक और क्रूर साधना कोलमतका आलोच्य कालमे अधिक प्रचार था। जसहर चरिउमे उसका वीभत्स चित्रण है। (देखें वस्तु-विवरण) जैनोंमें पद्मावती, सुदर्शनी देवीका बहुत महत्त्व था। कवि पुष्पदन्त स्वयं अपना पुराण प्रारम्भ करनेके पहले यक्षकी आराधना करते हैं। चण्डमारीका कल्ट बहुत प्रभावशाली था। तिलक द्वीपसे प्रस्थान करते समय सार्थवाहदल जलदेवीकी पूजा करता है (भवि० क० ४९)। तन्त्र-मन्त्रकी ख़ूब धाक थी। युद्धमें जो विद्याएँ प्रयुक्त होती थीं वह तन्त्र-मन्त्रसे ही साधी जाती थीं। यह सब होते हुए भी भक्तिकी सरसधारा इस कालमें धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। दार्शनिक मतोंके विवेचनमे हमने इसका विचार किया है। साम्प्रदायिक संघर्षके बीच सहिष्णुताका भाव बढ़ रहा था। आर्थिक स्तर और रहन-सहनके विषयमे हमे कोई विशेष जानकारी इस साहित्यसे नहीं मिलती। फिर भी इतना निश्चित है कि साधारण जनता अपने श्रमका फल अधिक नहीं पाती होगी। राजन्य वर्ग और श्रेष्ठी-वर्ग सम्पन्न

था। प्रभावशाली ब्राह्मण भी मजेमें थे। राजनीतिमें वे बढ़-चढ़कर भाग ले रहे थे। पर साधारण बनिया किसान और ब्राह्मण ग़रीब थे। दरिद्र किसानों और ब्राह्मण परिवारोंका उल्लेख बराबर मिलता है (देखें, वस्तु-तत्त्व), बाज़ार सजे हुए होते थे, और उनमें सब तरहकी वस्तुएँ उपलब्ध थीं। पर यह आश्चर्यकी बात है कि आजकी तरह पहले भी वस्तुओंमें मिलावट की जाती थी। हनुमानने किष्किन्धाके बाज़ारमें 'तेल मिश्रित घी' लक्षित किया था (प० च० २, १९७)।

■

अपभ्रंश काव्योंमें चर्चित दार्शनिक मत

काव्यमें दार्शनिक तथ्योंके प्रतिपादनकी प्रथा अश्वघोषके बुद्ध चरितसे मिलती है। उसमे सरल शैलीमें बुद्धके सिद्धान्तोंका विवेचन है। गुप्त-कालमें दार्शनिक खण्डन-मण्डनकी प्रवृत्ति बहुत जोरोंसे चली। काव्य भी इससे अछूता नहीं रह सका। बाणभट्ट भी विभिन्न दार्शनिक मतोंका उल्लेख 'हर्षचरित' में करते हैं। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमे दार्शनिक खण्डन-मण्डन बराबर मिलता है। संस्कृत काव्योंकी भी यही दशा है। सोमदेवका यशस्तिलक इसका सुन्दर उदाहरण है। जहाँतक आलोच्य काव्योंका सम्बन्ध है उनमे सभी दर्शनोंकी विस्तृत आलोचना नहीं मिलती। पशुबलि, वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोंकी आलोचना अधिक है। इसके कारणका आगे हम विचार करेंगे। पुष्पदन्तमे यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। एक साथ सभी दर्शनोंकी आलोचना किसीने नहीं की। मुख्य रूपसे चार्वाक, क्षणिकवाद, मीमांसा और सांख्य दर्शनोंका ही खण्डन मिलता है। जैसे जसहर चरिउमे एक कोतवाल (तलवर) का जैन साधु-से विवाद हो गया। उसने संक्षेपमें निम्नलिखित प्रश्न रखे—

१. जिस तरह तपसे मोक्ष मिलता है, उसी तरह युद्धमें शत्रुको मारनेसे भी मिलता है।

२. इन्द्रिय सुख ही सब कुछ है।

३. शरीरको कठोर यातना देना ठीक नहीं।

मुनिका उत्तर यह था–

१. जीव और कर्म अलग-अलग हैं, कर्मके कारण जीव नाना रूप ग्रहण करता है।

२. पुण्य और इन्द्रिय सुख कर्म सापेक्ष्य है, अतः उपेक्षा करने योग्य है।

३. इसलिए आत्मसुखके लिए तपका आचरण आवश्यक है, इसलिए मैं तप करता हूँ।

इसपर तलवरने यह तर्क दिया—

१. बिना जीवके मोक्षका प्रयत्न करना, सींगमे दूध निकालना या छतके बिना छाया करना—जीव और देह एक है, वैसे ही जैसे फूल और उसकी सुगन्ध।

मुनिका उत्तर था—

गन्ध जैसे फूलसे तेलमें उतर आता है वैसे ही जीव भी देहसे अलग है।

तलवरने फिर आशंका की—

वह अलग नहीं दिखता, जब दिखाई देता है तब शरीर ही।

तब मुनिने कहा—एकका विषय दूसरा ग्रहण नहीं कर सकता। यह नियम है, आँख देख सकती हैं, सूँघ नहीं सकती, कान सुन सकते हैं, देख नहीं सकते। आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है। उसे स्थूल ज्ञानसे नहीं जाना जा सकता, हाथीकी सूँड राई नहीं उठा सकती। अतः हम आत्माको शुद्ध ज्ञानसे ही जान सकते हैं, कर्मसे मुक्त होनेपर ही यह शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए मैं तप करता हूँ (वही पृ० ६१)। फिर वह कहते हैं कि जीव सर्वथा नित्य नहीं है क्योंकि उस अवस्थामें कर्मबन्ध नहीं हो सकता और न अनित्य ही है, वह शुद्ध भी नहीं है। इसलिए जबतक राग-द्वेषसे दृष्टि दूषित है तबतक, आत्मज्ञान असम्भव है। वस्तुतः द्रव्यकी दृष्टिसे वह नित्य है और पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य।

विज्ञानवाद[1]—बौद्धोंका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। यदि चेतनको क्षण-क्षणमें परिणमनशील माना जाये तो उसे वेदनाका अनुभव कैसे होगा। वासनासे यदि ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाये तो वह क्षण-क्षणमें नष्ट होती रहती है। और फिर वह उन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न नहीं है। अतः चेतनकी सत्ता माननी पड़ती है। (वही पृ० ६३)। चेतनकी सिद्धि हो चुकनेपर प्रश्न यह उठा कि मुक्ति कैसे सम्भव है, तलवरने वैदिक दृष्टिसे मांस-भक्षण और पशुबलिसे मोक्षका समर्थन किया। इसके विरोधमें मुनिने यह कहा—

कुमारिल भट्टका वचन अत्यन्त अशुद्ध और धर्मके विपरीत है। परन्तु असली चिढ़ उनकी पशुहिंसासे है, वह कहते हैं कि जीव-वधसे दोका फ़ायदा हुआ—एक भील कुलका और दूसरे ब्राह्मण कुलका। मछली मारना, खाना यदि शुद्धिका कारण हो तो फिर 'कंकू' को ही महामुनि समझना चाहिए। नदीके किनारे चरते हुए उन्हींको भक्ति करना चाहिए। अन्य मुनिकी क्या आवश्यकता है। (वही पृ० ६६)।

---

१. बाह्य आभ्यन्तर जड़ चेतन जो भी जगत् है, वह सब विज्ञानका परिणाम है। (बौ० द० ८९)।

आगे वह कहते हैं कि ब्राह्मणका विश्वास करना ठीक नहीं, वह गौको पूजता है और दूसरे जीवोंका वध कराता है। (वही पृ० ६६)। उक्त अवतरणमें मुख्य रूपसे चार्वाक नैयायिक क्षणिकवादी बौद्ध और मीमांसकोंके मतोंका खण्डन है, तर्ककी अपेक्षा युक्ति अधिक है। चार्वाकका विरोध इसलिए है कि वह जीव नहीं मानता, नैयायिक और बौद्धका इसलिए विरोध है कि वे नित्य मानते हैं उसे या क्षणिक। मीमांसाके विरोधका कारण स्पष्ट है। णायकुमार चरिउमें भी दार्शनिक मतोंके उल्लेख हैं।

१. बौद्धोंका क्षणिकवाद नहीं बन सकता। क्योंकि उसमें कपड़े पहनो, भोजन करो आदि वाक्य नहीं बन सकते, यह ठीक है कि परमाणु मिलकर घट-पट बनते हैं पर उनका ज्ञान कैसे हो सकता है। शून्यवाद भी ठीक नहीं क्योंकि सब यदि शून्य मान लिया जाये तो मुक्तिकी फिर क्या आवश्यकता है (पृ० ९४)।

२. निर्गुण ब्रह्म या शिवको सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं, क्योंकि वह निष्क्रिय हैं, यदि वह सिद्ध है तो उन्हें सृष्टिसे क्या प्रयोजन, यदि वह कामजयी हैं तो स्त्रीमें आसक्त क्यों हैं, यदि पवित्र है तो परवध क्यों करते हैं (पृ० ९६)।

वेद—वेद प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वार्थ और हिंसाको प्रेरणासे रचित है। (पृ० ९७)

ब्रह्म—वह एक और नित्य नहीं है, क्योंकि एक अनेक नहीं हो सकता।

सांख्य—यदि सांख्यका पुरुष निष्क्रिय और शुद्ध है तो प्रकृतिसे उसका बँधना और छूटना कैसे बनेगा। (पृ० ९८)

चार्वाक—यदि जीवन पंच महाभूतोंसे ही बनता है तो जो एक-दूसरेके विरोधी हैं, वे एक जगह नहीं रह सकते।

राजा महाबलिके चार मन्त्री थे, जो चार दर्शनोंका प्रतिनिधित्व करते थे। पहले मन्त्री धर्मबुद्धिने राजाको तपकी सलाह दी। चार्वाक और बौद्ध मन्त्रीके उत्तर-प्रत्युत्तर पहले-जैसे हैं। त्रिशाल मन्त्रीने मायावादका समर्थन किया। (म० पु० १) यह ध्यान रखना चाहिए, इस समय तक आचार्य शंकर अपने अद्वैतवादका प्रचार कर चुके थे। संक्षेपमें मन्त्रीने ये तर्क दिये—

"यह संसार मृगतृष्णा, स्वप्न या इन्द्रजाल है। लेकिन जिसकी यह माया है, वह दिखाई नहीं पड़ता। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध केवल एक व्यवहार है। परमार्थमें यह कुछ भी सत्य नहीं, परलोककी साधना करनेवालोंपर उस सियारकी कहानी चरितार्थ होती है, जो मुँहका मांस-खण्ड छोड़कर, पानीमें तैरती मछलीको पकड़ने दौड़ा। इतनेमें आकाशसे चील झपटकर वह टुकड़ा उठा ले गयी, मछली भी अपनी जगह जा छिपी। ऐसे ही मनुष्य भी दोनों ओरसे हाथ धो बैठता है। नरकके भयसे शरीरको कष्ट देना भी व्यर्थ है। यह वैसा ही हुआ जैसे आकाश गिर पड़ेगा इस भयसे टिटिहरा टाँग ऊपर करके बैठ गया।"

इसका स्वयंबुद्धिने यह उत्तर दिया—

जब कारण और कार्य नहीं है तो वज्रपातके समय भय क्यों होता है। जब न शब्द है, न तुम, न मैं और न अन्य वस्तु है, तो फिर इष्ट अनिष्टकी प्रतीति क्यों होती है।

कवि स्वयंभूने बहुत थोड़ेमे दार्शनिक खण्डन-मण्डन किया है। रामको वनवासमे जाते हुए एक तापस-वन मिला, उसमे निम्नलिखित साधु उन्हें दिखाई दिये—

तावस केवि दिट्ठ जड हारिय, कुजण कुगाम जेम जड हारिय।
केवि तिदंडि केवि धाडी सर, कुविय णरिंद जेम धाडीसर।
केवि रुद्द रुद्दंकुस हत्था, मेट्ठु जेम रुद्दंकुस हत्था।

(प० च० २, २८)

इसमे जटाधारी, त्रिदण्डी, धाडीसर और रौद्र साधुओंका निर्देश है। बाण-भट्टने भी वर्णन किया है कि हर्षने दिवाकर मित्रके आश्रममे कई सम्प्रदायोंके साधु देखे थे, डॉ० अग्रवालने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब साधु उक्त आश्रममें रहते ही थे। नैषध, प्रबोध चन्द्रोदय आदिमें तपोवनका ऐसा ही वर्णन है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि यह भी एक साहित्यिक प्रथा थी, उसके आधारपर इतना ही कहा जा सकता है कि इन साधुओंका भारतमे अस्तित्व था। पर वे एक ही आश्रममें थे, यह सिद्ध नहीं होता।

दार्शनिक विवेचनका दूसरा प्रसंग है दण्डक राजाकी कहानी। एक बार वह शिकार खेलने गया। एक जैन साधुको देखकर वह बोला—तप करना व्यर्थ है, क्योंकि जीवन और शरीर दोनों अनित्य हैं।

मुनि नयवादसे यह उत्तर देते हैं—

यदि तुम क्षणिक मानते हो तो क्षण शब्दका उच्चारण ही नहीं बनता, क्षणिकसे क्षणिक क्षणान्तर, अघटित अघटमान और अघटन्त, शून्यसे शून्य वचन, शून्यासन आदिकी कल्पना नहीं बन सकती। अतः सब बौद्ध शासन व्यर्थ है। (प० च० २, १०९)। तब राजाने कहा—जब सब नित्य है तो तप करनेसे क्या।

मुनिका यह उत्तर था—हमारे मतमें यह आपत्ति नहीं उठायी जा सकती, क्योंकि हम नास्ति-अस्ति दोनों पक्ष मानते हैं।

तब राजा जैन हो गया।

इन अवतरणोंका विश्लेषण करनेपर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि अपभ्रंश कवियोंने न तो बाणभट्टकी तरह दार्शनिक सम्प्रदायोंकी लम्बी-चौड़ी सूची दी है और न सोमदेवकी तरह अधिक दार्शनिक खण्डन-मण्डन किया। शुष्क दार्शनिक चर्चा इन्हें अधिक पसन्द नहीं। स्वयंभूने केवल चार ही सम्प्रदायोंका श्लेषमें उल्लेख किया है, क्षणिकवादका भी खण्डन वह बहुत थोड़ेमें ही करते हैं। पुष्पदन्तने चार्वाक, मीमांसा, मायावाद और क्षणिकवादकी चर्चा की है। इसका मुख्य कारण इन विचारधाराओंका जैन-साधनासे सीधा टकराना था। जैन दर्शनमें मोक्ष चरम पुरुषार्थ है। वह जीवके अस्तित्वको माने बिना सम्भव नहीं। उसे क्षणिक और नित्य भी होना चाहिए। फिर वह अहिंसक साधनासे ही ऐसा कर सकता है, उक्त खण्डन-मण्डन इसी बातको लक्ष्यमें रखकर है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी इस युगमें वेदान्त और मीमांसा ही दर्शन क्षेत्रमें प्रधान थे। चार्वाक-का विरोध कुछ रूढ़ है। कुमारिल भट्ट इसी युगमें हुए और वैदिक क्रिया-काण्डका जैन साधनासे सीधा विरोध था, अतः उसके प्रति उग्र विचार है, वेदान्त और जैन दर्शनमें कई बातें समान हैं। पर मायाके आधारपर संसारको झूठा मानना इन्हें स्वीकार्य नहीं, वेदान्तकी ब्रह्म-कल्पनासे भी इनका विरोध है।

इस दार्शनिक विवेचनके अतिरिक्त जीव, हिंसा, ईश्वर-कर्तृत्व और ब्राह्मणवादका विरोध भी ये कवि करते हैं। पर धार्मिक दृष्टिसे, सामा-जिक दृष्टिसे नहीं। १०वीं सदीमें यद्यपि वैदिक यज्ञोंकी प्रथा नहीं थी, अधिकतर स्मार्त धर्मका प्रचार था, राज्यके स्मार्त आचारके लिए ब्राह्मणों-

को दान दिया जाता था[1]। प्रसिद्ध मुसलिम इतिहासलेखक अलबरुनीको भी यही बताया गया था कि अब पुराने यज्ञ नहीं होते (य० ति० इं० कं० पृ० ३०७) । अश्वमेधकी जो पुनरावृत्ति गुप्त युगमें हुई थी, उसका अन्त उनके युगके साथ ही हो गया था। फिर भी एकदम लुप्त नहीं हुए थे (देखो युग और स्रोत)। सातवीं सदीमें देवी उपासना देशके कई भागों-में कई रूपोंमें अधिक प्रचलित थी। डॉ० हान्दिकीने अपने ग्रन्थमें इसका सप्रमाण विस्तृत विवेचन किया है (य० ति० इं० क० ३९२) । भारत ही नहीं बृहत्तर भारतमें भी इसका प्रचार था। इस उपासनाका हिंसासे घनिष्ठ सम्बन्ध था। वाममार्गी कौल और कापालिक जीवहिंसा ही नहीं नरबलि भी देते थे। इसलिए इसका विरोध आवश्यक हो गया। महापुराण (२, ६९) में नारद-पर्वतक आख्यानमें यज्ञकी व्यर्थता सिद्ध की गयी है। जसहर चरिउका पूरा कथानक हिंसा और वैदिक क्रियाकाण्डके विरोधसे भरा है। शिव और ब्राह्मणोंपर आक्षेपका कारण भी यही जीवहिंसा है। जैसे–

हा, हा ब्राह्मण हिंसा कराते हैं। राजाओंको यह राजवृत्ति उन्होंने सिखायी। श्राद्धपक्षमें यह स्पष्ट देखा जाता है कि ब्राह्मण मांस खाते हैं। दूधसे धोनेपर भी ईंट कभी सफ़ेद नहीं हो सकती। (म० पु० १, १०५)।

यदि 'पशु' होमनेके बाद स्वर्ग जाता है तो अपने-आपको क्यों नहीं होमते—

पसु सग्ग गंच्छति दीसंति सकयत्थ।
तो अप्पयं तत्थ होमेवि मंतेहिं।
सहु पुत्त कंतेहिं गमिज्जइ सग्गु।
भुंजिज्जइ भोग्गु।

(म० पु० २, ३८)

इन्हें हिंसाप्रिय देव भी मान्य नहीं; वे शिवका विद्रूप चित्रण करते हैं–

सरुहरकंतं पयाडय दंतं कंकालं
हत्थे सूलं खंडकवालं करवालं।

---

१. वैदिका अप्याचारा राजसूयाश्च मेधा दया समुच्छिद्यमाना दृश्यते, यत इदानीं नानुष्ठीयन्ते, पूर्वं चतुष्पादधर्ममासीत् सम्प्रति जीयते यशे दानै-क्यात्' (न्या० मु० अध्या० २) ।

काटहि खाला किंकिणी माला झणझणिया
पासे रामा मुद्धा रामा घणघणिया।
मह रावाणं मिठ्ठं खाणं मृग मासं
दाढाचंडं कुद्धे ताडं जणतासं।

(म० पु० २, १०२)

इनका यह दृढ़ विश्वास है—

इय लोयहो परलोयहो जीवहिंस भयगारी

(णा० कु० च० ३३)

वैदिक धर्मके विरोधका कारण भी उसमें हिंसाका समर्थन होना ही है।

ब्राह्मणवाद—आलोच्य साहित्यमे ब्राह्मणोंकी जो चर्चा है, उसका सम्बन्ध रिषभ जिनके युगसे नहीं कवियोंके युगसे है। इनका कहना है कि रिषभ जिनने ब्राह्मण वर्ग नहीं बनाया था, इसका निर्माण उनके युगमें भरतने किया। परशुरामके समयसे ब्राह्मण राजनीतिमें सक्रिय भाग लेने लगे, इससे वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा हुई, धरतीपर उनका अधिकार हो गया, वे व्यसन और विलासमे फँस गये। पितरोंके नामपर मांस खाते और सोमपान करते। चारों ओर यज्ञकी धूम मची थी। परशुरामके भवनके दरवाजोंमें राजाओंके कपाल कीलोंसे जड़े हुए थे। (म० पु० २,३३९)। ये कवि नहीं चाहते कि अध्यात्मवादी ब्राह्मण कामासक्त हों, जैसे—

कन्याको लेकर जो काममे रत है, जो धरती लेकर लोभमें फँसा है, जो 'गाय दो' कहा करता है, और उसके घीसे अपनेको पुष्ट करता है। जब ये ब्राह्मण खुद संसारमे आसक्त है तो इनसे दूसरोंके उद्धारकी आशा कैसे की जा सकती है। (म० पु० २,१४५)

यह होते हुए भी अन्तमें पुष्पदन्त कवि क्षोभके साथ कहता है—कलि-युगमे वर्ण संकर हो जायेगा। राजा-प्रजा और द्विजवर कोई भी शुद्ध नहीं रहेंगे। उनसे छह-सात सौ वर्ष बाद तुलसीदास भी कलियुगके वर्णनमे यही सब कहते हैं। इससे साफ़ है कि ये कवि न तो वर्ण-व्यवस्थाको मिटानेके पक्षमे है और न ब्राह्मणोंके। अगर वे जैन हो जायें, तो फिर इन्हे कोई विरोध नहीं, अतः यह विरोध सामाजिक क्रान्तिके रूपमे न होकर केवल परम्परागत है, ब्राह्मणके विरोधका एक कारण यह भी है कि ये दर्शन और धर्मके नेता थे। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि स्वयंभू

पुष्पदन्त भी ब्राह्मण ही थे। पुष्पदन्तने यह भी लिखा है कि रिसभ जिनने बहुत पहले ब्राह्मणोंके पतनकी घोषणा कर दी थी।

(म० पु० १, पृ० ३१२)

ईश्वरवाद—ईश्वर सृष्टिका कर्ता है। इसके विरोधमें ये कवि निम्नलिखित तर्क देते हैं—

१. नासमझ लोग यह मानते हैं कि परमात्माने संसारकी रचना की। यदि लोकमें उत्पन्न पृथ्वी आदि तत्त्व पहलेसे नहीं थे तो निराकार परमात्माने यह रूप कैसे निर्माण कर दिया। यदि विधाता अरूप है तो सृष्टि भी अरूप होती, या उसे सरूप होना चाहिए, क्योंकि दियासे ही दिया जलता है।

२. ईश्वर धर्म, अर्थ, कामसे रहित है अतः सृष्टि बनानेसे उसका कोई मतलब नहीं हो सकता।

३. वह इच्छाहीन है, इसलिए क्रिया नहीं करेगा।

४. उत्पाद्य और उत्पादकमें भिन्नता होती है, जैसे कुम्हार और उसके बनाये घड़ेमें। ईश्वर यदि सृष्टि बनाता है तो वह भी अलग हुआ उससे, फिर वह एक कैसे रहा?

५. यदि परमात्मा निमित्त कारण है, तो उसका निमित्त कारण क्या है?

६. परमात्मा नित्य है, उसमें परिणमन नहीं हो सकता।

७. माना जाये कि क्रीड़ाके लिए वह सृष्टि बनाता है, और अन्तमें सबको निष्क्रिय बनाकर अपनेमें लीन कर लेता है तो क्या इसमें वह लिप्त नहीं होता होगा और फिर पुरदाह शत्रुवध आदि क्या भले काम माने जा सकते हैं।

८, यदि उसने जान-बूझकर यह सृष्टि बनायी तो दानव क्यों बनाये।

(म० पु० २,३१७)

जैन धर्म

लोकजीवनमे किसी भी धर्मके दो रूप होते है। पहला व्यावहारिक और दूसरा आध्यात्मिक। आलोच्य साहित्यमे जैन धर्मके दो रूप मिलते हैं। ये कवि प्रायः धर्म-वर्णनकी तीन-चार शैलियाँ अपनाते है।

१. महावस्तु निर्देश जैसे—म० पु० की ११वीं सन्धिमें पुष्पदन्तने महा-

वस्तु निर्देश किया है। इससे उनका तात्पर्य जैन दृष्टिकोणसे सृष्टि, तत्त्व ईश्वर आदि वस्तुओंका विवेचन करना है। इसी प्रकार 'वितंडा-पंडिय-पंडा विहंडणा' (पृ० ३२६-३५८) मे परमतका खण्डन करके वह स्वमतकी स्थापना करता है।

२. ग्रन्थके अन्तमें नायक मुनिसे धर्म सुनता है। उसमें भी धार्मिक और दार्शनिक विवेचन आ जाता है।

३. आहारके अनन्तर या किसी दुःखी श्रावकको समझानेके लिए धर्मोपदेश करता है।

४. अन्य मतका व्यक्ति जैन साधुसे वाद-विवाद करता है।

५, भवान्तरोंके वर्णनमें सिद्धान्तवर्णनकी बात छिड़ जाती है।

६. कवि स्वयं ग्रन्थके प्रारम्भमें पूर्ण परम्पराका उल्लेख कर देता है।

सामान्य तौरसे अपभ्रंश काव्यको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युगमें धर्मके बाह्यरूप और भक्तिका अधिक महत्त्व समझा जा रहा था। देव, शास्त्र और गुरुमें अधिक आस्था थी। उपदेशके अतिरिक्त, कलात्मक और साहित्यिक प्रयत्नोंसे भी यह काम जारी था। दार्शनिक प्रयत्नोंसे भी यह काम जारी था। दार्शनिक खण्डन-मण्डनकी भी प्रवृत्ति अधिक थी। पर यह बहुत कुछ रूढ़ था। शैवों और पशुबलिके प्रति ही इनका सच्चा और उग्र विरोध था। इसका कारण भी था।[1] दक्खिनमें लिखे हुए ग्रन्थोंमे यह बात विशेष रूपसे लक्षित होती है। उत्तरभारतके लेखकोंमें धर्मके साधारण रूपकी व्याख्या है।

व्यावहारिक धर्मके भी दो भेद हो सकते हैं—१. साधारण, २. वैधानिक। साधारण धर्ममें मानवी सदाचारकी वे बातें आती हैं जिनका किसी भी मतसे विरोध नहीं होता और सभी धर्म इनका पालन आवश्यक समझते हैं, पर शायद ही कोई उनका पालन करता हो। जैसे दूसरेके दोषोंको क्षमा कर देना, इच्छाका निरोध करना, गुणी व्यक्तिमें आस्था, दुर्गुणोंसे विरक्ति, जीवोंके प्रति करुणाभाव, ये पाँच गुण जिसमे हों, दुनियामें उससे बढ़कर दूसरा नहीं। (म० पु० ३, पृ० १४)

सत्य सबसे महान् है और जयशील भी। दशरथ कहते हैं कि सचसे ही आसमानमें सूरज तपता है, सचसे ही समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता,

---

१. शिव बनाम जिन।

सत्यसे ही हवा बहती है, सत्यसे ही धरती सब कुछ सह लेती है (प० च० २, १५)। यहाँ सत्यका अर्थ सार्वभौम नियम है।

धर्मघोष मुनिकी ये बातें सदाचारकी ही बातें कही जायेंगी।

वही धर्म श्रेष्ठ है जहाँ जीवकी रक्षा हो, नियमोंका पालन हो, सत्य बात हो, माया न हो, दूसरोंकी चीज़ोंका हरण न किया जाये, दूसरोंको पीड़ा न पहुँचायी जाये, पर स्त्रीप्रसंग और चरित्रभंग न हो, इच्छा सीमित हो, रात्रिभोजन न हो, क्रोध, मान, माया और लोभ न हो। मद्य, मांस और मधु सेवन न हो। (प० सि० च०, पृ० ६)

इनमें एक-दो बातोंको छोड़कर शेष बातें सार्वजनिक सदाचारकी अंग हैं।

वैधानिकधर्म वह है जिसमें धार्मिक विधि-विधान और क़ायदे-क़ानूनों-की क़वायद की जाती है। इस दृष्टिसे जैन धर्मके दो रूप हैं। मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म। चूँकि यह साहित्य श्रावकोंको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया है इसलिए गृहस्थ धर्मका ही अधिक वर्णन है। यह धर्मोपदेश भी या तो भयमूलक है या फिर प्रलोभनमूलक।

रामके वनवास जानेपर भरत भी जब पिताके साथ दीक्षाके लिए तत्पर हो गये तो दशरथ उन्हें यह समझाते हैं—अरे तुम परमरम्य गृहस्थाश्रमका पालन करो, इसके समान दूसरा धर्म नहीं है। जैन मुनियों-को चार प्रकारका दान देना, जिन-पूजा करना, महोपवास करना, जिन-वन्दना न भूलना, आतिथ्य-सत्कार करना, अन्तिम समय समाधिमरण धारण करना, यही सब धर्मोंका परम धर्म गृहस्थधर्म है (प० च० २, १३)। यही उपदेश कुलभूषण देशभूषण मुनि बहुत विस्तारसे रामको देते हैं। उसमें महाव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों आदिका उल्लेख है (प० च० २, १०१ से १०८)। उपवास और रात्रि-भोजनके त्यागका महत्त्व सबसे अधिक बताया गया है। एक जगह तो यहाँतक उल्लेख है कि जो रात्रि-भोजन करता है वह क्या नहीं करता ? वह नाना योनियोंमे भटकता है। मद्य, मांस, मधुका सेवन कर लेना अच्छा पर रातमे खाना ठीक नहीं। (प० च० १०४)

उपवासका तो इतना मोहक वर्णन है कि उसे स्वर्गका सीधा टिकिट समझिए। जितने उपवास उतने स्वर्ग। एक उपवाससे एक स्वर्ग, दो

उपवाससे दो, इसी तरह आगे भी, दानोंमें, आहारदानका सबसे बड़ा महत्त्व है। (कर० च० पृ० १०१)

जिनपूजा—जिनभक्ति धर्मका प्रथम और महत्त्वपूर्ण अंग थी। जिनमन्दिरोंके विशेष वर्णनमें यह बात दिखायी गयी है कि उस युगमें जिन-अभिषेक और पूजाका कितना महत्त्व था। चरित-काव्योंके सभी नायक बहुत ठाठ-बाटसे जिनभक्ति करते हैं। कुमार भविसने तिलक द्वीपमें धूम-धामसे जिनपूजा की थी। करकण्डु तो दक्षिणकी अपनी विजय-यात्रामें यही सब करता है। भरतने कैलास पर्वतपर जिन-मन्दिर बनवाये थे। वनयात्रामें रामको न जाने कितने जिन-मन्दिर मिले। रावण भी जिन-भक्त था। एक बार वह नर्मदा नदीके किनारेपर बालूकी वेदीपर रत्नोंकी जिनप्रतिमा रखकर पूजा कर रहा था। ऊपरसे बाढ़ आ गयी। इस युगमें बालूके शिवलिंग बनाकर पूजनेकी आम प्रथा थी। (हृ० सां० अ०, पृ० १९)। शायद इसीपर-से कवि स्वयंभूको बालूकी वेदीकी कल्पना सूझी (प० च० २, पृ० ११९), क्योंकि रावण छोटा-सा सिंहासन भी अपने साथ रख सकता था। जिन-मन्दिर बनवाना उसमें जिनबिम्ब प्रतिष्ठित करना भी जिनभक्तिके अंग थे। आलोच्य साहित्यमें जिन-मन्दिरोंका समृद्ध वर्णन है। इस युगमें मन्दिर स्थापत्यकलाका महत्त्व था भी।[1] अयोध्यासे निकलते ही रामको सिद्धकूट जिनभवन मिला था। उसके दरवाजे और परकोटा चमक रहे थे। वह पोथियों और ग्रन्थोंसे भरा था (प० च० २, १९)। इन मन्दिरोंका उपयोग, लौकिक कार्योंके लिए भी होता था, जैसे भविसने तिलकद्वीपके एक चन्द्रप्रभु मन्दिरमें विवाह किया था। रामने रामपुरीके नवनिर्मित मन्दिरमें बैठकर दान किया था। वह अनन्तवीर्यको पकड़कर, जिन-मन्दिरमें लाये थे। इन मन्दिरोंमें यक्ष और यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ भी थीं (म० पु० २, ३६१)। वेश्या नृत्य और रासो वगैरह भी मन्दिरोंमें होते थे। चर्चरी और उपदेश रसायन रासमें इनका निषेध तभी किया गया। इन मन्दिरोंके दर्शनार्थ वार्षिक मेले भी लगते थे। प्रह्लादराज अंजनाके लिए वर खोजनेके लिए नन्दीश्वरके मेलेमें गया था। इन मन्दिरोंकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि ये साहित्य-साधना और ग्रन्थसुरक्षाके महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। अधिकांश साहित्य इन्हींमें लिखा गया और सुरक्षित भी इन्हींमें रहा।

---

१. देखो युग और स्रोत।

व्रतोंका उद्यापन भी इन मन्दिरोंमें उत्सवके साथ सम्पन्न होता था। कमलाने अपना व्रतानुष्ठान पूरा होनेपर चतुर्विध संघको भोजन भी कराया था। (भवि० क० ८३)

पंचकल्याण प्रतिष्ठा का सम्बन्ध भी जिनभक्ति और जिन धर्मकी प्रभावनासे है। (करकंड चरिउ) की रचनाकी मूल प्रेरणा ही जिन-बिम्ब प्रतिष्ठा है (पृ० १०१)। आलोच्य साहित्यमें दानके महत्त्वका जो बार-बार उल्लेख है वह व्यर्थ नहीं है। क्योंकि इन मन्दिरोंके व्ययसाध्य पूजा-विधानके लिए धनकी बहुत आवश्यकता थी। पंचकल्याण प्रतिष्ठा उससे भी अधिक व्ययपूर्ण थी। इस सम्बन्धमे डॉ० आल्टेकरने ठीक ही कहा है। 'राष्ट्रकूट युगके जिनमन्दिर तो बहुत कुछ अंशोंमें वैदिक मन्दिर कलाकी प्रतिलिपि थे। भगवान् महावीरकी पूजाविधि वैसी ही व्यय-साध्य तथा विलासमय हो गयी थी जैसे विष्णु तथा शिवकी। जैन-शिलालेखोंमें अंगभोग, रंगभोग आदिके लिए दान देनेके उल्लेख मिलते हैं जैसा कि वैदिक देवताओंके लिए प्रचलन था।[1]

अन्यविश्वास—लौकिक सिद्धियोंके लिए अन्य देवी-देवताओंकी उपासना भी इस युगमें थी। ये देवी-देवता अहिंसक ही थे। वृक्षपूजा और पाषाणपूजा धार्मिक दृष्टिसे जैनोंमे वर्जित है। पर अक्षय वृक्षकी भक्ति या कोटिशिलाकी पूजा इन्हींके सुधरे हुए रूप हैं। इसके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि इनपर या इनके नीचे बैठकर तीर्थंकरोंने तप किया, मोक्ष प्राप्त किया था।

भूत-पिशाचमें विश्वास था ही। दार्शनिक दृष्टिसे जैन धर्म चाहे जितना आध्यात्मिक हो, परन्तु सामाजिक दृष्टिसे इस युगके धर्माचरणका लक्ष्य लौकिक अभ्युदय ही था। स्वयंभू कहते हैं—[2] धर्मसे स्वर्गभोग, सौभाग्य मिलते हैं, पापसे मरण, वियोग और आक्रन्दन। धर्मसे सोनेका बना बढ़िया पलंग और पापसे घास-फूसका बिछौना। धर्मसे सुन्दर सुहावना शरीर, पापसे पंगु, बहरा और अन्धा शरीर (प० च० ६५)।

भयमूलक उपदेशके उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि जरा-जरा-सी भूलसे जन्म-जन्मान्तर तक मिलनेवाली यातनाओंके रोमांचकारी वर्णनसे यह साहित्य भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त यन्त्र-मन्त्रमें विश्वास,

---

१. अनेकान्त १९५४ किरण ६।

णमोकार मन्त्रका प्रभाव, दूसरोंकी पौराणिक कल्पनाओंका उपहास भी इसमें है ही। परन्तु बहुत-सी ऐसी ही अतिरंजित कल्पनाएँ इस साहित्यमें मिल जायेंगी। वस्तुतः उस युगमें किसी बातके सत्य होनेका उतना महत्त्व नहीं था जितना इस बातका कि वह अपने मतकी है या नहीं।

साहित्यिक उद्देश्य—यह सब होते हुए भी ये कथाकार धार्मिक भावनाका उपयोग अपने पात्रोंके चरित्रमें नैतिक क्रान्ति लानेके लिए करते हैं। मनुष्य जानता है कि वह बुराई कर रहा है। फिर भी परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न मानसिक अवस्था उसे वैसा करनेके लिए विवश कर देती है। अपभ्रंश चरित लेखक यह अच्छी तरह जानता है। इसलिए उसका उद्देश्य उन परिस्थितियोंको क्षणभंगुर और घृणित बताकर मानव मनको बदल देना है। रावणके अन्तर्द्वन्द्वके चित्रणमें यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूपसे लक्षित होता है (प० च० पृ० २७३)। ये लेखक आत्माका इस परिस्थितिसे उद्धार चाहते हैं, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि आत्मा ही आत्माको तारता या मारता है।

आध्यात्मिक रूप—इस आडम्बरपूर्ण धर्मके साथ आध्यात्मिक धर्मकी भी क्षीण धारा बह रही थी। वह क्षीण थी, पर थी उग्र। इस धाराके मुख्य प्रवर्तक थे अपभ्रंश मुक्तक कवि। बात असलमें यह थी कि गुप्त नरेशोंके स्वर्णयुगकी चमक, आध्यात्मिक जीवनपर भी काफ़ी पड़ी थी। गुप्तराजा शैव थे या भागवत, पर थे भक्त। उनकी भक्ति-भावनाका अलंकरण उस युगकी विविध कलाकृतियों और विशाल मन्दिरोंके रूपमें देखा जा सकता है। उत्तर गुप्तयुगमें भी यह प्रक्रिया जारी रही। राज्य और मालदार भक्त जनतासे इन मन्दिरोंको खासी आय थी। सम्राट् हर्ष-द्वारा एक हज़ार गाँव दिये जानेका उल्लेख है (एन्सिएण्ट इण्डिया पृ० २००) जैन साधुओंको भी गाँव और भूमि दानमें दी जाती थी। कभी-कभी ये मुनि मठाधीशोंकी तरह स्वयं जीर्णोद्धार कराते और साधुओंको आहार देते थे। कुन्दकुन्दम्नायके साधु लोग भी इस प्रलोभनसे नहीं बचे थे (जै० सा० इ० पृ० ३६०)। यह सब विक्रमकी छठी सदीमें ही प्रारम्भ हो चुका था। आलोच्य साहित्यमें भी ऐसे उल्लेख हैं जिनसे पता चलता है कि जैन साधु भी गृहस्थोंकी रागपूर्ण बातोंमें दिलचस्पी लेते थे। जैनधर्मकी इस दुर्बलताको जिन क्रान्तिकारी अध्यात्मदर्शियोंने पहचान लिया था उनमें आचार्य कुन्दकुन्द प्रमुख थे। हम

अन्यत्र दिखा चुके हैं कि अपभ्रंश मुक्तक कवि उनकी विचारधारासे काफ़ी प्रभावित थे। इन कवियोंने खुलकर, इस आडम्बरका विरोध किया, सिद्ध कवियोंका स्वर कई बातोंमें इनसे मिलता-जुलता है। अपभ्रंश प्रबन्ध कवि, मूर्त्तिपूजाके समर्थक थे।

णउ तरुवरि ण पंक्ति ण सिलायलि।
वसइ देउ हिय-उल्लइ णिम्मलि।
जिणु जिणपडिबिंबु पाउ तूसइ णउ कुप्पइ।
इहएण मिसेण जीवें सुद्धि विढप्पइ।

(म० पु० ३, २०१)

उग्र अध्यात्मवादियोंकी विचारधाराका परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है।

■

उपसंहार और मूल्यांकन

ऐतिहासिक अनुक्रममें अपभ्रंश भारतीय आर्य भाषाकी प्राकृत अवस्थाकी अन्तिम भूमिका है। उसका पहला महत्त्व यह है कि वह मध्य-कालीन और आधुनिक चार सौ आर्य भाषाओंके बीच कड़ीका काम करती है। उसकी विरासत केवल भाषा तक ही सीमित नहीं वरन् मध्ययुगीन भारतीय साहित्यकी कतिपय विधाएँ भी उससे प्रभावित हैं। इस प्रकार अपभ्रंश एक ऐसा ऐतिहासिक सूत्र है जो हिन्दी साहित्य : और उसके समकालीन अन्य साहित्यों : और उनकी भाषाओंके अध्ययनमें पृष्ठभूमिका काम करता है। उसे खोना वस्तुत: ज्ञानकी दो महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओंको खो देना है। ये प्रक्रियाएँ हैं, १. ऐतिहासिक अनुक्रममें वस्तुका बोध, २. तुलनात्मक अध्ययन। तुलना केवल पूर्वापर सीमाओंमें ही नहीं होती, किन्तु दो समानान्तर सीमाओंमे भी सम्भव है, पर यह तभी हो सकता है जब उन समानान्तर सीमाओंका एक सामान्य आधार खोज लिया जाये।

जहाँतक एक भाषाके रूपमें अपभ्रंशका सम्बन्ध है, उसकी विकास-प्रक्रियामे वे ही तत्त्व और प्रभाव काम करते हैं जो किसी भी भाषाकी विकासशीलतामे पाये जाते हैं। भाषागत दृष्टिकोणसे अपभ्रंशकी दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाको संयोगा-वस्थासे वियोगावस्था तक पहुँचनेमें माध्यमका काम करती है। भारतीय आर्य भाषा एकसे अनेक कैसे बनी, इसकी सही व्याख्याका सूत्र अपभ्रंशके हाथमें है।

लेकिन इतने ऐतिहासिक योगदानके बाद भी, यह भाषा और इसका साहित्य उपेक्षित ही रहा। उपेक्षित भी ऐसा कि उसके अस्तित्वमे सन्देह किया जाने लगा। मेरे विचारसे इस विरोधाभासका मुख्य कारण भारतीय स्वभाव ही है। दूसरे लोकभाषाओंको उच्चचिन्तन और अभिव्यक्तिमें उपयुक्त नहीं समझा गया। अपने अध्ययनके साक्ष्यपर, और उपलब्ध तथ्योंके हवालेसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि अपभ्रंश अपनी ऐतिहासिक परिणतिमे प्राकृतोंका ही परवर्ती विकास था। उसका साहित्यिक रूप प्राकृतपनसे बहुत-कुछ अनुप्राणित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी विशेषताएँ भी है जो अपभ्रंशके व्यक्तित्वको प्राकृतोंसे जुदा करती हैं। व्याकरणकी

दृष्टिसे अपभ्रंश अपना एक निश्चित व्यक्तित्व लेकर आयी। प्राकृतपनसे आच्छन्न होनेपर भी अपभ्रंशकी अपनी आकृति है, रूपात्मक अस्तित्व है, जो उसे प्राकृतसे अलग करता है। सच तो यह है कि कोई भाषा, किसी दूसरी भाषाके सहारे अपना निर्माण नहीं करती। वह स्वयं विकसित होती है किसी क्षेत्रीय सीमामें। इसमें सन्देह नहीं कि अपभ्रंश भारतकी पश्चिमी सीमाओंमें अधिक विकसित हुई। इसके बहुत-से क्षेत्रीय और सामाजिक कारण थे। पण्डितोंने अपनी तुलनामें अपभ्रंशको निय-प्राकृतके बहुत नजदीक पाया है। निय-प्राकृत प्राकृतोंका सबसे परवर्ती विकास है। वैसे तो अपभ्रंशकी कुछ विशेषताओंको अशोकके शिलालेखोंकी भाषामें खोज सकते हैं; पर सर ओरेल स्टाइनको चीन तुर्किस्तानमें जो पत्र मिले हैं, वे निय-प्राकृतकी अमूल्य धरोहर हैं। ये खोतान (प्राचीन नाम चण्डोल) में तीसरी सदीमें लिखे गये। पर उपलब्ध सामग्रियोंके आधारपर कहना कठिन है कि ये विशेषताएँ, किसपर किसका प्रभाव मानी जायें, निय-प्राकृतका अपभ्रंशपर या अपभ्रंशका निय-प्राकृतपर।

अपभ्रंशसे जिस भाषाका बोध होता है, वह अपने उद्गमन कालमें पश्चिमी भारतकी एक बोली थी। भरतमुनिने इसे आभीरी कहा है, और इसकी प्रकृति उकारान्त बतलायी है। सबसे पहले इस आभीरीका अपभ्रंश नामसे सम्बन्ध, संस्कृत समीक्षक, दण्डीने जोड़ा। इसके पहले, अपभ्रंश शब्दका उल्लेख पतंजलिके भाष्यमें मिलता है। परन्तु वहाँ उसका प्रयोग संस्कृतसे भिन्न शब्द है। आचार्य दण्डीने साहित्यके सन्दर्भमें उस साहित्यके लिए अपभ्रंश साहित्य कहा है जो प्राकृतसे भिन्न होते हुए भी, उसके समानान्तर ही विकसित हो रहा था। उसके बाद, विभिन्न सन्दर्भोंमें अपभ्रंश शब्दकी भाषा और साहित्यके लिए पुनरावृत्ति हुई है। ये उल्लेख बताते हैं कि अपभ्रंश ईसवी छठी सदीसे बारहवीं तक साहित्यकी भाषा रही है। इतिहासमें यह युग, राजपूत युग है। राजपूतोंकी हलचलसे अपभ्रंशका समकालीन सम्बन्ध है, इतना ही नहीं, आलोच्य साहित्यमें राजपूतोंका जातीय संस्कार और चेतनाकी झलक मिलती है। जिस प्रकार आर्य-अनार्य संगमसे संस्कृत अपने परिष्कृत रूपमें आयी और बुद्ध एवं महावीरकी धार्मिक क्रान्तियोंसे पालि और प्राकृतें उठ खड़ी हुईं, उसी प्रकार, अपभ्रंश भी गुप्तोत्तरकालीन राजनैतिक उथल-पुथलमें महत्त्व पा गयी। उसके बाद प्रादेशिक आधारपर भाषाका विकास होता है। पर उनका केन्द्रीय आधार अपभ्रंश ही है। मराठी, गुजराती और हिन्दीकी

तुलनात्मक समीक्षा, अपभ्रंशको केन्द्रमें ही रखकर की जा सकती है। एक प्रश्न अपभ्रंशके नामको लेकर उठता है। कुछ उसे प्राकृत कहते हैं और कुछ हिन्दी। परन्तु उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्वको देखते हुए, उसे अपभ्रंश कहना ही अधिक उचित है। पिछले १४०० वर्षोंसे जो नाम चला आ रहा है उसे बदलनेका कोई कारण भी नहीं है। स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे, चोटीके अपभ्रंश कवियोंने भी इसे अपभ्रंश नाम दिया है। १२वीं सदीसे १४वीं सदीतक, अवहट्टका युग है, इससे ४०० वर्ष पहले, उन बोलियोंका उद्गम प्रारम्भ हो चुका था, जिन्हें अपभ्रंशकी तुलनामें देशी कहा जाता था। अपभ्रंश भी कभी देशी थी पर अब वह एक साहित्यिक भाषा थी। उक्त बोलियोंके मिश्रणसे अपभ्रंशके जो परवर्ती प्रादेशिक रूप विकसित हुए, उनकी गिनती अवहट्टमें होनी चाहिए। हिन्दी साहित्यके आदिकालमें जिस साहित्यका उल्लेख किया जाता है वह या तो अपभ्रंशका साहित्य है या फिर अवहट्टका। जिस अर्थमें हिन्दीको हम लेते हैं उसका और उसकी बोलियोंका साहित्य १४वीं सदीके बादसे प्रारम्भ होता है। हिन्दी साहित्यके निर्माता इतिहासके विभाजनमें भाषाके स्वरूपपर अधिक ध्यान नहीं देते जान पड़ते। या फिर परम्पराके अनुरोधसे वे ऐसा करते हैं। लेकिन हिन्दीकी व्यापकता या अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंसे उसकी सम्बद्धता अपभ्रंशके आधारपर ही स्थापित की जा सकती है। अपभ्रंशके व्याकरणका विचार प्राकृतोंके सन्दर्भमें ही तुला हुआ है। फलस्वरूप या तो उसे प्राकृतिक नियमोंसे सिद्ध किया गया या फिर विशेष कामोंके निर्देश कर, शेष रूपों और प्रक्रियाओंको देशी खातेमें डाल दिया गया। प्राकृत वैयाकरणोंकी दूसरी कमी यह है कि उन्होंने साहित्यिक प्राकृतोंका ही विचार किया है। प्राकृत और अपभ्रंशके व्याकरणिक विश्लेषणमें सबसे बड़ी बाधा यह धारणा थी कि 'संस्कृतं प्रकृतिः तत आगतं प्राकृतम्' इसके अनुसार लोकभाषाओंकी प्रकृतिको संस्कृतकी प्रकृतिके आधारपर सिद्ध किया जाता रहा। प्राकृतिक वैयाकरणोंमें दो सम्प्रदाय हो गये, पहला पश्चिमी सम्प्रदाय और दूसरा पूर्वी सम्प्रदाय। प्राकृतके विभाजनकी भाँति अपभ्रंशके विभाजनमें कोई निश्चित नियम या सिद्धान्त नहीं अपनाया गया। पर यह कहा जा सकता है कि देशविशेषके आधारसे, अपभ्रंशमें भेद-प्रभेद करनेकी, एक सामान्य प्रवृत्ति रही। प्राकृत अपभ्रंश शब्दोंकी निष्पत्ति, बहुत बार संस्कृतिकी साध्यमान प्रकृतिसे की जाती है। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष

ध्यान देने योग्य हैं।

संस्कृतके बाद, प्राकृतका अनुशासन ही क्रमप्राप्त है। उस प्राकृतका जो अपनी सिद्ध या साध्यमान प्रकृतिके लिए संस्कृतयोनिजा है।

कुछ अपवादोंको छोड़कर संज्ञा और कारक, प्राकृत अपभ्रंशमें लगभग समान हैं।

लक्षणसिद्ध प्राकृत और देशी एक बात नहीं।

अपभ्रंश वैयाकरणोंमें पहले हेमचन्द्र हैं दूसरे त्रिविक्रम। त्रिविक्रमने पूरी तरह हेमचन्द्रके व्याकरणका अनुकरण किया है। फिर भी उनके व्याकरणका महत्त्व इसलिए है कि उसने १५००० के लगभग देशी शब्दों-का संग्रह दिया है। यद्यपि यह संग्रह किसी सिद्धान्तपर आधारित नहीं है फिर भी संग्रहके बहुत-से शब्द महत्त्वके हैं और तुलनात्मक अध्ययनमें बड़े कामके हैं।

जहाँतक आलोच्य भाषाके व्याकरणका सम्बन्ध है उसके स्वर और व्यंजन प्राकृत, विशेषतया शौरसेनी प्राकृतके समान हैं। फिर भी कुछ व्यंजनोंके प्रयोगमें अपभ्रंश स्वतन्त्र है। और उसमें प्रायः सभी प्राकृतोंकी विशेषताएँ मिल जाती हैं। प्राकृतोंके व्याकरणकी तुलनामें अपभ्रंशका व्याकरण सरल है। यह व्यापकता उसके विस्तृत क्षेत्रको बताती है। शब्दरूपोंमें, अपभ्रंश शब्दोंको अकारान्त बनानेकी प्रवृत्ति है। धातुरूपोंमें भी सरलता है। एक तो धातुओंके प्रयोगमें कमी है, दूसरे गण और लकार भी उतने नहीं जितने संस्कृतमें हैं। सामान्यभूतमें अपभ्रंशमें कृदन्तका ही प्रयोग होता है।

विभक्ति-प्रधान होते हुए भी, इसकी मूल प्रकृतिमें अधिक विचार नहीं होता। सम्प्रदान और सम्बन्धमें, विभक्तिके विकल्पमें परसर्गोंका प्रयोग है। पर ये परसर्ग शब्दरूप हैं, और उसमें पहले षष्ठी विभक्ति भी आती है। सम्बन्धतत्त्व बतानेके लिए दोहरे प्रत्ययोंका विधान भाषाकी विघटित स्थिति-का सूचक है। अव्यय, भाववाचक, लिंग, स्वार्थिक प्रत्यय, पूर्वकालिक क्रिया, क्रियार्थक क्रियाके क्षेत्रमें सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अपभ्रंश भाषासे प्रभावित हैं। क्रियाके प्रयोगमें इस भाषाका देशी तत्त्वके प्रति अत्यधिक झुकाव है; लोकभाषाकी पहचानके लिए यह बात विशेष महत्त्व रखती है। समर्थक समानार्थक सहायक क्रियाका प्रयोग है और सहायक क्रिया आती है तो कालका सम्बन्ध उससे होता है मुख्य क्रियासे नहीं। यह बात आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमें विशिष्ट रूपसे देखी जाती है।

अपभ्रंशकी अनुकरणात्मक धातुओंसे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंकी धातुओंका सीधा सम्बन्ध है।

अपभ्रंशकी सामान्य भूमिकापर, क्षेत्रीय आधारपर जिन आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंका विकास हुआ, उसके मुख्य कारण ये –

१. मुसलमानी शासनमें जनतामें एक ही प्रदेशमें सिमट रहनेकी प्रवृत्ति।

२. ध्वनियोंके उच्चारणमें स्थानीय प्रभावकी वृद्धि।

३. दरबारोंमें विदेशी भाषाकी प्रतिष्ठा।

४. संयोगावस्थासे वियोगावस्थाका विकास और उसके कारण रूपोंकी अनेकरूपताकी जगह एकरूपताकी ओर झुकाव।

आलोच्य साहित्य काफ़ी प्रकाशमें आ चुका है और अब यह प्रश्न ही नहीं उठता कि अपभ्रंश लोकभाषा थी या साहित्यकी कल्पित भाषा। स्वयंभू कविके वटवृक्षके रूपकसे यह भी सिद्ध होता है कि अपभ्रंश न केवल लोकमें प्रचलित थी वरन् उसकी शिक्षा भी दी जाती थी। वटवृक्षपर बैठे पक्षी जिन स्वरमिश्रित ध्वनियोंका उच्चारण कर रहे थे उनका सम्बन्ध बारहखड़ीसे है। बारहखड़ी, लोकभाषा सीखनेकी एक मात्र शैली है। संस्कृत सीखनेके लिए जो महत्त्व रूपावलिका है, लोकभाषा सीखनेके लिए वही बारहखड़ीका है। स्वयंभूके समय इस शैलीका विकास हो चुका था।

अपभ्रंशका साहित्य विविधताके मानसे सीमित है। यह एक विचित्र स्थिति है कि भारतीयोंकी काव्य-अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर धर्म तक सीमित होती है। यह पूर्ण रूपसे काव्यात्मक भाषा है। काव्यमें भी धर्मका पुट है। भाषाके रूपमें व्यापक होते हुए भी साहित्यमें उसका क्षेत्र संकुचित है। विविध ज्ञान-विज्ञानकी पुस्तकोंकी बात तो दूर पूरी तत्कालीन साहित्यिक विधाओंपर भी इसमें रचनाएँ नहीं है। गद्यका अभाव है। नाटक उसमें नहीं है। विधागत विविधता चाहे इस साहित्यमें न हो; पर प्रामाणिकतामें यह बेजोड़ है। वीरगाथा युगकी बहुत-सी सन्दिग्ध कृतियोंका असन्दिग्ध विश्लेषण भी, बहुत कुछ इसके आधारपर सम्भव है। आलोच्य साहित्यकी अधिकांश रचनाओंका स्वरूप और समय सुनिश्चित है। अपभ्रंश साहित्यके कवियोंके जीवनके विवरण भी थोड़े-बहुत उपलब्ध हैं। विस्तृत जानकारी तो उनकी नहीं मिलती, पर जो मिलती है उससे उनकी जीवन-रेखाओं, समय और साहित्यिक प्रेरणाओंके मूल स्रोतको जाना जा सकता है। सामान्य रूपसे यह बात सभी अपभ्रंश कवियोंके बारेमें सच है कि उनका जीवन एक प्रशस्त जीवन था। सामाजिक असंगतियों

और वैयक्तिक कुण्ठाओंसे उनका जीवन दूर था। सामान्यतया इन कवियों-की काव्य-रचनाका प्रेरणास्रोत धार्मिक है। इन्होंने निःसंकोच भावसे अपने उद्देश्यकी घोषणा की है। उनकी इस साहित्य-साधनाके मूलमें कोई क्रान्तिकारी स्वर था। अथवा वह शोषित पीड़ित जनताको ऊपर उठाना चाहते थे, कहना कठिन है। निश्चयके स्वरमें इतना ही कहा जा सकता है कि ये कवि आत्मवादी थे। भौतिक हीनतापर आत्माकी विजय, चित्तका संयम, जिनभक्तिकी निरन्तर उद्वेलित उड़ान, क्रान्तिकारी आध्यात्मिक चिन्तन इनकी विशेषताएँ थीं। पर उसका लक्ष्य व्यक्ति है समाज-का एक वर्ग नहीं। यह समस्या समाजके किसी भी स्तरपर सम्भव है। लोक-काव्य परम्परा और साहित्यिक परम्पराओंका इन कवियोंने अपनी रचनाओंमें सुन्दर समन्वय किया है। साहित्यकी लोक विधाओंको शास्त्रीय रूप देनेका प्रयास ये नहीं करते। उलटे ये तो शास्त्रीय शैलियोंको लोक-काव्यके साँचेमें ढालते हैं। लोक और साहित्यका इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनकी साहित्य-साधना, जीवनकी प्रौढ़ अनुभूतियों और विचारोंकी परिपक्वतापर आधारित है। ये कवि या तो प्रबन्ध-कवि हैं या फिर मुक्तक। प्रबन्ध-कवि मुख्य रूपसे प्रवृत्तिवादी और भक्त हैं। इसके विपरीत मुक्तक कवि लौकिक हैं या फिर उग्र अध्यात्मवादी। जहाँतक प्रबन्ध-काव्योंका सम्बन्ध है, यह धारा अपभ्रंशमें, पौराणिक काव्योंसे विकसित हुई। अपभ्रंश कवि चरित-काव्य और कथा-काव्यमें भेद नहीं करते। आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने काव्यानुशासनमें इस बातका समर्थन किया है। बहुत-सी प्रवृत्तियोंमें समानधर्मा होते हुए भी पुराण-काव्योंकी तुलनामें चरित-काव्योंमें अलौकिकताका संकोच, वस्तुविकासमें धारावाहिकता और निश्चित योजना, धार्मिकताकी जगह लौकिकताका पुट अधिक है। ये कवि शास्त्रीय और लौकिक दोनों उपादानोंसे अपने प्रबन्धको सँवारते हैं। विशेषरूपसे गीततत्त्व युक्त छन्दोंकी रचना और उक्तियोंमें यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। आलोच्य प्रबन्ध कृतियोंकी धार्मिक-भावनामें जिनभक्ति और शिवभक्तिका आपसी विरोध और समन्वय एक अनूठी विशेषता है। खण्ड-काव्योंकी परम्परा अवश्य रही होगी, पर उसके नमूने कम मिले हैं। केवल सन्देशरासक हमारे सम्मुख है। डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदीने बहुत पहले इसे गीतकाव्य कहा था, अब वे उसे क्षीण प्रबन्ध-धर्मा काव्य मानते हैं। शब्दकी इस नयी सृष्टिके मूलमें वस्तुतः अनिश्चयता ही है। गेय कवितामें भक्ति और उग्र अध्यात्म है। दोहा कोशोंमें

भी यही बात है। चाहे वे सिद्ध दोहाकार हों, या जैन दोहाकार, दो-तीन बातोंको लेकर इनमें असाधारण समानता मिलती है। ये समानताएँ हैं—१. बाह्यसाधनाका विरोध, २. कोरे शास्त्रीय ज्ञानकी निःसारता, ३. अनुभूतिकी सर्वश्रेष्ठता। सिद्धोंने साधनात्मक शैलीको अपनाया है, जब कि जैनोंने भावात्मक। कहीं-कहीं इन्होंने सिद्धोंके पारिभाषिक शब्दोंमें भी अपनी अनुभूति व्यक्त की है।

इस प्रकार धार्मिकताकी सीमामें रहते हुए भी इन कवियोंमें सामाजिक तत्त्व और आध्यात्मिक उदारताका भाव प्रतिष्ठित दिखाई देता है। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्य विवरणोंकी दृष्टिसे काफ़ी समृद्ध हैं। विवरणोंकी शैली आलोच्य प्रबन्धोंमें वर्णनात्मक न होकर विवरणात्मक है। सांस्कृतिक दृष्टिसे विवाह, गोकुल, शबर बस्तियों, कृष्णलीला, स्वयंवर, जलक्रीड़ाका वर्णन, विशेष महत्त्व रखता है। जहाँतक रूप-चित्रणका सम्बन्ध है उसमें यह साहित्य किसीसे पीछे नहीं है। फिर भी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शास्त्रीय मर्यादाका सर्वथा परिपालन नहीं है। रूपचित्रणकी सभी शैलियोंके नमूने इसमें हैं। ये कवि जब प्रतिक्रियाके रूपमें किसीके रूपका चित्रण करते हैं तो वहाँ लोकभावना विशेष रूपसे उभर आती है। भावके अनुरूप रूप-चित्रणकी प्रवृत्ति, इनमें सबसे अधिक देखनेको मिलेगी। स्त्रियोंकी रूपात्मक प्रतिक्रियाका अंकन ये कवि विशेष मनोयोगसे करते हैं। पात्र-द्वारा भाव-व्यंजना तो इनमें है ही साथ ही, वस्तुव्यंजना भी है। यह नाटकोंकी कथोपकथन शैलीका ही प्रभाव माना जाना चाहिए। कुछ आलोचकोंने चरित-काव्य और कथा-काव्यमें भेद किया परन्तु मैंने तथ्योंसे प्रमाणित किया है कि अपभ्रंश प्रबन्धमें ऐसा कोई भेद नहीं है। नामकी भिन्नतासे इनके शिल्पमें कोई भिन्नता नहीं है। चरित-काव्योंका मूल स्वर कथा-काव्यका ही स्वर है। उनमें जब लौकिक व्यक्तिका चरित होता है तो ये ऐहिक काव्य कहलाते हैं, इन्हें तुलसीदासजीने प्राकृत काव्य माना है, रासो काव्य इसी परम्परामें आते हैं। इसके विपरीत किसी पौराणिक आख्यान या धार्मिक चरित्रको लेकर काव्यकी रचना होती है तो उसे आध्यात्मिक चरित-काव्य कहा जाता है। अधिकांश अपभ्रंश-चरित-काव्य, इसी परम्परामें आते हैं। संस्कृतमें भी प्रबन्ध-काव्योंकी दो विधाएँ प्रारम्भसे मिलती हैं। अश्वघोषका बुद्धचरित और कालिदासका रघुवंश। पहला एकचरित प्रधान है, दूसरा अनेक चरितनिष्ठ है। आगे चलकर संस्कृतमें दूसरी विधा अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। एक चरित-

काव्योंके प्रति भी संस्कृत कविका अधिक सम्मान नहीं दिखाई देता। उसके स्थानपर संस्कृतमें घटना या कार्यप्रधान काव्यधारा विशेष लोकप्रिय हुई। इसमें कथावस्तुकी योजनामें नाटकीय तत्त्वोंका विशेष उपयोग किया जाने लगा।

चरित-काव्योंकी तुलनामें पुराण-काव्योंकी कथावस्तु न तो सम्बद्ध होती है और न धाराबाहिक। उनमें कथाएँ इतनी बिखरी हुई होती हैं कि उसके कई काव्यात्मक भाग किये जा सकते हैं। इनका महत्त्व कथाके विकासमें उतना नहीं होता, जितना पुराण कहनेमें। अपने धार्मिक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए मानवचित्तके कुतूहलका मनोवैज्ञानिक उपयोग करनेमें ही इनका काव्य-कौशल निहित है। वस्तुतः पुराण-काव्य अनेक चरित्रोंके संग्रह ग्रन्थ हैं, उन्हें. अपभ्रंश कवि इसलिए निबद्ध करना चाहता है, क्योंकि वे धर्मके अनुशासन और आनन्दसे भरे हैं। मुख्य रूपसे दो प्रकारकी रुढ़ियाँ इनमें मिलती हैं। काव्य-सम्बन्धी रुढ़ियाँ, जैसे मंगलाचरण, ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य, आत्मलघुता, सज्जन-दुर्जन स्तुति या प्रार्थना (कथाके मध्यमें), आत्म-परिचय तथा वक्ता और श्रोता शैली। पौराणिक रुढ़ियाँ, जैसे सृष्टिका वर्णन, लोक-विभाजन, धर्म प्रतिपादन, दार्शनिक खण्डन-मण्डन, अलौकिक तथ्योंकी योजना, पूर्वभव-स्मरण और स्वप्न-दर्शन इत्यादि। चरित-काव्य अथवा कथा-काव्योंकी दो धाराएँ हैं—धार्मिक चरित-काव्य और रोमाण्टिक चरित-काव्य। अन्त दोनोंका लोकोत्तर महान् उद्देश्योंकी सिद्धि या साधनामें होता है। फिर भी रोमाण्टिक चरित-काव्योंमें धार्मिक काव्योंकी तुलनामे कल्पना और मानवी सम्बन्धोंकी उड़ान कुछ स्वच्छन्द होती है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी कथावस्तु अधिक संवेदनीय और सम्बद्ध होती है। इनकी सन्धियाँ, अपेक्षाकृत छोटी होती हैं, यद्यपि उनमें कड़वकोंकी संख्या निर्धारित करना कठिन है। धार्मिकताके साथ कथावस्तुमें सामाजिक समस्याओंका भी संस्पर्श है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने काव्योंके चरित-प्रधान और घटना-प्रधान, ये दो भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु अपभ्रंशमें समूचे काव्य चरित-प्रधान ही हैं। हिन्दीके रामचरित मानस और पद्मावत भी, चरित-काव्य ही हैं। आचार्य शुक्लने उन्हें घटना-प्रधान माना है। इनमें उन्होंने क्रमशः रावणवध और पद्मावतीके सती होनेको मुख्य कार्य माना है। परन्तु ये वस्तुतः मुख्य कार्य नहीं हो सकते और स्वयं कवियोंका भी यह अभिप्राय नहीं है। उनमें मुख्य लक्ष्य है राम-गुणगान और प्रेमकी पीरकी अभिव्यंजना! इन्हीं लक्ष्योंके अनुरूप समूची कथा नियोजित है। अतः वे भी चरित-काव्य हैं। आचार्य हेमचन्द्रके

शब्दानुशासनसे यह प्रमाणित है कि उस युगमें चरित-काव्यमें और कथा-काव्यमें कोई अन्तर नहीं था। इन काव्योंकी सबसे बड़ी विशेषता है, प्रबन्ध-की धारामें गीततत्त्वका समावेश। मंगलाचरण स्तुति और वन्दनाओंमें तो इसके लिए गुंजाइश प्रकृत्या थी। दूसरे गीततत्त्वकी कुछ विशेषताएँ, अपभ्रंश छन्दमें परिभाषाका काम करती हैं। भक्तिपरक गीतोंकी रचना इसमें सबसे अधिक है। यही कारण था कि संस्कृतमें भी अपभ्रंश छन्दोंका प्रभाव देखा जाता है। इसके अतिरिक्त, चारण या दूसरी पद्धतिके गीतों-का भी अस्तित्व है। कहीं-कहीं कृष्णपरक गीतोंका भी प्रचार था। डॉ० वैद्यके अनुसार, अपभ्रंश भाषाके धवलगीतोंको मराठीमें ढवलगीत कहते हैं। स्वयंभू और पुष्पदन्त नाना छन्दोंमें प्रयुक्त स्तुतिका भी उल्लेख करते हैं। आलोच्य काव्यमें इस प्रकारकी कृतियोंका समावेश होना चाहिए। रामकथा हमारे इतिहासकी एक महत्त्वपूर्ण कथा रही है। उद्गमकालसे रामकथापर काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस व्यापकता और लोकप्रियताके कारण उसके स्वरूपमें भिन्नता आना स्वभाविक थी। स्वयंभूकी रामकथा पुष्पदन्तकी रामकथासे एक दम भिन्न है। एकने विमलसूरिकी रामकथाका अनुकरण किया है जब कि दूसरेने आचार्य गुणभद्रकी। स्वयंभूकी रामकथा बहुत कुछ, आदि कविकी रामकथासे समानता रखती है। रामकथाकी विभिन्न धाराओंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भमें रामकथाका रूप बहुत छोटा था। उसमें प्रमुख पात्र और प्रमुख घटनाएँ ही थीं। वे लोकप्रिय और वास्तविक घटना थीं। बादमें साम्प्र-दायिक अनुरोधोंसे उनका विकास हुआ।

खण्ड-काव्यमें केवल सन्देशरासक ही उपलब्ध है। यह सुखान्त विप्रलम्भ रचना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसे पहले गीतकाव्य माना था, पर अब वे उसे क्षीण प्रबन्ध-धर्मा काव्य स्वीकार करते हैं। अभीतक मुक्तक काव्यको इतिवृत्तिविहीन माना जाता रहा है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। संस्कृत आलोचक राजशेखरने इसका विवेचन किया है। अपभ्रंशमें इतिवृत्तात्मक मुक्तकोंके काफ़ी उदाहरण उपलब्ध हैं। गीत मुक्तक आलोच्य साहित्यमें कथा-काव्योंके अन्तर्गत, गेयरूपमें स्वतन्त्र और पदोंके रूपमें उपलब्ध है। गेय मुक्तकोंके रूपमें जो रचनाएँ मिलती हैं उन्हें सामूहिक गीत-नृत्यात्मक कृतियाँ कहना अधिक संगत है। मुक्तक रूपमें दूसरा उदाहरण दोहा काव्य है। यह लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपमें उपलब्ध है। आध्यात्मिक धारामें

निवृत्तिमूलक – अर्थात् उग्र क्रान्तिकारी विचारधाराके लेखक हैं। ये उग्र अध्यात्मवादी, आध्यात्मिक साधनाके हर आडम्बरका तीव्र विरोध करते हैं। फिर चाहे वे अध्यात्मवादी जैन हों या सिद्ध। यह बात इसी युगमें नहीं, वरन हर युगके बारेमें सच है। प्रवृत्तिमूलक और कर्म-काण्डात्मक साधनाका विरोध हर युगमें हुआ है। बाह्य आडम्बरका विरोध आत्माकी स्वतन्त्रता, चित्तशुद्धि और करुणा, इनमें समान रूपसे मिलती है। इनकी तुलनामें प्रवृत्तिवादी लेखक मध्यममार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार धनका मूल धर्म है, और धर्मसे ही ऐहिक सुख मिलते हैं। ये शरीरकी सार्थकता उपवास और धर्मसाधनामें मानते हैं। ये मुख्य रूपसे इन बातोंपर बल देते हैं, (१) अनुरागका त्याग, (२) दर्शनकी मनो-भूमिमें धर्मका फल लगता है, (३) मनका संयम। परन्तु इनकी शैली जनसाधारणकी शैली है। कहीं-कहीं ये पारिभाषिक शब्दोंका भी प्रयोग करते हैं। ऐहिक दोहा काव्यमें मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं – शृंगार, वीर और नीति-धर्म। आध्यात्मिक दोहाकोशकी भाँति ऐहिक धारामें दोहाकोश-जैसी रचना, नहीं मिली। अभिव्यक्तिकी बेलाग उन्मुक्तता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनमें शास्त्रीयताका अभाव है। वे युग-मानसके यथार्थ भावको व्यक्त करते हैं। संक्षेपमें उग्र अध्यात्मवादियोंकी ये विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) ये बाह्य उपासना और पूजापाठके विरोधी हैं। (२) कोरा शास्त्रीयज्ञान, इनमें स्वीकार्य नहीं (३) अनु-भूतिपर अधिक बल देते हैं। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी कथावस्तुका महत्त्व-पूर्ण अंग है, विवरण। आलोच्य काव्यमें सभी तरहके विवरण विभिन्न शैलियोंमें निबद्ध मिलते हैं। इसमें प्रकृति वर्णन भी, वस्तु वर्णनका एक अंग है। दूसरा वस्तुवर्णन सामाजिक चित्रणसे सम्बन्ध रखता है। इसमें सबसे अधिक लोकप्रिय है देशवर्णन। यद्यपि यह परम्परामुक्त होता है। उसमें देशवर्णनके बाद नगर, ग्राम आदिका वर्णन होता है। गोकुल और शबर-बस्तियोंका वर्णन भी अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंके वस्तुवर्णनका आव-श्यक अंग है। गोकुलवर्णनमें रास, वाद्य, गोधन आदिका विस्तारसे उल्लेख होता है। इसके अतिरिक्त नाम गिनानेकी भी प्रथा इन काव्योंमें बहुत मिलती है। बाजारोंका भी ये विस्तारसे वर्णन करते हैं। विवाहके रोचक विवरणोंके लिए यह अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्य, विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। प्रायः सभी काव्योंमें विवाहोंकी सरसताका अंकन हुआ है। इस प्रसंगमें भोजन, बरात, वाद्य आदिका भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

पुत्रोत्कण्ठा, दोहद और गर्भावस्थाके लक्षणोंको आलोच्य काव्यमें प्रमुखता प्राप्त है। तीन प्रकारके स्वयंवरोंका वर्णन इस काव्यमें है। इनका वर्णन तत्कालीन युगका रोमाण्टिक चित्र खींच देते हैं। कभी-कभी कन्याको प्राप्त करनेके लिए भयंकर परीक्षण लिया जाता था। स्वयंवरमें किसी कन्याको प्राप्त करनेका सबसे सुन्दर साधन था 'वीणा वादन'। युद्धवर्णन भी एक महत्त्वपूर्ण अंग था, अपभ्रंश कथावस्तुके अलंकरणका। परन्तु इसमे कई रूढ़ियोंका अनुकरण अनिवार्य था, जैसे शस्त्रपूजा आदि। स्त्रियोंकी गर्वोक्तियाँ इसमे विशेष महत्त्व रखती थीं। दूतोंका आदान-प्रदान और सन्धिके प्रस्ताव और कूटनैतिक दाँव-पेंच भी कम उल्लेखनीय नहीं। धनुषकी टंकारकी विश्व-व्यापक प्रतिक्रिया भी ये कवि विशेष मनोयोगसे वर्णित करते हैं। गजवर्णन प्रचुर रूपमे मिलता है। राजनैतिक और सामरिक दृष्टिसे इस युगमें गजका विशेष महत्त्व था। संयोग श्रृंगारके प्रसंगमें जलक्रीड़ाका चित्रण प्रायः मिलता है। इसी प्रसंगमें स्त्रियोंका भी वर्णन है। यह वर्णन त्रिविध है – प्रादेशिक-आधार, सामुद्रिक शास्त्र और चरित्र। तीसरा पात्रके माध्यमसे स्त्रियोंकी व्यापक प्रतिक्रियाका अंकन आलोच्य साहित्यमें उपलब्ध है। ये पात्र मुख्य कथाके अंग तो नहीं होते, परन्तु उनसे कथाके विकासमे नाटकीय रोचकता आ जाती है। वर्णनात्मक शैली बहुत कम है। चाहे वस्तु हो या भाव दोनोंकी अभि-व्यक्ति ये कवि प्रायः उक्तिके माध्यमसे करते हैं।

भाग्यकी विडम्बनाके प्रति अपभ्रंश कविका स्वर सबसे अधिक आक्रोशपूर्ण है। वह अनुभव करता है कि भाग्यकी विवशताओंके आगे मनुष्यको सबसे अधिक नत होना पड़ता है। पुत्रीचिन्तापर जितनी आकुल पंक्तियाँ इन प्रबन्ध-काव्योंमे मिलती हैं उतनी शायद ही किसी दूसरे काव्यमें हों। इसका मुख्य कारण था मध्य युगके सामन्ती संस्कृतिमे नारी-की विषम स्थिति। कथाकी गतिशील धारामे कभी-कभी अपभ्रंश प्रबन्ध कविके जीवन-दर्शनकी झलक दे देता है, उदाहरणके लिए भविसयत्त काव्यके अन्तमे जिस निष्कर्षपर पहुँचता है वह मानव जीवनका चिरन्तन सत्य है, हर युगके कविके स्वरमे यह सत्य मुखरित हुआ है। वह कहता है, हे सुन्दरी, तुम्हे जीवनके पिछले चढ़ाव-उतारपर विषाद नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि मनुष्य जीवन है, तो उसमें संयोग-वियोग होगा ही। मैं मानता हूँ कि यौवनको जरारूपी डायन खा जाती है, परन्तु मनुष्यकी सबसे बड़ी हार इस बातमे है कि वह जिन्दगीसे ऊब जाये। संवाद-पटुता

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी स्वरूपगत विशेषता है। यह विशेषता हर प्रसंगमें देखी जा सकती है। आचार्य शुक्लका यह आरोप कि भाषा-काव्योंमें वस्तुवर्णनकी निपुणता नहीं पायी जाती, उस विवेचनसे निरस्त हो जाता है।

वस्तुतः अपभ्रंश काव्योंकी कथावस्तु, अलंकृत रसवन्ती कथावस्तु है। रसोंकी विविधता होते हुए भी उसका अन्त शान्त रसमें होता है। यदि इन काव्योंकी परिसमाप्ति इस दार्शनिक अनुरोधके साथ न होती, तो उनमें व्याप्त जीवनरस और लौकिकता आजके बुद्धिवादी और यथार्थवादी साहित्य-मीमांसकको मुग्ध बना लेती। भले ही इनमें प्रधानता शान्त की हो, परन्तु समूची कथा व्याप्त शृंगारसे होती है। प्रेमव्यंजना और रूपचित्रणमें अपभ्रंश-कवि शास्त्रीय परम्पराओं और लोक रीतियोंका अनुकरण करता है। संयोग और वियोगके कारणोंकी उद्भावना इन कवियोंने स्वतन्त्र रूपसे की है। साधारणतया प्रेमके ये रूप इन काव्योंमें उपलब्ध हैं – (१) विवाहके लिए प्रेम, (२) विवाहके बाद प्रेम, (३) असामाजिक प्रेम, (४) रोमाण्टिक प्रेम और (५) विषय प्रेम। इनमें रोमाण्टिक प्रेमका जो बाहुल्य है, शायद उसका कारण है सामन्तवादी व्यवस्थामें बहुपत्नीप्रथाका होना, और उसके लिए धर्मको महिमाका साधन मानना। प्रेमका चाहे जो रूप है, पर उसके दुःखद अन्तको यह सुखद रूपमे अंकित करते हैं। संभोगकी तुलनामे ये कवि वियोगका चित्रण व्यापकतासे करते है। फिर भी कामक्रीड़ा और वियोग वर्णनकी प्रमुखता मानी जा सकती है। यह वर्णन साहित्यिक होता है, नायकोंके दैनिक जीवनसे इसका सम्बन्ध नहीं। इसीलिए अन्तमे वह कह देता है '**ताव नवनेह निरन्तर काल हो गय बरह संवच्छर**'। पूर्वरागका बहुत बढ़ा-चढ़ा रूप इन काव्योमे मिलता है। कामदशाओंका उल्लेख, पूर्वरागके अन्तर्गत ही हुआ है। विप्रलम्भके वर्णनमे कामदशाओंका वर्णन आलोच्य साहित्यमे नहीं है। विरहकी दशाएँ भी देखनेमें नहीं आयीं। पूर्वराग-जन्य वियोग कभी-कभी भयंकर रूप धारण कर लेता है। प्रेमी या प्रेमिका अपनेआपको मरने-मारनेपर उतारू हो जाते है। कामदशा पूर्वरागकी अतृप्त आकांक्षाओंका ही उग्र रूप है। प्रेमकी इस दशामें नायक और नायिका दोनों प्रयत्न करते है। फिर कवियोंने कामदशाओके वर्णनमे शास्त्रीय

१. भाषा-काव्यमें आचार्य शुक्ल अपभ्रंश साहित्यको भी गिनते थे।

क्रमका बहुत कम निर्वाह किया है। भरत मुनि कामदशाओंको वियोगके अन्तर्गत मानते हैं और ये दस हैं। अपभ्रंश कवियोंने अरुचि नामक एक और दशा मानी है, जो भरतमुनिने स्वीकार नहीं की। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इस अव्यवस्थासे परिचित थे इसलिए उन्होंने पूर्वराग-जनित वियोग और प्रवासमूलक वियोगकी दशाओंका वर्णन ही अलग-अलग किया है। मान विप्रलम्भ भी इनमें कम है, वस्तुतः वह संस्कृत नाटकोंमें अधिक लोकप्रिय रहा। वियोग-जन्य कृशताका चित्रण इम कवियोंने उत्प्रेक्षामें किया है, अतिशयोक्तिमें नहीं। विशेष बात यह उल्लेखनीय है कि वियोगके वर्णनमे ऋतुवर्णन बहुत कम है। करुण विप्रलम्भका एक भी उदाहरण अभीतक आलोच्य चरित-काव्योंमें नहीं मिला। अपभ्रंशके प्रबन्ध और मुक्तक काव्यधाराके बीच विप्रलम्भकी जो शैली प्रचलित की उसका नमूना सुरक्षित है सन्देशरासकमें। इसमें मुख्य बातें हैं, (१) शारीरिककृशता और अनुभावोंका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन, (२) ऊहात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण कथन, (३) रूपचित्रण, (४) अलंकृत शैली, (५) उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका वर्णन, (६) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों-का उल्लेख, (७) दुःखके नाना कारणोंका उल्लेख। वीर रसकी अभिव्यक्ति-के प्रमुख उपकरण हैं – गर्वोक्ति, अभियान, शस्त्रपूजा, चढ़ाई, द्वन्द्व, दैवी आयुधोंका प्रयोग। युद्धके प्रमुख कारण थे – नारी-अपहरण, स्वयंवर, दूसरोंके राज्यको हड़पनेका प्रयास, दिग्विजय, अथवा बन्दी कन्याओंका उद्धार। परन्तु यह आवश्यक नही था कि सभी काव्योंमे युद्ध हो ही, पउम सिरी चरिउ और जसहर चरिउ इसके अपवाद हैं और भी चरिउ काव्य इस श्रेणीमें आते हैं। रौद्र रस प्रायः युद्धके प्रसंगमे आता है। इसी प्रकार भयानक रस भी युद्ध और उपसर्गोंके समय। वीभत्स रसका प्रयोग बहुधा मिलता है विनाशके दृश्यांकन और विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए। करुण अथवा करुणा भाव इन चरित-काव्योंमें सबसे अधिक है। ये कवि शृंगारको करुणका अंग बना देते हैं। विशेष महत्त्व रखता है वात्सल्य रस। इन काव्योंमें इसका जैसा परिपाक देखनेको मिलता है, वैसा इसके पहले नहीं मिलता। भविसयत्त कहामें तीन चौथे अंशमे वात्सल्यके दोनों पक्षों-की अभिव्यक्ति है। कृष्णकी बाललीलाओंके प्रसंगमें भी इसका परिपाक द्रष्टव्य है। हास्य रसकी योजना नहीके बराबर है। नारद-जैसे इने-गिने पात्रोंके वर्णनमें अवश्य वह दीख पड़ता है, पर उससे रस-अवस्था उत्पन्न नहीं होती। हास्यकी अभिव्यंजना, नाटकमें ही सम्भव थी, विदूषकके

माध्यमसे। प्रबन्ध काव्योंमें इसके लिए जगह नहीं थी। इसीलिए साहित्य-दर्पणकारको लिखना पड़ा कि हास्यके आलम्बनका नायकके रूपमें वर्णन किसी काव्यमें नहीं होता। केवल आक्षेपसे उसकी प्रतीति सम्भव है। शान्त रसकी स्थिति प्रारम्भमें ही स्पष्ट की जा चुकी है। पर यह आवश्यक नहीं, लघु या महान् दोनों इसके आश्रय हो सकते हैं। शान्त रस वहीं समझना चाहिए जहाँ फल-कामनासे हीन सच्ची विरक्ति हो। अपभ्रंश-कवि भक्तिको रस मानते हैं। पुष्पदन्तने लिखा है कि मेरी कविता भक्ति रससे समुच्छलित है। पुष्पदन्त ही नहीं समूचे आध्यात्मिक अपभ्रंश चरित-काव्य भक्तिरसके परिपाकके लिए ही हैं। यह बात अवश्य है कि भक्तिका आलम्बन भिन्न मतोंमें अलग-अलग है, परन्तु करुणा, आत्मा-परमात्माकी एकता, और लोकहित भावनाका समावेश सबमें मिलता है। अपभ्रंश कवि तुलसीकी भाँति विरतिमूलक भक्तिमें अधिक आस्था रखते हैं।

अपभ्रंश कथा एक अलंकृत रस कथा है, यह कहा जा चुका है। अपभ्रंश कविता संस्कृतके अलंकार सम्प्रदाय और रसवादी सम्प्रदायोंकी समकालीन है, अतः वह दोनोंसे प्रभावित है। रसकी भाँति अलंकारोंका विकास धीरे-धीरे हुआ। भरतमुनिने कुल चार—उपमा, रूपक, दीपक और यमक—अलंकार माने हैं; परन्तु आलोच्यकाल तक उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। सादृश्य या असादृश्यमूलक अलंकार इसमें सर्वाधिक है। आध्यात्मिक और अमूर्त उपमानोंका भी ये कवि प्रयोग करते हैं। अपभ्रंश मुक्तक काव्यकी पूर्वी शाखामें उलटवासियाँ भी उपलब्ध हैं। इसके मूलमें होता है विरोधाभास अलंकार; सांकेतिक अर्थ ग्रहण कर लेनेपर उसका विरोध हट जाता है। पछाँह अपभ्रंश चरित-काव्योंमें भी प्रतीक रूपमें यह शैली उपलब्ध है, अतः उसे पूर्वी अपभ्रंश काव्यकी विशेषता मानना ठीक नहीं।

छन्दमें यह भाषा और इसका काव्य बेजोड़ है। पुरानी छन्द परम्परा-को इन कवियोंने सँवारा ही नहीं, वरन् उसमें नये प्रयोग भी किये। अपभ्रंश छन्दपर कवि स्वयंभूकी पुस्तक उपलब्ध है, इसलिए अपभ्रंश छन्दका विचार उन्हींसे प्रारम्भ होता है, यद्यपि उनके काफ़ी पहले छन्दों पर चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत छन्दोंके समानान्तर अपभ्रंश छन्दोंका विचार प्रारम्भ हो चुका था। स्वयंभूच्छन्दके बारेमें डॉ० वेलणकरने यह प्रश्न उठाया है कि उसके लेखक कवि स्वयंभू

नहीं, पर यह निराधार है। हमने विस्तारसे इसका विचार किया है। अन्तः और बाह्य प्रमाणोंसे कवि स्वयंभू ही इसके लेखक सिद्ध होते हैं। कवि होनेके नाते अपभ्रंश कविके दो काम थे। लोक काव्य शैलियों पर पूर्ण अधिकार करना, और दूसरे शास्त्रीय शैलियोंके सन्दर्भमें उन्हें काव्यका माध्यम बनाना। इससे उन्हे छन्दोंका साधिकार ज्ञान रखना आवश्यक था। इसी कारण भाषा कवि छन्दका विचार करता आया है। स्वयंभूका यह उल्लेख (एक छन्दशास्त्रीके नाते) काफ़ी महत्त्व रखता है कि काव्यमें (अपभ्रंश काव्यमे) संगीत, वाद्य और अभिनयसे युक्त रचनाएँ होती हैं। प्रश्न है कि यहाँ काव्यसे क्या अभिप्राय है—नाटक या काव्य। मेरी धारणामे यहाँ काव्य ही लिया जाना चाहिए; क्योंकि, प्राकृत और विशेष रूपसे अपभ्रंशमें नाटकका अस्तित्व ही नहीं है। प्राकृतका कुछ तो प्रयोग सम्भव भी है परन्तु अपभ्रंशका इस रूपमे भी नहीं। विषयकी समानता होते हुए भी अपभ्रंश छन्दशास्त्रियोंके चिन्तनमें एकरूपता नहीं। कहना कठिन है कि प्रारम्भमें अपभ्रंश छन्दका क्या स्वरूप था, परन्तु अधिकतर सम्भावना यही है कि इसमे मात्रा और अक्षरवृत्त रहे होंगे। पण्डितोंने कई आधारोंपर अपभ्रंश छन्दोंका विचार किया है? कुछ लोग यह भी मानते है कि भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न धाराओंके छन्दोंका विचार किया है। परन्तु इस सम्बन्धमें किसी भी एक तरहका विचार एकांगी ही होगा। हाँ, एक बात अवश्य इससे ध्वनित होती है कि अपभ्रंश कवि छन्दके प्रयोगके बारेमें बहुत सजग रहे। लोक-भाषाकी गतिशीलता-को बनाये रखनेके लिए यह स्वाभाविक भी था। गणवृत्तोंके प्रयोगमें भी, अपभ्रंश काव्यकी प्रवृत्ति सुरक्षित रहती है। प्रयोगके आधारपर भी अपभ्रंश छन्दोंका विभाजन किया जाता है। इस सम्बन्धमे ध्यान देने योग्य यही तथ्य है कि अपभ्रंशमे छन्द व्यक्ति नहीं जाति है। दूसरे प्रयोग-भेदसे एक ही छन्दका दूसरा नाम सम्भव है। तीसरे अपभ्रंश छन्दमें यति संगीतात्मक होती है। कडवक रचनामे आठ यमक अथवा सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिए। उसके बाद घत्ता देनेका नियम है। कडवकके निर्माणमें पंक्तियों या यमकोंकी निश्चित संख्याका विधान है, किसी वर्णवृत्तका नहीं। अतः प्रारम्भसे ही उसमे विविध वृत्तोंका प्रयोग होता रहा। घत्ता-रूपमें भी कई छन्दोंका प्रयोग होता आया है। विद्वानोंने कड़वकके छन्दों-को निश्चित करनेका प्रयास किया था, वह वस्तुतः उचित नहीं। घत्ता-का दूसरा नाम ध्रुवक या ध्रुवा भी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने

छड्डणिआको ही घत्ता मान लिया है, ऐसा उन्होंने प्राकृत पैंगलके आधार-पर स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने छन्दोनुशासनमें घत्ताके तीन भेद स्वीकार किये हैं—षट्पदी, चतुष्पदी और दुवई। छड्डणिआकी लोकप्रियताके कारण ही शायद पिंगलकारने उसे घत्ता मान लिया, परन्तु इसे प्रामाणिक मानना ठीक नहीं। स्वयंभू कविने कहा है कि चतुर्मुखने छन्दनिका, द्विपदी और ध्रुवोंसे जड़ित पद्धड़ियाका निर्माण किया। परन्तु जैसा कि कहा चुका है, घत्ताके रूपमें दूसरे छन्दोंका प्रयोग आता रहा है। प्राकृत-पैंगलम् एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है, अतः उसे अन्तिम रूपसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ छन्द देशोंके नाम-पर भी हैं, जैसे आभीर, सोरठा और मरहट्ठ। वस्तुतः अपभ्रंश छन्दोंके आलोचक अपभ्रंश छन्दके विकासके मूलमें दुवईको मानते हैं। आगे चल-कर मात्रा, गण, यमक और अनुप्रासके कारण उसमें कई भेद-प्रभेद हुए। विषय और प्रयोग-भेदसे अपभ्रंश छन्दका नाम बदल सकता है। लय और गीततत्त्वके समावेशके कारण उसमें अन्त्यानुप्रास रखना अनिवार्य था। संस्कृतमे अन्त्यानुप्रास पहले नहीं था। अपभ्रंशके बाद ही अपभ्रंशके माध्यमसे वह आया। गीत ही नहीं गीत नृत्यका भी समावेश आलोच्य काव्यके छन्दमें है।

प्रकृति-चित्रण, प्राचीन प्रबन्ध-काव्योंमें वस्तुतः प्राकृतिक दृश्य काव्य-के रूपमे स्वीकृत थे। वह वस्तुवर्णनका एक अंग थे। आचार्य शुक्लने प्रकृति-चित्रणमें अर्थग्रहणकी तुलनामें विम्बग्रहणपर विशेष बल दिया है। उन्होंने इस बातके लिए भी दुःख प्रकट किया है कि संस्कृत साहित्यमें आलम्बन रूपमे प्रकृति-चित्रण मिलता है, हिन्दीमे नहीं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि संस्कृतमें प्रकृति-चित्रण परिस्थिति योजनाके रूपमे है। उद्दीपन रूपमें प्रकृति-चित्रणका नाटकोंमे ही महत्त्व था। लेकिन दोनों धाराओंके सम्मिलनसे यही प्रवृत्ति प्रबन्ध-महाकाव्योंमें भी आयी। शास्त्रीय दृष्टिसे आलम्बन रूपमें प्रकृति-चित्रण सम्भव नहीं। उसे रसाभास माना जा सकता है रस नहीं। हिन्दी आलोचकोंमें प्रकृति-चित्रणकी विधाओंको लेकर बहुत मतभेद है। प्रकृति-चित्रणके विश्लेषण अभीतक ठोस तथ्यों-पर बहुत कम हुए हैं। हमारी धारणा है कि वस्तुतः प्रकृति-चित्रणके दो भेद हैं, शुद्ध और आरोपित। इसमें शुद्धके दो भेद है – आरोपित अथवा यथातथ्य रूपमें। सभी विधाओंमे आलोच्य साहित्यमें प्रकृति-चित्रण मिलता है। अलंकृत शैलीमे प्रकृति-चित्रण इस साहित्यमें सबसे अधिक

है। मानवीकरण और प्रकृतिके व्यापारोंपर, मानवी भावनाओंका आरोप करनेसे भी, अपभ्रंश प्रबन्ध कवि नहीं चूकते। दो ऋतुओंके सन्धिकालका वर्णन भी आलोच्य साहित्यमें काफ़ी लोकप्रिय है। इसके अतिरिक्त परि-गणन रूपमें प्रकृतिका चित्रण भी उपलब्ध है। प्रकृतिवर्णनके ऐसे प्रसंग विशेष रूपसे भावाकुल हो उठे हैं जब कवि किसी भाव दशाके आवेगमें प्रकृतिको अपनी भावनामें रंग डालता है। तब समूची प्रकृतिका उसके अन्तरसे तादात्म्य हो जाता है और प्रकृति उसके विद्रोही स्वरमें अपना स्वर मिला देती है। इसमें प्रकृतिके इस सहज मानवी और उग्ररूपका चित्रण प्राचीन काव्यमें नहीं मिलता। दो प्रकारके प्रभावोंसे और यह प्रकृति-चित्रण प्रभावित है। सामन्ती प्रभाव, इसके कारण प्रकृतिमें युद्ध रूपककी कल्पना कवि करता है, दूसरे काव्यमें पूर्व वर्णनके प्रभावसे भी कवि उसीके अनुकरणपर प्रकृतिका वर्णन करता है। कुल मिलाकर आलोच्य साहित्यमें प्रकृति-चित्रण समृद्ध, सुरुचिपूर्ण और काव्योचित है; यद्यपि कहीं-कहीं रूढ़ियोंका परिपालन भी उसमें है।

आलोच्य साहित्यमें भारतीय समाज और संस्कृतिका जो चित्र अंकित है वह किस युगका है कहना कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा समाज गतिशील रहा, परन्तु साहित्यके मानदण्ड स्थिर रहे? अध्यात्मिक मूल्योंकी परिवर्तनशीलताकी झलक तो प्राचीन साहित्यमें असंदिग्ध रूपसे देखी जा सकती है पर भौतिक अथवा सामाजिक मूल्योंके बारेमें बहुत कम प्रत्यक्ष जानकारी मिलती है। जो मिलती है वह इतनी रूढ़ है कि वह किसी भी युगपर आरोपित की जा सकती है। उदाहरणके लिए, अपभ्रंशके कवियोंने कलियुगका जो भविष्यकालीन चित्र खींचा है। वह तुलसीदासके कलियुगी चित्रसे बहुत कुछ मिलता है। मध्ययुगमें हमारे सामाजिक मूल्य एकदम स्थिर हो गये और उनकी इस स्थिरताने अपभ्रंश युगमें ही अपनी सीमाएँ निश्चित कर ली थीं। दूसरे समकालीन संस्कृत साहित्यमें अंकित सामाजिक जीवनसे इस साहित्यमें अंकित जीवनमें भिन्नता है। यह इसलिए कि संस्कृत साहित्य हमेशा राज्यकी छायामें लिखा गया इसलिए उसमें राजन्य संस्कृतिकी विशेषता अधिक है। इसके विपरीत अपभ्रंश साहित्य धर्मके आश्रय और आध्यात्मिक प्रेरणाओंसे लिखा गया। अतः उसमें क्षणिक समाज और उनके रीति-रिवाजोंका अंकन है। इस दृष्टिसे समकालीन दो संस्कृतियोंकी तुलनामें इसका विशेष महत्त्व है।

भारतीय संस्कृतिकी पहली रेखा है वर्ण-व्यवस्था। नाना जातियाँ उसकी ही अवान्तर उपज हैं। गीताकारने कहा था कि चातुर्वर्ण्यकी रचना भगवान्‌ने की। परन्तु १०वीं सदीके अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त कहते हैं कि भगवान् ऋषभनाथने लुहार, कुम्हार, तेली, चमार आदि की रचना की। ऋषभनाथ और पुष्पदन्तके बीच लाखों वर्षोंका अन्तर है। अतः पुष्पदन्तके कथनका यही अर्थ है कि उनके बहुत पहले जातियाँ अस्तित्वमें आ चुकी थीं। इन जातियोंकी इकाई थी परिवार। अधिकतर परिवार सम्मिलित थे। परिवारके विभिन्न सदस्योंमें शीतयुद्ध होता रहता था। कवि स्वयंभूका तो कहना है कि सास और बहू दोनों का वैर अनादिसिद्ध है। नारीका चरित्र यहाँ भी सन्देहकी वस्तु था। बहुविवाहकी खुली छूट थी। राजन्यवर्ग तलवारके बलपर कई स्त्रियोंसे विवाह कर सकता था, और श्रेष्ठिवर्ग धनके बलपर। सापत्न्यभावके कितने ही तीखे दृश्य इसीलिए इस साहित्यमें अंकित है। बहुत-सी सुन्दर पत्नियाँ होना भी पुण्यका काम समझा जाता था। गृह-संस्कारोंमें चूड़ाकर्म आदिका उल्लेख है। बच्चोंको भी गहना पहनानेकी प्रथा थी। इन्द्र-द्वारा सभी तीर्थंकरोंके कान छिदवाये गये हैं! विवाहकी धूम-धाम पढ़ते ही बनती है। सभी तरहके विवाह प्रचलित थे। साहित्यमें यह युग अर्थकी निन्दाका युग है। साधारण जनोंमें ग़रीबी और अभाव थे। राजन्य और वैश्य परिवार सम्पन्न थे। राजनैतिक दृष्टिसे वह राजतन्त्रका युग था। इस युगमें राजाके आदर्श बहुत ऊँचे थे पर उस ऊँचाई तक पहुँचनेका प्रयास कभी नहीं हुआ। आलोच्य साहित्यमें वर्णित युद्ध, राजपूतयुगके युद्धोंका सही चित्र हैं। वहीं कन्या-अपहरण, व्यक्तिगत शक्तिका प्रदर्शन आदि। कूटनीति और कूटमन्त्रणाओंका बड़ा महत्त्व इस साहित्यमें है। परन्तु ये वर्णन बहुत कुछ प्राचीन कूटनीतिके ग्रन्थोंपर आधारित हैं। राज्यतन्त्र होते हुए भी राजाके अधिकार कई बातोंमे सीमित थे। भविसयत्त कहामें राजाको नागरिकोंकी सलाह माननी पड़ती है। इसके अतिरिक्त, आटविक राज्यों और भील राज्योंका भी उल्लेख, इस साहित्यमें है।

आलोच्य साहित्यमें वर्णित शिक्षा-दीक्षाका सम्बन्ध सामन्त या राज समाजसे है। राजकुमार राजभवनोंमे ही पढ़ते थे। अतः राजगुरुका पद महत्त्वपूर्ण हो गया था। राजन्यवर्ग शस्त्रविद्यामें विशेष रूपसे पारंगत होता था। स्त्रियोंको कला छन्द आदिके साथ अपभ्रंशकाव्यका भी अध्ययन कराया जाता था। गाँवमें उपाध्याय शिक्षकका काम करता था। वट वृक्षके

रूपकसे यह तथ्य भलीभाँति प्रमाणित है कि बारहखड़ीकी शैलीका आविष्कार लोकभाषाके प्रशिक्षणमें स्वयंभूके बहुत पहले हो चुका था। समाज उन सभी कुरीतियों और रिवाजमें फँस चुका था कि जो मध्ययुगके सांस्कृतिक जीवनमें दीख पड़ती हैं। आमोद-प्रमोदके नामपर राजसमाजमें जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, संगीत, नृत्य-प्रेक्षण आदिकी भरमार थी। साधारण जनतामें चर्चरी, रासलीला, दोला क्रीड़ा आदि काफ़ी लोकप्रिय थी। विवाह में चुहुलबाज़ी खूब चलती थी। नटोंका प्रदर्शन होता था। सुन्दर लड़कियोंको रिझानेके लिए वीणा जादूका काम करती थी। जुआ इस युगका प्रमुख व्यसन था। मल्लयुद्ध भी विशेष पसन्द किया जाता था। लोकाचार और अन्धविश्वास भी अपनी जगह थे। शकुन-अपशकुनका भी बड़ा विचार किया जाता था। हिंसक पूजा-विधान भी प्रचलित थे। तन्त्र-मन्त्र की धाक थी। धीरे-धीरे भक्तिकी धाराका विकास हो रहा था। साम्प्रदायिक संघर्षके बाद भी सहिष्णुताका भाव उदय हो रहा था। आर्थिक स्थितिके परिचायक तथ्यों और आँकड़ोंकी इस साहित्यसे अपेक्षा करना व्यर्थ है। फिर भी ग़रीबी थी, और सबसे बड़े अचरजकी बात तो यह है कि चीज़ोंमें मिलावट उस युगमे भी विद्यमान थी। दार्शनिक चिन्ताओंसे आलोच्य साहित्यकी प्रबन्ध कृतियाँ भरपूर हैं, उनके निर्माणकी मुख्य प्रेरणाएँ ही ये है। पशुबलि, वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोंकी आलोचना इसमें सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त यदि किसीका खण्डन मुख्य रूपसे मिलता है तो वह है, मीमांसा, चार्वाक, क्षणिकवाद और सांख्यदर्शनका। दर्शन और धर्मके क्षेत्रमे अग्रणी होनेसे, ब्राह्मणोका विरोध स्वाभाविक था। परन्तु इसे सामाजिक क्रान्तिके रूपमें न लेकर परम्परागत विरोधके रूपमें ही समझना चाहिए। जैन धर्मके व्यावहारिक रूपका भी वर्णन साहित्यमे है। शैवदर्शनसे अन्तर्विरोध इस साहित्यके निर्माणकी बहुत-बड़ी प्रेरणा है। धर्म साधनामें यह युग आडम्बरोंमे विश्वास करता था फलतः इस युगमें अध्यात्मवादी जैन धर्ममें भी उसकी झलक दिखाई देगी। जैसे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा इस युगमे विशेष महत्त्व रखती थी। कामनाओंकी पूर्तिके लिए इस युगमे लौकिक देवी-देवताओंकी उपासना बहुत प्रचलित थी। भयमूलक उपासना अधिक थी। पात्रोंको धार्मिकताके रंगमें रँगनेका मुख्य उद्देश्य पात्रोंके चरित्रमें नैतिक क्रान्ति लाना था। इस प्रकार आलोच्य साहित्य अपने भीतर शास्त्र और लोक दोनों की परम्पराएँ निभाकर चलता है। इसलिए एक ओर जहाँ उसमें पुरानी

काव्य विधाओंका प्रभाव है, वहीं नयी भाषाओं और काव्यविधाओंके पूर्व रूप भी। इस साहित्यके रचयिताओंका यह श्रेय भारतीय साहित्यके इतिहासमें अविस्मरणीय होगा कि उन्होंने युगकी चिन्ता, भाषा काव्य रूप और नाना साधनाओंका एक धूमिल चित्र हमें दिया। भारतीय साहित्यका उद्‌गम आदर्शकी किस गंगोत्रीसे हुआ अथवा भावनाकी किस आकुलतासे उसका यह आवेग निकल पड़ा यह चाहे हम न जानें, पर यह हम जानते हैं कि वह जो अपनी सहस्र धाराओंमें बहा, वह इसी अपभ्रंशके धरातलसे। सचमुच भारतीय साहित्यधाराके नैरन्तर्य और नाना प्रवाहोंको समझनेका सूत्र अपभ्रंश साहित्यके हाथमें है।

■

प्रकीर्णक

१. आख्यायिका कथा और चरित काव्य

भामहने प्रकृत अनुकूल श्रव्य शब्दार्थवाले पदोंसे युक्त गद्यमें लिखी गयी कथाको आख्यायिका कहा है, पर उसमे उदात्त अर्थ हो, उच्छ्वास हों और अपना वृत्त, नायक स्वयं कहे। भावी अर्थका संकेत वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दोंमें कहा जाये। उसमें कविका अभिप्रायकृत कथानक भी हो, कन्यापहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदयसे सहित हो। (का० अ० १, २५, २६, २७) कथाका लक्षण भामहके अनुसार यह है—उसमे वक्त्र, अपरवक्त्र और उच्छ्वास नही होते। संस्कृत हो, सुसंस्कृत चेष्टाएँ हों, गौण रूपसे अपभ्रंश कथा हो। दण्डी गद्यके दो भेद करते हैं—आख्यायिका और कथा। आख्यायिका वह है जो नायक-द्वारा कही जाये। कथा वह है जो नायक या अन्य-द्वारा कही जाये। इस नियमका भी सर्वत्र पालन नहीं होता और अन्य भी आख्यायिका कह सकता है। वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द, और उच्छ्वासोमे भाग करना आख्यायिकाका चिह्न है, तो कथामें भी प्रसंगसे वक्त्र, अपरवक्त्र आर्याके समान क्यों न रहे। लम्भ आदि भेद उसमे होते ही हैं, तो उच्छ्वास भी हो सकता है केवल नाम दो है। आख्यानकी अन्य जातियाँ भी इसीके अन्तर्गत है। कन्यापहरण आदि इसमें भी होते हैं। ये विशेष गुण नही। (का० आ० २३-३०) रुद्रटके अनुसार कथाकी परिभाषा यह होगी—श्लोकोंमे पहले इष्ट देव-गुरुको नमस्कार करके, संक्षेपमें कुल-परिचय कहकर सरल गद्यमे कथा-वस्तुकी रचना करें। वर्णन भी हों फिर उसमें कथोत्तर भी हो। यह संस्कृतमे करें या अगद्य (पद्य) में भी करें। इन तीन कथनोंसे कथाकी परिभाषाके सम्बन्धमे निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते है।

१. भामह दण्डीका मत एक है, भेद केवल इतना है कि दण्डी आख्या-यिकाका विधान कथामे भी लगाना चाहते है।

२. भामह अपभ्रंशमें कथा मानते है पर गद्यमे लिखी अपभ्रंश कथा एक भी नहीं मिली, होनी चाहिए।

३. उद्भटने यही बात ध्यानमें रखकर दूसरी भाषाओंमें गद्यका नियम हटा दिया।

४. रुद्रटकी परिभाषा संस्कृत और प्राकृत अपभ्रंश कथाओंको लक्ष्यमें रखकर बनायी गयी है।

५. चरित काव्यके लक्षणके विषयमें सभी मौन हैं लेकिन बाण हर्ष-चरित्रको आख्यायिका कहता है, और कादम्बरीको कथा। इसलिए चरित्र और आख्यायिकामें स्वरूप और विधानकी दृष्टिसे भेद नहीं जान पड़ता है।

६. हर्षचरित्रमें समकालीन ऐतिहासिक राजा हर्षका जीवन कथा-वस्तु बनता है। अपभ्रंश चरित्र काव्योंमें ऐसा एक भी उदाहरण अभी तक देखनेमें नहीं आया। सबकी कथावस्तु पौराणिक है अतः पौराणिक कथावस्तुपर आधारित कथा भी चरित्र कहला सकती है। सम्भव है इन्हींसे बाणको 'हर्षचरित्र' नाम सूझा हो।

अपभ्रंश लेखक चरित और कथामें भेद नहीं करते। वास्तविक भेद है भी नहीं। दण्डीका दशकुमारचरित्र भी इसका प्रमाण है। तुलसीदास भी अपनी रचनाको रामचरित भी कहते हैं और रामकथा भी। कालिदास का रघुवंश भी चरित्रकाव्य ही है। वंश उसकी पौराणिकताको साफ़ बता रहा है। इतने विवेचनका निष्कर्ष यही है कि कथा, आख्यायिका और चरित्रके बीच स्थायी भेदक रेखा खींचना असम्भव है। थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी वह कथा-साहित्य ही है। विषयको लेकर कथा-साहित्यके भेद किये जाते हैं। जैसे धर्मकथा, काव्यकथा, लोककथा आदि।

२. हेमचन्द्र और कथाकाव्य एवं रासक

हेमचन्द्रने काव्यानुशासन (अध्याय ८) में काव्यके पाँच भेद किये हैं—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध ! वह गद्य और पद्यके आधारपर काव्यका विभाजन नहीं करते। वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यके अतिरिक्त, ग्राम्य भाषाके महाकाव्योंका भी उल्लेख करते हैं, ऐसे एक 'भीमकाव्य'का नाम भी उन्होंने दिया है। इस ग्राम्य-भाषाको उन्होंने ग्राम्य अपभ्रंश कहा है। निश्चय ही यह अपभ्रंशेतर नयी भाषाका काव्य रहा होगा। बाणभट्टकी तरह, हेमचन्द्र भी कथा और आख्यायिका भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु उनकी मान्यतामें अन्तर है। बाणभट्टके मतमें कल्पित कहानी कथा है और ऐतिहासिक आधारपर चलनेवाली कथा आख्यायिका है। जैसे कादम्बरी और हर्षचरित। हेमचन्द्रके अनुसार, आख्यायिका वह है जो संस्कृत गद्य में हो, ख्यातवृत्त

हो, नायक स्वयं वक्ता हो, और उच्छ्वासोंमें लिखी हो। कथा वह है जो किसी भी भाषामें लिखी जा सकती है, उसके लिए गद्य-पद्यका बन्धन नहीं है। इस प्रकार हेमचन्द्रने बाणभट्टके गद्यके बन्धनको हटाकर कथाको इतनी व्यापकता दे दी कि उसमें सभी कथाकाव्य खप गये। गद्य कथाका उदाहरण कादम्बरी है, और पद्य कथाका 'लीलावई कहा'। अपभ्रंशके 'चरिउ' काव्य भी इसीके अन्तर्गत आते हैं। हेमचन्द्रको 'गद्य' का नियम इसलिए हटाना पड़ा, क्योंकि अपभ्रंशमें गद्यका अभाव था। कथाके सिवाय, उन्होंने और भी उपभेद किये हैं, जैसे, आख्यान, निदर्शन, प्रवल्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा और उपकथा। आख्यान, प्रबन्धकाव्यके बीच आनेवाला वह भाग है जो गेय और अभिनेय होता है, दूसरे पात्रके बोधके लिए इसका प्रयोग होता है, जैसे नलोपाख्यान। पशु-पक्षियोंके माध्यमसे अच्छे-बुरेका बोध देनेवाली कथाका निदर्शन है—पंचतन्त्र। प्रवल्लिकामें एक विषयपर विवाद होता है। भूतभाषा और महाराष्ट्रीमें लिखी गयी लघुकथा मतल्लिका है। इसमे पुरोहित, अमात्य और तापसका मज़ाक़ उड़ाया जाता है। मणिकुल्या वस्तुका उद्घाटन करती है। पुरुषार्थसिद्धिके लिए कही गयी वर्णनात्मक कथा परिकथा है। इतिवृत्तके खण्डपर आधारित कथा खण्डकथा है। समस्त फलवाली कथा सकलकथा है, और एक कथापर चलनेवाली कथा, उपकथा कहलाती है।

रासकके उन्होंने तीन भेद किये हैं – कोमल, उद्धत और मिश्र। इस पर से डॉ० द्विवेदीका अनुमान है कि पृथ्वीराज रासो चरितकाव्य तो है ही वह रासो या रासक काव्य भी है। (हि० आ० का० ५९) वह सन्देश रासकको भी गेय मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रासक काव्य गेय थे। पर छन्दोंकी विविधताके कारण इन्हें गेय माननेमें थोड़ी अड़चन है। उपदेश रसायनरासमें यह बात नहीं।

३. पाशुपत मत

इसके अनुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। कार्य वह जो स्वाधीन नहीं होता जैसे जीव और जड़। ईश्वरके अधीन होनेसे वे कार्य हैं। जीवोंकी गुणविद्या दो प्रकार की है—बोध और अबोध। बोधका नाम चित्त है। पशुत्वको प्राप्त करनेवाली विद्या (धर्मा-धर्मरूप) अबोध कहलाती है। चेतनके अधीन अचेतन पदार्थ कला

कहलाता है। पाश बन्धनको कहते है। जो उससे बँधा हो वह पशु कहलाता है। जीव ही पशु है। शरीरेन्द्रियसहित जीव सांजन कहलाता है, उससे रहित निरंजन। जगत्‌की रचनाका कारण महेश्वर ही शिव है। वह संहार और अनुग्रहका हेतु है। वह ज्ञान और प्रभुशक्तिसे युक्त है। चित्तके द्वारा आत्मा और ईश्वरके सम्बन्धका नाम योग है। क्रियात्मक योगमें जप, ध्यान आदिकी मुख्यता है। विधि योग साधक व्यापारको कहते हैं। मुख्यविधि कहलाती है चर्या। हसित, जीव नृत्य, हुड, हुड्कार, नमस्कार तथा जपके भेदसे उपहार (नियम) छह प्रकारका है। भस्म-स्नान, भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा और उपहार ये पाँच व्रत हैं।

द्वारके कई भेद है जैसे जागते हुए सोनेका बहाना (क्राथन), वातरोगीकी चेष्टा करना (स्पन्दन), लँगड़ाकर चलना (मन्दन), अवि-वेकीकी तरह निन्द्य काम करना (अवितत्करण), सुन्दरीको देखकर कामीकी चेष्टा करना (शृंगारण) इत्यादि व्रत और द्वार ये चर्याके दो भेद हैं।

दुःखान्त दुःखोंके आत्यन्तिक छुटकारेको कहते हैं। अनात्मक दुःखान्त में केवल दुःखका अन्त होता है। सात्मकमें परमैश्वर्यका लाभ भी होता है। यह प्रपत्तिसे ही सम्भव है।

वीर शैव सिद्धान्त, 'शक्तिविशिष्टाद्वैत'को मानता है। यह कर्म प्रधान है। जब कि आचार्य शंकरका मत है त्याग प्रधान है। इसमें शिव और जीव दोनों शक्तिविशिष्ट है। मुख्य देवता शिव है। यह विश्व शक्ति रूप ही है। शक्ति धर्मरूप है और शिव धर्मी रूप। शिव-शक्ति अलग नहीं किये जा सकते। यह शक्ति त्रिगुणात्मिका कही जाती है।

तमोगुण शक्ति ही माया है। यह संसार सत्य है, मिथ्या नहीं। संसारकी उत्पतिके विषयमे दो मत है—परिणामवाद, दूसरा विवर्तवाद। वह चराचर सृष्टिमे लीन रहता है। परम शिव पूर्ण अहंतारूप या स्वातन्त्र्य रूप है। और जीव अपूर्ण अहंता है। शक्ति विशिष्टाद्वैतका अर्थ है दोनोंकी एकाकारता या सामरस्य। उपास्य और उपासक रूपको क्रीड़ाकी इच्छा होनेपर शिवमें स्पन्दन होता है। इससे दो भेद हो जाते है। उपास्य लिंग है और उपासक अंग। लिंगकी शक्तिका नाम कला है और अंगकी शक्तिका नाम भक्ति। कलासे संसार बनता है। और भक्तिसे जीव शिवसे एकाकार सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः ये शिवभक्तिको मुख्य मानते

हैं। लिंग धारण करते हैं। जात-पाँतको नहीं मानते। वेदोंमें इनकी आस्था नहीं होती। शिवत्वमें रमना उनका लक्ष्य है।

४. शैव सिद्धान्त (तमिल)

यह भेद प्रधान है। शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन सिद्धान्त हैं। बिन्दु ही महामाया है। यही बिन्दु या शब्द ब्रह्म जगत्की सृष्टि करता है। शिवके दो भेद हैं। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा होती हैं। और परिग्रह रूप जड़ शक्ति होती है। यही बिन्दु है। शुद्ध बिन्दुको महामाया कहते हैं, और अशुद्धको माया। समवायिनी शक्तिसे बिन्दुपर आघात करने पर क्षोभ उत्पन्न होता है। वही सृष्टिका मूल है। इसमें पशुपति और मलकी कल्पना की जाती है। तान्त्रिकमत, ज्ञान और कर्मकी अपेक्षा, क्रिया-से मलका अपसरण सम्भव मानते है। भगवान् की अनुग्रह शक्तिके बिना यह सम्भव नहीं। तान्त्रिक भाषामें यही शक्तिपात है। इसे दीक्षा भी कहते हैं। लेकिन तन्त्रमत, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिमें अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं।

५. प्रत्यभिज्ञा (कश्मीर) या त्रिकदर्शन

यह अद्वैत प्रधान है। कामेश्वर और कामेश्वरीका सामरस्य है। अद्वयरूप परमेश्वर ही परम तत्त्व है। निर्विकार शिव विश्व भरमें अनुस्यूत है। वह विश्वका उन्मीलन स्वयं करती है। उन्हें किसी उपादानकी आवश्यकता नहीं। उनकी अपनी विशेष शक्तियाँ पाँच है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। आनन्द स्वातन्त्र्य ही है। इनके द्वारा वह जगत्-को अपनी ही भित्तिपर चित्रित करते हैं। शिव और विश्वका सम्बन्ध दर्पण-बिम्बके समान है। चिन्मयी शक्तिका स्फुरण ही विश्व है। अतः वह असत्य नहीं। विश्व सृष्टिसे शिवके दो रूप हो जाते हैं – शिवरूप और शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है, और शक्ति विमर्शरूप। शिव अहमंशको ग्रहण करता है, और शक्ति इदमंशको। बिना दर्पणके मुख नहीं दिखता, इसी प्रकार भक्तिके बिना शिवका प्रकाशरूप सम्पन्न नहीं होता, वैसे ही जैसे मधु अपनी मिठासका आनन्द स्वयं नहीं ले पाता। शक्तिके आन्तर निमेषको सदाशिव कहते हैं, और बाह्य उन्मेषको ईश्वर। माया अहं और इदं को अलग कर देती है। वह शक्तिपर आवरण डालती है, जिसे कंचुक कहते है। साधनामें वह ज्ञान और भक्ति दोनोंको मानते हैं।

साधनरूपा भक्ति अज्ञानमूलक है। अतः उसमें द्वैतकी अपेक्षा है। ज्ञानके उदयसे साध्यरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यही चिदानन्द लाभ है। इसे प्रत्यभिज्ञा इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें ज्ञात वस्तुको फिरसे जाना या पहचाना जाता है। जैसे कोई सुन्दरी मदनलेखसे आये हुए प्रियतमको पाकर भी आनन्दित नहीं होती; परन्तु जब दूती पहचान कराती है तो वह उसे पहचान कर फूली नहीं समाती।

वाममार्ग, शैव और तन्त्रमार्गका मिला-जुला रूप है। कौल और कापालिक इसीके दो भेद हैं। कापालिक कुण्डल, शिखामणि, भस्म, यज्ञोपवीत और कणिका धारण करते हैं। ये महाभैरवके उपासक हैं, जो शिवका ही एक रूप है। हड्डियोंकी माला, खप्परकी थाली और मरघट वास, इन तीन साधनोंसे वह ईश्वरके अनुरूप बनना चाहते हैं। इनमें अघोरपन्थी कापालिक चामुण्डी या करालादेवीको नरबलि भी देनेके पक्षमे थे। तान्त्रिक पूजाके प्रधान केन्द्र तीन थे—केरल, कश्मीर और बंगाल। पाँच मकारोंका सेवन इनमे आवश्यक समझा जाता था। परन्तु केरलमे इनके स्थानमे दूधका प्रयोग होता था। कश्मीरमें केवल भावना की जाती थी। इन वस्तुओंका प्रत्यक्ष दान केवल बंगालमें प्रचलित था।

६. हठयोग

नाथमत या सिद्धमत, अपभ्रंश साहित्यके द्वितीयार्ध कालमें महत्त्वपूर्ण विचारधारा रही है। इसके उपास्य शिव हैं। बौद्ध और शैवतन्त्र मतोंका इसपर पूरा प्रभाव है। वैसे तो आदिनाथ (जो स्वयं शिव ही हैं) इस मतके आदि संस्थापक कहे जाते है। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथसे यह मत चला। यह ९वींके मध्यमे हुए। अनुश्रुति है कि यह स्त्रीदेश (आसाम) मे जाकर कौलमार्गमें फँस गये थे। बादमे उनके शिष्य गोरखनाथने इनका उद्धार किया, मत्स्येन्द्रनाथको तन्त्रवादियोंका सृष्टिक्रम मान्य था। यद्यपि इनकी शक्ति उन्होंने नहीं मानी। तन्त्रवादी सत्कार्यवादी थे।

कौल और योगीका साधनाकी दृष्टिसे एक ही लक्ष्य था। भेद यही है कि कौल तान्त्रिक बाह्य-उपासनाके बाद, अन्तरंग उपासना (कुण्डलिनी शक्तिको प्रबुद्ध करना) करते थे, परन्तु नाथयोगी केवल अन्तरंग उपासना पर जोर देते थे। कौलमार्गमें मदिराका संस्कार करके उसके सेवनका विधान है। वे मन्त्रपूत कुल द्रव्यको सेवनीय समझते हैं। पर योगी इनका योगपरक अर्थ करते है। कौलमतमें सुरासुन्दरीके प्रवेशका सूत्र उत्तरी

देशमें प्रचलित यक्ष पूजासे बताया जाता है। यक्ष एक विलासप्रिय देव जाति थी। कई यक्ष बौद्धधर्मके उपास्य देवता बन गये। यहींसे उसमें रहस्यमयी तान्त्रिक धर्मसाधना चल पड़ी, जो धीरे-धीरे दूसरे मतोंमें फैल गयी। चर्याश्चर्यविनिश्चयकी टीकामें 'दाऊड़ीपाद' के एक श्लोकका यह भाव है कि प्राणी वज्रजंघ है, और जगत्की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं, यानी कापालिनी साधक हैं, और 'हेरुक' भगवानकी मूर्ति है। इसीसे यह कापालिक साधना कहलाती है। इसमें ये निम्न बातें मान्य है—(१) चक्रमे विश्वास, (२) शिव और जीवमे अभिन्नता, (३) योगसे चित्तकी चंचलताको रोकना, (४) शक्तियुक्त शिवकी सामर्थ्यमें विश्वास, (५) पंचामृतमे श्रद्धा, (६) शिव ज्ञेय है, शक्ति उपास्य है !

योगी अक्षय निरंजन शून्यको नमस्कार करते हैं, परन्तु वह महासुखका प्रतीक है; क्योंकि सहजयानी या वज्रयानी शून्यको निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक मानते हैं। दूसरे वह शरीरमे ही चरमप्राप्तव्य स्वीकार करते हैं।

तान्त्रिक चित्तको वशमे करना आवश्यक समझते थे, परन्तु कामनाओं के भोगके बिना चित्त क्षुब्ध हो सकता है। उससे साधना मिट्टीमें मिल जायेगी। अतः दमन नही, उनका उपभोग किया जाये, फलतः शून्यता और अभावोंसे मुक्ति पानेके लिए सुरा-सुन्दरीकी आवश्यकता अनिवार्य हो उठी।

वस्तुतः गोरखनाथने योगमतको व्यवस्थित किया—एक तो उन्होंने शैवोंके प्रत्यभिज्ञा दर्शनके आधारपर काया योगके साधनोंको व्यवस्थित किया। दूसरे आत्मानुभूति और शैव परम्पराके सामंजस्यसे चक्रोंको नियत कर दिया। तीसरे तन्त्रमतके पारिभाषिक शब्दोंका पारमार्थिक अर्थ किया और लोक भाषामें उपदेश शुरू किया।

७. शिव और जिन

हम गत अध्यायोंमे इन दोनोंकी तुलना और विरोध देख चुके हैं। इसका कारण क्या है। वैसे भारतीय इतिहासमें शिवके कई व्यक्तित्व हैं। महाभारत युगमे शिवकी उपासना थी। यद्यपि इतिहास और पुराणमे इसका निर्देश नही है। (भा० जा० मे ५७) शिवसे जिनके विरोधका कारण, आलोच्यकालमें दोनोंके उपासकोंका सहअस्तित्व था, क्योंकि छठी शतीसे लेकर १२वी तक शिवमतका दक्षिण भारतमें काफ़ी प्रचार था।

इसके बाद वीरशैव मत फैला। इस युगके संस्कृत काव्योंमें शिव-साधनाओं का उल्लेख है[1]। वैसे पौराणिक धर्म होनेसे विष्णुमत भी था। पर उतना प्रभावशाली नहीं था। दूसरी ओर ६ से ११वीं सदी तक जैनधर्म भी दक्षिण भारतमें (गंग, कदम्ब, और राष्ट्रकूटोंके शासनकालमें) खूब फल-फूल रहा था[2]। वह अधिक प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न था। बादमें भी उसके प्रति राज्योंका सहिष्णुताका भाव रहा। समान क्षेत्र होनेसे दोनोंमें संघर्षकी सम्भावना थी, फिर राज्याश्रयकी लालसाने इसे और उकसाया। दोनोंके साहित्यमें परमतको पराजित करनेकी गर्वोक्तियाँ अंकित हैं। कई स्थानोंपर वीर शैवोंने मार-काटके साथ जैन मूर्तियोंको तोड़ा-फोड़ा भी[3]। आलोच्य साहित्यमें यद्यपि स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं है, पर विरोधी मतोंके निर्दयतापूर्वक दमनकी घटनाएँ अवश्य अंकित हैं (देखो वस्तुतत्त्व) किन्तु शैवोंके प्रति उग्र विरोधका स्वर स्पष्ट रूपसे मिलता है। कभी-कभी खुले शास्त्रार्थ भी हो जाते थे। इस विवाद और विरोधमें जैन लेखकोंके आक्षेप इस प्रकार थे।

(१) शैवशास्त्र आधारशून्य है। (२) शिव सर्वज्ञ नहीं हो सकते। (३) जो कर्म करता है वही मुक्त होता है। (४) शिव तीर्थंकर नहीं हो सकते। (५) पशुबलि घोर पाप कर्म है।

इसके विरुद्ध शैवोंकी मान्यता थी –

(१) शिव ही आदि तत्त्व है। (२) शिव तीर्थंकरोंका भी गुरु है। (३) जीवका कर्म और मुक्ति शिवके अधीन है। (४) तान्त्रिक शैव मतमें पशुबलि आवश्यक थी।

इससे भी मुख्य विषय विवादका यह था कि जिन और शिवमें बड़ा कौन है। आलोच्य साहित्यके जो भक्तिगीत हमने दिये हैं उनमें शिवसे जिनको बडा बताया है। पुष्पदन्तने (म० पु० २।५०८) लिखा है कि जो खोटे गुरुकी सेवा करता है, (चाहे वह देव ही हो) घोर पापका भागी होता है। यहाँ गुरुसे तात्पर्य शिवसे ही है। यह होते हुए भी दोनों एक दूसरेसे काफ़ी प्रभावित हैं। उदाहरणके लिए सुधारवादी लिंगायत

---

१. मालतीमाधव, हर्षचरित, कर्पूरमंजरी, यशस्तिलकचम्पू आदि।

२. दक्षिण भारतमें जैनधर्मसे राज्याश्रय और उसका अभ्युदय (अने० किरण ११।१६५३) रामचन्द्र एम० ए०।

३. मि० जैनिज्म, १८४।

सम्प्रदायमें ये बातें मान्य समझी गयीं—

(१) वर्ण व्यवस्थाका विरोध। (२) ब्राह्मणकी उपेक्षा (३) वेदोंकी अमान्यता (४) शिवको ही एक महान् देवताके रूपमें स्वीकार करना। (५) जन्मान्तरका विरोध।

अन्तिम दो बातें छोड़कर शेषपर विरोधी मतका प्रभाव माना जा सकता है जिनपर भी शिवका प्रभाव पड़ा है। एक ओर तो शिवके बाह्य प्रतीकोंको श्लेष और विरोध शैलीके द्वारा जिनमें घटाकर उनमें एकता सिद्ध की गयी, दूसरी ओर प्रतीकोंकी अध्यात्मपरक व्याख्या की गयी। इस प्रकार स्थूल विरोधका, नये सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ, और ईश्वरकी नयी परिभाषासे समाधान किया जाने लगा। इस आध्यात्मिक उदार दृष्टिकोणसे सामाजिक कटुता एक सीमा तक कम हुई। देवताविषयक यह खींचतान हिन्दू देवताओंमें भी देखी जाती है। परवर्ती युगका शिव-विष्णु विवाद इसका उदाहरण है। इस विवादका एक कारण अद्वैतवाद-द्वारा एक देवकी प्रतिष्ठा कर देना भी था। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने उपास्यको सर्वमान्य बनानेके लिए प्रयत्नशील था। हनुमन्नाटक (१०वीं) के मंगल श्लोकके अनुसार, जिसे शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक कर्ता, जैन अर्हत् और मीमांसक कर्म कहते हैं – वह त्रिलोकीनाथ ही है[१]। इस प्रकारके उद्गार हम अवतरित अपभ्रंश गीतोंमें देख चुके हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि विष्णुके प्रति ये लेखक मौन हैं। यद्यपि विष्णुकी सत्ता भी उनके युगमें थी। तत्कालीन जैन संस्कृत-साहित्यमें भी विष्णुकी चर्चा कम हो है। डॉ० हान्दिकोने इसके निम्न-लिखित कारण दिये हैं—

(१) राष्ट्रकूटकालमें वैष्णव धर्मकी उपेक्षा।

(२) शैवधर्मका अधिक शक्तिसम्पन्न होना।

(३) त्रिमूर्तिके रूपमें विष्णुका भी समाहार होना।

वस्तुकला और साहित्यिक प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि आलोच्य कालमें विष्णुमतकी अपेक्षा शैवमत ही अधिक प्रभावक और संगठित था। इसका कारण विष्णु धर्मका अहिंसक होना भी है। यही कारण है कि विरोधकी जगह विष्णु-सम्बन्धी उपमाएँ आलोच्य साहित्यमें खूब मिलती हैं। हिन्दू-परम्परामें राम और कृष्ण विष्णुके अवतार हैं। जब कि जैन

१. वि० ध० द० २६५।

परम्परामें कृष्ण और लक्ष्मण वासुदेव हैं। अतः अपभ्रंश कवियोंने लक्ष्मण-को भी कृष्ण या विष्णु कह दिया है। हिन्दी कवि जायसीने भी विष्णुके अर्थमें कृष्ण शब्दका प्रयोग किया है। विष्णुके अवतार राम और कृष्णका चरित तो आलोच्य साहित्यमें आ ही गया, अपने ग्रन्थोंके प्रारम्भमें ये कवि उनके चरितके सम्बन्धमें हिन्दू मान्यताओंका खण्डन भी कर देते हैं, पर शिवके विषयमे ऐसी सुविधा उन्हें नहीं थी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कुछ विद्वान् शिवको अनार्य देवता मानते हैं जब कि दूसरे आर्य[1]। वेदमें रुद्र शब्द आया है पर वह शिवके अर्थमें नहीं, 'शिश्न' का अर्थ लिंग होता है। हमारी धारणा यह है कि आलोच्य साहित्यमे शिवका अधिक उल्लेख केवल तात्कालिक साम्प्रदायिक तनातनी-के कारण ही नहीं किन्तु उसका एक ऐतिहासिक कारण भी है और यह एक तीसरी विचारधाराकी ओर संकेत करता है। जैन विद्वानोंने रिसभ और शिवमे कई बातें समान लक्षित की हैं।[2]

(१) शिवपुराणमें रिसभको शिवका अवतार माना गया है।[3]

(२) रिसभ जिनने शिवरात्रिको ही मोक्ष प्राप्त किया। पंचांगके भेदसे यह तिथि उत्तर-दक्षिण भारतमें अलग-अलग पड़ती है।

(३) रिसभका चिह्न बैल है, शिवजीकी सवारी भी नन्दी बैल है।

(४) शिवके जटाजूट प्रसिद्ध हैं। रिसभकी पुरानी मूर्तियोंमें जटाएँ हैं। वर्ष-भरकी तपस्यासे उनके बाल काफ़ी बढ़ गये थे। कवि स्वयम्भूने इसका वर्णन यों किया है—"रिसभकी हवामे उड़ती हुई जटाएँ ऐसी मालूम होती थी कि जलती हुई आगकी धूमिल लपटें हों," उनकी जटाजूटवाली प्रतिमाएँ इसी तपस्वी जीवनकी स्मारक थीं।

(५) रिसभदेव नग्न मुद्रामें जब आहारके लिए नगरमें गये तो स्त्रियोंने उन्हें कामदेव समझा था। वामनपुराणमें (अध्याय ४३ श्लोक ५१।६९) वर्णन है कि महादेव नग्नवेशमें नवीन तापसका रूप धारण कर जब मुनियोंके तपोवनमे आये तो मुनिपत्नियोंने उन्हें घेर लिया। मुनि-जन अपने ही आश्रममे अपनी ही पत्नियोंकी ऐसी अभद्र कामातुरता देख-

---

१. भ०-द० पृ० ११, २१।

२. अने० पृ० ६६, जुलाई १९५३ और वर्ष १२, किरण ६।

३. इत्थं प्रभाषं ऋषभावतारः शंकरस्य मे। सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितः स्तवनः ॥—शिवपुराण। (४७)

कर 'मारो-मारो' कहते हुए काष्ठ पाषाण आदि लेकर दौड़ पड़े।

(६) रिसभने कैलासपर तप किया और कामवासनाको जलाया। शिवने भी हिमालयमें काम दहन किया। वह कैलासवासी तो हैं ही।

(७) रिसभ आदिदेव कहलाते हैं। शिवको भी शिवपुराणकी धर्म-संहितामें आदिदेव कहा गया है।

(८) रिसभने धर्म तीर्थकी स्थापना की, इसीसे वृषभनाथ भी कहलाते हैं। शिव तो वृषभनाथ हैं ही।

(९) जय भगवान्‌जीका कहना है कि शिवका अलंकृत वर्णन है। प्राचीन समयमें भाषा और लिपि चित्रशैलीकी थी। इसीमें अध्यात्म तत्त्वका निरूपण किया जाता था। गुरु-शिष्य परम्परा टूटनेपर उस शैलीका समझनेवाला कोई नहीं रह गया। फलतः सांकेतिक भाषाके लिए स्थूल अर्थ चल पड़े। तभी तो कालिदासको कहना पड़ा—"न सन्ति यथार्थ-विदः पिनाकिनः" वस्तुतः यह प्रतीकवाद है। उक्त विद्वान्‌के अनुसार इन प्रतीकोंका अर्थ यह है।

पार्वती—मानव शरीरमें मेरुदण्डकी रचना तैंतीस पर्वोंसे हुई है। पर्व जिसमें हो वह पर्वत है। उसमें रहनेवाली पुत्री पर्वतराजपुत्री हुई। इसकी गति शिवकी ओर है। वह शिव स्वरूप है। शिवकी प्राप्ति तपस्यासे होती है। शिव-पार्वतीके विवाहका यही रहस्य है।

शिव—(१) संसारका संहार करते हैं और योगी हैं। भगवान् रिसभने भी संसारका नाश किया योग साध कर। (२) शिवलिंग अमृतत्वकी प्राप्तिका प्रतीक है। (३) विषपानसे तात्पर्य आसुरी वृत्तिके नाशसे है। (४) भस्मासुर, त्रिपुरदाह, बाहर नहीं, भीतर होता है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोकना ही त्रिपुरदाह है। (५) त्रिशूल सम्यक्‌दर्शन, सम्यक् ज्ञान और चरित्रका प्रतीक है। (६) सूर्य = ज्ञानका प्रतीक है। अज्ञानके लिए वह काल है। म० भा० के पुरातत्त्व संग्रहालय-में योगेश्वरकी जो मूर्ति है वह रिसभ जिनसे मिलती है। ऋग्वेदमें दो जगह शिश्नदेव और केसीका वर्णन है। इन्द्रसे प्रार्थना है (म० ७, २१, ५) कि वह शिश्नको यज्ञके पास न आने दें। यह भी लिखा है (म० १, ९९, ३) कि इन्द्रने शिश्न देवोंका वध किया। जो भी हो, जिन और शिवकी तुलना एक नवीन विचारधाराको अग्रसर करती है।

८. संदेशरासक और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने एक शिष्य विश्वनाथ त्रिपाठीके सहयोगसे 'संदेशरासक' का हिन्दी अनुवाद किया है, जो हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकरसे प्रकाशित है। इसमें संदेशरासकके पाठोंपर कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। यहाँ कुछ सुझाव विचारार्थ प्रस्तुत हैं। अब्दुल रहमानने अपने बारेमें कहा है –

> पच्चुएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
> तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥
> तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वे सुगीयविसयेसु।
> अद्दहमाण पसिद्धो संनेहरासयं रइयं ॥

अभीतक इसका जो अर्थ किया जाता रहा है और जो श्री त्रिपाठीने भी मूलमे दिया है वह यह है—

"पश्चिममें प्राचीनकालसे अत्यन्त प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है उसी प्रदेशमें मीरसेण नामक तन्तुवाय हुआ। उसके पुत्र अद्दहमान ने, जो अपने कुलका कमल था, और प्राकृत काव्य और गीत विषयमें प्रसिद्ध था, संदेशरासककी रचना की।"

डॉ० द्विवेदीने अपनी प्रस्तावनामें कुछ पाठोंके नये अर्थ ध्वनित किये हैं। आरद्दका अर्थ उन्होंने जुलाहाके स्थानपर गृहआगत किया है। इसी प्रकार पच्चाएसिका अर्थ है प्रत्यादेश, और अद्दहमानका अर्थ है आहत यश या सुरक्षित यशवाला। इन दो अर्थोंको स्वीकार करवानेके अनन्तर वे कहते हैं—पच्चाएसि और मिच्छ देशके क्रमश दो अर्थ होंगे—१ पश्चिम देश और निराकरण, २ म्लेच्छ देश और मिथ्या विश्वास। ऐसा जान पड़ता है कि मोरसेनने ही पूर्वधर्मका त्याग कर मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। मानो कविने अपने पिताको म्लेच्छ दिशाका निवासी कहनेके साथ ही यह इंगित करना चाहा है कि उसके पिताने जो मिथ्या देशनाका परित्याग किया उसीके पुण्य प्रतापसे यह कुलकमल कवि, उसीके घर उत्पन्न हुआ। मोरसेन धर्मान्तरित होनेके बाद पूर्व देशमे आ गये थे। वहीं अब्दुल रहमानका जन्म हुआ।

इसके बाद डॉ० द्विवेदी लिखते हैं—

"अब्दुल रहमानमें भारतीय साहित्यके संस्कार पूरी मात्रामें थे। रिजलीने बहुत पहले बताया था कि जुलाहे पंजाबसे ढाका तक एक

धनुषाकृति भूखण्डमें बसे हुए हैं और जान पड़ता है कि किसी समय वे सामूहिक रूपसे मुसलमान हुए थे। मैंने अपनी कबीर नामक पुस्तकमें बताया है (विस्तारपूर्वक पृ० १२-१४) कि किन कारणोंसे धीरे-धीरे ये जुलाहे मुसलमान हुए, और पीढ़ियों तक उनमें हिन्दूसंस्कार बने रहे। कबीर आदि इसी धर्मान्तरित जातिमें उत्पन्न हुए।" सन्देशरासकके ये दो छन्द मेरे अनुमानको पुष्ट करते हैं। इस प्रकार समासोक्ति छलसे सन्देशरासकके कविने दूसरा ही अर्थ ध्वनित किया है, जो बिलकुल साफ़ है। यह दूसरा अर्थ होगा, 'पूर्व देशमें जो मिथ्या विश्वास व्यापक रूपसे फैला हुआ है उसके प्रत्याख्यानके पुण्यसे मीरसेनके घरमें उसी मिथ्याधर्मके देशमें, एक आरद्द (घर आया हुआ) पुत्र और जुलाहा उत्पन्न हुआ, जो उसके कुलका कमल सिद्ध हुआ। कमल जिस प्रकार कीचड़में उत्पन्न होता है, उसी प्रकार छोटी जातिमें यह कवि उत्पन्न हुआ। जिसका मान प्राकृत काव्य और गीत विषयमें सदा सुरक्षित रहेगा। अतः उसका अद्दहमाण नाम पूर्णतः उचित है। ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेके बाद मीरसेन जीविकाके लिए या किसी अन्य कारणसे पूर्वकी ओर बढ़ आये थे। वहीं अब्दुल रहमानका जन्म हुआ। 'तह विसए संभूओ' की ध्वनि यही है।'

डॉ० द्विवेदीके सारे निष्कर्ष, कुछ शब्दोंकी अर्थान्तर परिकल्पनापर निर्भर हैं। ये शब्द हैं आरद्द, पच्चाएसि, अद्दहमाण और मिच्छ। पर इन निष्कर्षोंको स्वीकार करनेमें सबसे बड़ी ऐतिहासिक असंगति यह है कि कबीर और उनकी परिस्थितिसे अब्दुलरहमान और उनकी स्थितिको नहीं आंका जा सकता। अब्दुलरहमानके समय मुसलमानोंका प्रवेश सिन्ध और पंजाब तक सीमित था। जुलाहोंने सामूहिक रूपमें धर्म-परिवर्तन किया होगा, लेकिन वह बहुत बादकी घटना है। रहमानकी कवितामें हतवीर्य और निराश जनताकी भावना कहीं नहीं है। पूर्व प्रसिद्धका अर्थ होगा पहलेसे प्रसिद्ध न कि पूर्वमें प्रसिद्ध। इतिहाससे प्रमाणित है कि अरब आक्रमणके समयसे सिन्ध मुसलमानोंके हाथमें जा चुका था। अतः पूर्व प्रसिद्ध म्लेच्छ देश, पश्चिमी भारतका भूभाग ही हो सकता है। रहमानने शब्दोंको भारतीय अर्थोंमें ही प्रयुक्त किया है। म्लेच्छ शब्द अभारतीय धर्मके अनुयायीके लिए यहाँ प्रयुक्त है। फिर इसके लिए कि वह पूर्वमें क्यों आये, डॉ० द्विवेदीने कोई प्रमाण नहीं दिया। मुसलमान

धर्म स्वीकार करनेके बाद मीरसेन पूर्वमें क्या जाते वहाँ अभी हिन्दू-बस्ती थी। यदि रहमान पूर्वी भारतके थे तो उनकी भाषामें वहाँका पुट होना चाहिए। उनकी कथावस्तु थोड़ी-सी पूर्वी भारतसे सम्बन्ध रखती। परन्तु सन्देशरासककी कथावस्तु मुलतान और खम्भातसे सम्बन्धित हैं। कविने मुलतानका जो सजीव चित्र खींचा है, उससे लगता है कि उससे उसका निकट सम्बन्ध था। पूर्व भारतमें रहकर रहमान कैसे यह चित्र दे पाते। अतः रहमानकी सीधी-सादी बातको बिना किसी विच्छित्ति-विशेषके ही स्वीकार किया जाना चाहिए। 'पाइयसद्दमहण्णवो' में आरद्धके तीन अर्थ हैं—१. बढ़ा हुआ, २. सतृष्ण, ३. घरमें आया हुआ। यहाँपर आरद्दो शब्द है। आरद्द और आरद्धको एक नहीं माना जा सकता। प्राकृतशब्दमहार्णवमें इसका उल्लेख नहीं है। हो सकता है यह प्राकृत भाषाओंकी नयी उपलब्धि हो। उसके स्रोतकी खोज होनी चाहिए। फिर गृह आगतका प्रस्तुत सन्दर्भमें कोई अर्थ नहीं बैठता। अतः उक्त श्लोकोंका सीधा-सादा अर्थ ही उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार रहमानने जो अपने-आपको कविकुलकमल कहा है वह हीनभावसे नहीं, वह कहनेका एक ढंग है। यह भी उल्लेखनीय है, जहाँ रहमान बहुत-सी काव्य-परम्पराओंका निर्वाह अपने काव्यमे करते हैं वहाँ अपनी कवि-परम्पराके बारेमें वह चुप हैं। उन्होंने जो प्राकृत काव्यों और गीतविषयोंमे स्वयंको प्रसिद्ध बताया है वह भी विचारणीय है। वस्तुतः यहाँ गीतविषय विशेषण है और प्राकृत काव्य विशेष्य। इसका अर्थ होगा प्राकृत काव्यके गीतोंमें जिसे प्रसिद्धि प्राप्त है। प्राकृत काव्य और गीत विषयको अलग रखनेमे अर्थ नहीं जमता। प्राकृत काव्यमें कई विधाएँ हैं, उनमें एक विधा है गीत। कवि रहमान इसीमें अपने-आपको निपुण बताता है। सन्देशरासककी प्रबन्ध-शैलीसे भी इसका समर्थन होता है। उसमे बहुत-से पद्य उद्धृत भी हैं। भाषाकी दृष्टिसे सन्देशरासकमें परिनिष्ठित अपभ्रंशका परवर्ती विकास मिलता है। काव्यकी पूर्व परम्परा बताते हुए कविने अवहट्ट, संस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओंके नाम गिनाये हैं। अपभ्रंशका नाम उसमें नहीं है। अवहट्ट और अपभ्रंश एक नहीं। अपभ्रंशका अपभ्रंशमें अवहंस रूप होगा, अवहट्ट नहीं। एक कवि सब भाषाओंका उल्लेख तो करता है, पर उसका नहीं करता जिसमें वह स्वयं लिख रहा है, इसका एक ही कारण हो सकता है कि रहमान अपभ्रंशको प्राकृत काव्यके अन्तर्गत लेते हैं। अपभ्रंशको प्राकृतमें लेनेको

परम्परा पुरानी है। अवहट्टका सबसे पहले उल्लेख क्या अभिप्राय रखता है। ऐतिहासिक परम्परामें पहला नाम संस्कृतका होना चाहिए। लगता है कविने अवहट्टसे अपनी निकटता बतानेके लिए ऐसा किया होगा। अपभ्रंशसे रहमान अपरिचित नहीं थे, उन्होंने अपभ्रंश कवि चतुर्मुखका उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि यदि चतुर्मुख कह चुके तो क्या दूसरे लेखक न कहें। कवि रहमान यह मानते हैं कि अपनी प्रतिभाके प्रकाशनका सबको अधिकार है। डॉ० द्विवेदीने 'णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिठ्ठु' का सम्बन्ध त्रिभुवन स्वयंभूसे जोड़ा है। वस्तुतः त्रिभुवनका अर्थ यहाँ तीनों लोक है न कि स्वयंभू कविका बेटा त्रिभुवन, जिसने अपने पिताकी अधूरी रचनाएँ पूरी कीं। त्रिभुवन इतना प्रसिद्ध कवि नहीं था। यदि रहमान किसी अपभ्रंश कविका उल्लेख करना ही चाहते तो वह स्वयंभूका होता, त्रिभुवनका नहीं। अतः उक्त प्रसंगका ठीक अर्थ तीन लोकोंसे ही लगता है।

सन्देशरासकके अन्तिम छन्दको लेकर भी डॉ० द्विवेदीजीने विशेष कल्पना की है। इस छन्दके अन्तिम चरणमें पाठ है—'जयइ अणाइ अणंतु।' दूसरी प्रतिमें पाठ है 'जयउ अनाइत्तु अन्तु'। इसका अर्थ डॉ० द्विवेदी करते हैं—'अनागत अन्त' यानी क़यामतका दिन। वह कहते हैं—'उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालोंके अनागत अन्तकी जय हो, अर्थात् पढ़ने-सुननेवालोंकी जो इच्छा हो उसका अन्त भविष्यमें जययुक्त होवे'। यह भगवान्की स्तुति न होकर भरतवाक्य हो जाता है। अनागत अन्तका अर्थ है क़यामतका दिन। यह पाठ कविको निश्चित रूपसे मुसलिम धर्मानुयायी सिद्ध करता है। अब्दुलरहमान मुसलमान थे, यह नामसे ही सिद्ध है। पाठकोंकी शुभकामना इस अर्थमें ही हो जाती है कि जिस प्रकार एक क्षणमें उसका (नायिकाका) अर्थ सिद्ध हो गया, उसी प्रकार पढ़नेवालोंका भी सिद्ध हो। अनादि-अन्त पाठको मैं इसलिए ठीक समझता हूँ कि ग्रन्थके आदिमें जैसे उसने ईश्वरका नाम स्मरण किया है, वैसे ही अन्तमें भी वह उसकी जय करना चाहता है। फिर अनागत अन्तका 'क़यामतका दिन' अर्थ करनेपर आशीर्वादात्मक भरतवाक्यका उद्देश्य भी पूरा नहीं होता। एक तो यह नाटक नहीं है। दूसरे अब्दुल रहमान यह जानते होंगे कि उनके अधिकांश पाठक क़यामतके दिनकी अपेक्षा पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। जब समूचे ग्रन्थमें कवि साम्प्रदायिक आग्रह नहीं दिखाता तो यहाँ उसकी कल्पना क्यों की जाये।

९. डॉ० कीथ और अपभ्रंश

संस्कृत भाषाके विकासके सन्दर्भमें डॉ० ए० बी० कीथने भाषाके रूपमें अपभ्रंशके अस्तित्वमें सन्देह प्रकट किया है। लगता है डॉ० कीथने स्वतन्त्र रूपसे अपभ्रंशपर विचार नहीं किया। असलमें सर जार्ज ग्रियर्सनकी अपभ्रंश-सम्बन्धी धारणाओंके खण्डनके प्रसंगमें उन्होंने अपभ्रंशपर अपने निष्कर्ष बड़ी स्पष्टतासे दिये हैं। उनके निष्कर्षोंका श्रीगणेश सर ग्रियर्सनके विचारोंके खण्डनसे होता है और अन्त भी उसीसे। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० कीथने अपने विवेचनमें गहरी पकड़, तर्कशीलता और अध्ययन-शीलताका परिचय दिया है; पर जैसा कहा जा चुका है कि उनके विचार सर ग्रियर्सनकी स्थापनाओंकी प्रतिक्रियाके सन्दर्भमें व्यक्त हुए हैं, इसलिए उसमें अपभ्रंशके बारेमें एकदेशीय विचार ही आ सके हैं। सरलताके लिए डॉ० कीथके विचार दो श्रेणियोंमें रखे जा सकते हैं—वे क्या मानते हैं और वे क्या नहीं मानते हैं।

१. डॉ० कीथ नहीं मानते कि अपभ्रंश प्राकृतोंसे अलग कोई जनबोली थी। अत: ग्रियर्सन साहबने जो विभिन्न अपभ्रंशोंके आधारपर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंके उद्गमकी कल्पना प्रस्तुत की है वह डॉ० कीथ नहीं मानते।

२. वह मानते हैं कि अपभ्रंश, प्राकृतसे भिन्न साहित्यिक भाषाओंको बतानेके लिए प्रयुक्त होता था। इसके लिए उन्होंने दण्डी, भामह और गुहसेन राजाके अभिलेखोंको प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

३. वह मानते हैं कि महाराष्ट्र और कश्मीरमें अपभ्रंशोंका अस्तित्व था भी नहीं। वहाँ प्राकृतोंसे सीधे आधुनिक भाषाओंका जन्म हुआ।

४. वह मानते हैं कि मूलमें अपभ्रंश, प्राकृतमें अपने बोल-चालकी भाषाके अंशके विकासके लिए किये गये प्रयत्नका परिणाम था। यह एक तरहसे प्राकृतको सरल बनानेका ही प्रयत्न था।

५. वह मानते हैं कि अपभ्रंशकी प्रारम्भिक अवस्थाका मुख्य आधार महाराष्ट्री प्राकृत थी, परन्तु कभी शौरसेनी भी।

६. वह मानते हैं कि व्राचड अपभ्रंशके जो लक्षण थे उनको इन अपभ्रंशोंमें परिष्कृत कर लिया गया।

७. वह मानते हैं कि पूर्वी अपभ्रंशका आधार अन्ततोगत्वा, मागधी नहीं, पश्चिमी उद्भव है।

ठीक इसी प्रकार उनके कुछ प्रतिषेध हैं।

१. वह नहीं मानते हैं कि अपभ्रंश बोलचालकी भाषा थी।

२. वह नहीं मानते कि आधुनिक मराठीका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंशसे हुआ।

३. वह नहीं मानते कि आधुनिक जन-साधारणकी भाषाओंको बनानेमें अपभ्रंशका आवश्यक रूपसे हाथ था।

इस सन्दर्भमें सबसे मनोरंजक बात यह है कि डॉ० कीथके शेष निष्कर्ष सर्वमान्य हैं।[1] अपभ्रंशके विकासको जो रूप-रेखा उन्होंने दी है, वह बहुत कुछ मौलिक है। अपभ्रंशकी प्रारम्भिक अवस्थाका मुख्य आधार महाराष्ट्री प्राकृत (कभी शौरसेनी) को स्वीकार कर लेनेपर फिर डॉ० कीथको यह माननेमें आपत्ति नहीं कि एक बार जब आभीर और गुर्जर राजाओंके प्रयत्नके द्वारा अपभ्रंश लोकप्रिय हो गया तो इसका विस्तार पश्चिमके भी बाहर होने लगा और जैसा कि रुद्रटने कहा है कि विभिन्न स्थानीय अपभ्रंश हो गये। डॉ० कीथकी उक्त मान्यताओं और अमान्यताओंका एक मात्र सार यही है कि वे अपभ्रंशको बोल-चालकी भाषा स्वीकार करनेके पक्षमें नहीं। यही बात कुछ आलोचकोंने संस्कृतके बारेमें कही थी, इसपर डॉ० कीथने कई तर्क देकर सिद्ध किया है कि संस्कृत बोल-चालकी भाषा ही नहीं थी, स्वयं पाणिनि उसके बोल-चालके रूपको ध्यानमें रखकर अपने व्याकरणके बहुत-से नियम बनाये हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंकी भूमिका ग्रहण करनेके लिए प्राकृतकी अन्तिम अवस्था अपभ्रंश भूमिकाको भी पार करना पड़ा है। उसका आधार, संस्कृत प्राकृतोंकी तरह पश्चिमी था। व्याकरणके सन्दर्भमें यह भी हम देख चुके हैं कि अपभ्रंशमें प्रायः सभी प्राकृतोंकी विशेषताएँ मिलती हैं। फिर एक-दो विशेषताओंके मिलने या न मिलनेसे भाषाके समूचे स्वरूपको सन्दिग्ध नहीं ठहराया जा सकता। आखिर भाषा एक सचेतन ऐतिहासिक प्रक्रिया है। अपभ्रंशकी एक विशेषता यह है कि उसके साहित्यका स्वभाव और स्वरूप बहुत-कुछ सीमित और भिन्न है। अपनी इन दोनों बातोंसे उसने परवर्ती साहित्यको काफ़ी हद तक प्रभावित किया। प्रश्न है कि क्या ऐसा भी साहित्य परम्पराको प्रभावित कर सकता है कि जिसकी

१. देखिए, संस्कृत साहित्यका इतिहास, अपभ्रंश शीर्षक पृ० ३३ से ४१ अनुवाद, द्वारा डॉ० मंगलदेव शास्त्री।

जड़ें धरतीमें न होकर आसमानमें हों। जिन लोगोंका ध्यान अपभ्रंशमें साहित्य निर्माणके लिए आकृष्ट हुआ वह इसलिए नहीं कि उन्हें जनताके सम्मुख प्राकृतको सरल रूपमें रखना था, प्रत्युत इसलिए कि अपभ्रंश उनके समय उठती हुई लोकप्रिय जीवित भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुतः किसी क्षेत्रीयताका प्रतिनिधित्व नहीं करती। उसमें जो व्यंजनोंके लोपकी प्रवृत्तिकी बहुलता है वह शौरसेनी और उसकी समकक्ष प्राकृतोंका परवर्ती विकास है। इस विकासका अपभ्रंशपर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। जिस प्रकार प्रादेशिक प्राकृतोंको स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार प्रादेशिक अपभ्रंशोंको भी स्वीकार करना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो केन्द्रित भाषाकी उपयोगिता व्यर्थ प्रमाणित हो जाये। नयी बोलियाँ आकाशसे नहीं आतीं वे धरतीकी परिस्थितियों और मनुष्यके मुखकी उच्चारण स्थितियों और मानसिक चिन्ताओंसे स्वरूप ग्रहण करती हैं। सारे उपादान पुराने होते है, उसका संयोजन नया होता है।

१०. अपभ्रंश और अवहट्ठ

अपभ्रंश और अवहट्ठको लेकर पण्डितोंमें बहुत मतभेद है। जहाँतक 'अवहट्ठ' शब्दकी प्राचीनताका सम्बन्ध है, सबसे पहले ज्योतिरीश्वर ठाकुरने १३२५ ईसवीमे इस शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने लिखा है—

"पुणु कइसन भाट, संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषक-तत्त्वज्ञ, सकारी, आभीरी, चाण्डाली, सावली, द्रावली, औतकली, विजातिया सातु उपभाषाक कुशलह[1]।" इसके बाद महाकवि विद्यापतिका यह उल्लेख मिलता है।[2]

"देसिल बअणा सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा।"

तदनन्तर, प्राकृत पैंगलके टीकाकार श्री वंशीधरका यह उल्लेख है—

"पढमं भास तरंगे णाओ सो पिंगलो जअइ।
प्रथमो भाषान्तरम्। प्रथमम् आद्या भाषा अवहट्ठ भाषा। यया भाषया अयं ग्रन्थो रचितः, सा अवहट्ठ भाषा, तस्या इत्यर्थः, तत्पारं प्राप्नोति

१. वर्णरत्नाकर ५५। ख।
२. कीर्तिलताकी प्रस्तावना।

तथा पिंगलप्रणीत-छन्दशास्त्रं प्राययावहट्ठभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोति इति भावः।"

इसके बाद आता है सन्देशरासककारका यह कथन—

"अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि—
भासाए लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं ॥"

इन अवतरणोंके आधारपर डॉ० शिवप्रसाद सिंहने अपभ्रंश और अवहट्टकी एकता सिद्ध की है।[1] वह लिखते हैं—"विद्यापतिकी चौपाई और अद्दहमाणकी गाथामें प्रयुक्त 'अवहट्ट' शब्द भी इसी भाषात्रयीके क्रमको देखते हुए अपभ्रंशके लिए प्रयुक्त मालूम पड़ता है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि अवहट्ट शब्दका प्रयोग अपभ्रंशके अर्थमें ही हुआ है। अवहट्ट शब्दकी तरह अपभ्रंशके लिए कुछ और शब्दोंका भी अनुसन्धान मिलता है, जैसे अवअँस, अवहंस, अवहत्थ आदि शब्दोंके प्रयोग प्राचीन लेखकोंकी रचनाओंमें मिलते है।" डॉ० शिवप्रसाद सिंहका कथन सचमुच भ्रान्तियोंसे परिपूर्ण है। एक शब्दका तो सही अर्थ भी वे नहीं समझ सके। अन्यत्र विस्तार और तर्कके साथ यह बताया जा चुका है कि 'अपभ्रंश और अवहट्ट' मध्य भारतीय आर्य भाषाके विकासकी दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। अवहट्ट वास्तवमें अपभ्रंशका परवर्ती विकास है। उसके सामान्य आधारको लेकर देशभाषाओंके मेलसे भाषाका जो साहित्यिक रूप विकसित हुआ वह अवहट्ट है। अवहट्ट अपभ्रष्टका तद्भव शब्द है। अपभ्रष्टका यहाँ अर्थ है 'बिगड़ी हुई भाषा।' प्राचीन समयमें जिसे 'बिगड़ी हुई भाषा' कहा जाता था, आधुनिक भाषा वैज्ञानिक शब्दावलीमें उसे 'विकसित भाषा' कहते हैं। 'बिगाड़' विकार नहीं, विकास है। जिस तरह संस्कृत और प्राकृतकी तुलनामें अपभ्रंश शब्दका प्रयोग हुआ, उसी तरह अपभ्रंशकी तुलनामें अवहट्ट शब्दकी परिकल्पना की गयी। अपभ्रंशका तद्भव शब्द होता है 'अवहंस'। स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश कवियोंने इसी शब्दका व्यवहार किया है। किसी भी अपभ्रंश कविने अपनी भाषाको 'अवहट्ट' नाम नहीं दिया। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें भी 'अवहट्ट' शब्द बारहवीं सदीके बाद ही प्रयुक्त हुआ है। निश्चय ही यह अवहट्टका समय था, न कि अपभ्रंशका। अवहंससे अव्वहंस हो सकता है, अवहट्ट कदापि नहीं। परन्तु अव्वहंसका प्रयोग भी प्रमादजन्य माना जाना

---

१. देखिए कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ० ५., प्र० सं० १९५५ ई०।

चाहिए। इसीलिए इसका प्रयोग भी विरल है। अब रह जाता है, 'अवहत्थ' शब्द। स्वयंभू कविने अपने 'पउम चरिउ' में सज्जन दुर्जन वर्णनके प्रसंगपर कहा है—

"अवहत्थेवि खलयणु णिरवसेसु
पहकिउ णिरु वण्णमि मगहदेसु।"

इसका अर्थ है, (अब) मैं समस्त खलजनोंको दूर कर (नमस्कार कर) सबसे पहले मगध देशका वर्णन करता हूँ। डॉ० शिवप्रसादने यह मूल अवतरण स्व० महापण्डित राहुल सांकृत्यायनकी पुस्तक 'हिन्दी काव्य-धारा' से अपने उक्त ग्रन्थमे उद्धृत किया है। लगता है राहुलजीने 'अवहत्थे वि' का अर्थ भूलसे 'अपभ्रंशमे' कर दिया होगा। इसी भूलके आधारपर डॉ० सिंहने भी अवहत्थको अपभ्रंश मान लिया। वस्तुतः स्वयंभूके उक्त अवतरणमें 'अवहत्थेवि' पूर्वकालिक क्रिया है। 'अवहत्थ' का तत्सम शब्द है 'अपहस्त' जिसका अर्थ होता है किसीको हाथसे धक्का देकर हटा देना। यहाँ स्वयंभू भी दुर्जनोंको दूर कर अपना काव्य प्रारम्भ कर रहे हैं। प्राकृत शब्दकोशमे[1] भी इस शब्दका अर्थ दिया है—"हाथको ऊँचा करना, त्यागना, छोड़ देना आदि। इस प्रकार 'अवहत्थ' यहाँ संज्ञा रूपमें प्रयुक्त ही नहीं हुआ। स्वयंभू या दूसरे किसी भी अपभ्रंश कविने 'अवहत्थ' को 'अपभ्रंश' नहीं कहा। शब्दरचनाकी दृष्टिसे भी अपभ्रंशसे अवहत्थ सिद्ध नहीं होता। जिन कवियों या आलोचकोंने 'अवहट्ट' शब्दका जो प्रयोग किया है वह अपभ्रंशसे भिन्नता बतानेके लिए ही। वर्णरत्नाकरकारने दो प्रकारकी भाषाओंका उल्लेख किया है। पहले वह साहित्यिक भाषाओंको गिनाता है और तब बोलियोंको। परन्तु उसका यह विभाजन वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। उदाहरणके लिए पहले वह संस्कृत, प्राकृत और अवहट्ठके नाम गिनाता है। उसके बाद पैशाची, शौरसेनी और मागधीका उल्लेख करता है, जब कि ये प्राकृत भाषाएँ ही हैं। अथवा हो सकता है कि वर्णरत्नाकरकारका प्राकृतसे अभिप्राय यहाँ अपभ्रंश ही हो। इसी प्रकार प्राकृत पैंगलका उल्लेख भी अधिक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह अवहट्ठको आर्यभाषा मानता है। डॉ० सिंहके कथनमें विरोधाभास है। वह लिखते हैं—"इसकी (अवहट्ठकी) शब्दगत शक्ति, इसे अपभ्रंशसे भिन्न बतानेमें असमर्थ है। यह

---

१. देखो, पाइअसद्द महण्णव पृ० १०६०।

वस्तुतः परिनिष्ठित अपभ्रंशकी ही थोड़ी बढ़ी हुई भाषाका रूप था और इसके मूलमें पश्चिमी अपभ्रंशकी अधिकांश प्रवृत्तियाँ काम करती हैं (पृ० ६)।' इस प्रकार डॉ० सिंह एक ओर अवहट्ठ और अपभ्रंशको अभिन्न मानते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि वह 'परिनिष्ठित अपभ्रंश' की बढ़ी हुई भाषाका रूप है। 'इस बढ़ी हुई भाषा' को ही अवहट्ठ कहा गया है। 'उसका' बढ़ना यही बताता है कि अपभ्रंशमें प्रादेशिक बोलियोंका प्रवेश धड़ल्लेसे होने लगा है। डॉ० सिंहके इस मतसे मैं भी सहमत हूँ कि "अवहट्ठ न तो पिंगलका नाम है और न मैथिल-अपभ्रंशका।" पर इसमें यह और जोड़ना चाहूँगा कि 'अवहट्ठ' अपभ्रंश भी नहीं। वह मध्ययुगीन भाषाकी एक भिन्न स्थिति है, यह स्थिति अपभ्रंशके प्रादेशीकरणसे उत्पन्न हुई। यह अवहट्ठ उस भाषासे भी सर्वथा भिन्न है, जिसे विद्यापतिने अपने समयमें 'देशी-वचन' कहा है।

११. स्वयंभूकी पूर्व और समकालीन अपभ्रंश कविता

इतिहासके अनुक्रमसे, उपलब्ध अपभ्रंश कवियोंमें, महाकवि स्वयंभू सबसे पुराने हैं। उनकी रचनाएँ अपभ्रंश कविताके पूर्ण विकासको बताती हैं, उसके प्रारम्भिक विकासको नहीं। स्वयंभू अपभ्रंशकी उस कविताके पूर्ण विकास थे जो उनसे पूर्वसे विकसित हो रही थी। स्वयंभू और उनकी कृतियोंको ही केन्द्रमें रखकर, हम इस युगका आभास पा सकते हैं। एक स्वयंभू इस युगके, स्वयं स्वयंभू कवि हैं, दूसरे उन्होंने अपने 'पउम चरिउ' में, पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य रचना शैलियोंका उल्लेख किया है। तीसरे उन्होंने स्वयंभूच्छंदमें लगभग एक दर्जन कवियोंकी रचनाओंके अवतरण, उदाहरण रूपमे दिये हैं। ये अवतरण स्वयंभू युगकी प्रवृत्तियोंको समझनेके लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, अपितु उनके युगकी अनुपलब्ध रचनाओंके अवशिष्ट चिह्न भी हैं। इन अवतरणोंके साथ स्वयंभूने इनके रचयिताओंके नामोंका भी उल्लेख किया है, इससे उनका महत्त्व और बढ़ जाता है। इससे सहज ही जाना जा सकता है कि, इस युगके निर्माणमें एक-दो अपभ्रंश कवियोंका ही हाथ नहीं, अपितु कई कवियोंका योगदान है। स्वयंभूने उन्हें सुरक्षित रखकर, भारतीय साहित्यके इतिहासमें बहुत बड़ा काम किया है। इसलिए भी उस युगको स्वयंभू युग कहना ठीक है। स्वयंभू ईसवी ८ और ९वीं सदियोंके मध्यबिन्दुमें हुए, अतः इन सदियोंकी अपभ्रंश कविताको 'स्वयंभू-युग' कहा जा सकता है। स्वयंभूके सिवा

जिन कवियोंने इस युगका निर्माण किया वे हैं चतुर्मुख, माउरदेव, शुद्धशील, जिनदास, अज्जदेव, घुत्त, छइल्ल, विअड्ढ और गोइन्द। चतुर्मुखके नामका उल्लेख संस्कृतके प्रसिद्ध कवि बाणभट्टने अपनी कादम्बरीमें किया है और स्वयंभूने अपने पउम चरिउमें। लगता है, वह स्वयंभूके पूर्ववर्ती अपभ्रंशके महाकवि थे और भारतीय साहित्यकारोंमें उनका नाम आदरसे लिया जाता था।

स्वयंभू युगकी अपभ्रंश कविताके विवेचनकी दृष्टिसे 'स्वयंभूच्छंद' का बहुत महत्व है। वह इस युगकी कविताका अलबम है। कवियों ही नहीं काव्य-विधाओं और विषय-वस्तु और रसकी दृष्टिसे भी उसमें विविधता है। प्रबन्ध और गीत कविता, पाण्डित्य और लोक जीवन, दोनोंसे सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ, उसमें संग्रहीत हैं। जिन प्रबन्ध-काव्योंके अवतरण इसमें उद्धृत है वे महाभारत और रामकथासे सम्बन्धित हैं। अपभ्रंश ही नहीं अन्य भारतीय भाषा प्रबन्ध-काव्योंकी कथावस्तु इन्हीं ग्रन्थोंसे ली गयी है। अतः अपभ्रंश कवियोंके लिए भी यह स्वाभाविक था। दूसरे अवतरण मुक्तक कवितासे सम्बन्ध रखते हैं। अवतरणोंके चयनमें छन्दकार स्वयंभूने इस बातपर विशेष ध्यान दिया है कि वे अपनी मूलकृतिकी प्रतिनिधि, और सहृदयकी दृष्टिसे रमणीय रचना हो। मुक्तक कविताके अधिकांश. अवतरण, प्रकृति चित्रण, रोमांस, सौन्दर्य चित्रण आदिसे सम्बन्धित है।

रामकथासे सम्बन्धित प्रस्तुत अवतरणमे कवि छइल्लकी, रामके जीवनपर निम्न प्रतिक्रिया है, देखिए—

> मित्तु मक्कडु सत्तु दहवअणु।
> रअ (सायरु) दुप्पगमु॥
> सो वि बंधु पाहाण खंडहिं।
> जइ राम होतइ (नर हो) लच्छि ववसायवन्तहो॥

रामके मित्र थे बन्दर और शत्रु था रावण। तो भी उन्होंने पत्थरोंसे समुद्रको बाँध लिया। जो उद्यम करते हैं, उन्हें अवश्य रामकी भाँति सफलता मिलती है। इस प्रकार रामकी उद्योगशीलताको जितना प्रभावित करती है उतनी सीताके प्रति उनकी विरह-वेदना नहीं। एक और दूसरे उद्धरणमें, अपने भाई रावणके वधपर विभीषणके शोकके वर्णनमें छइल्ल कहते हैं—

भाई-वियोए जिह जिह करइ विहीसणु सोओ ।
तिह तिह दुःखेण रूअइ वाणरलोओ ॥

अपने भाईके वियोगमें विभीषण ज्यों-ज्यों शोक प्रकट करता, वानर-समूह भी उसके दुःखमें आँसू बहाने लगता ।

विष्णुके वामनावतारकी भी घटनाका उल्लेख एक छन्दमें है ।

वामणरूव करेप्पिणु माहवु ।
वेउ पढन्त पराइउ साहउ ॥
तिण्ण पआइं करेप्पिणु सामउ ।
दानउ बंधउ सो बलिनामउ ॥

भगवान् माधव, बौना रूप धारण कर वेद पढ़ते हुए पहुँचे, तीन पगमें समूची धरतीको नापकर, उन्होंने बलि दानवको बन्दी बना लिया ।

महाभारतके बहुत कम अंश उसमें उद्धृत हैं, यद्यपि कृष्ण-जीवनसे सम्बन्धित कई अवतरण हैं । इसमें कृष्णकी चर्चा कम और गोपालकी अधिक है । यह कृष्णके व्यक्तित्वका परवर्ती विकास है । इनमें कुछ अवतरण, राधा-कृष्णकी प्रणयलीलासे सम्बन्धित हैं, जो इस बातका पहला साहित्यिक सबूत है कि महाकवि स्वयंभूके समय तक, राधा और कृष्णकी 'प्रणय भावना' का लोकमें प्रचार ही नहीं हुआ था अपितु वह साहित्यमें अभिव्यक्तिका विषय बन चुकी थी । कवि गोइन्दके अधिकांश अवतरण कृष्णके गोपाल रूपसे सम्बन्ध रखते हैं । हो सकता है स्वयंभूने किसी खास प्रयोजनसे इन्हीं अवतरणोंको चुना हो, अथवा यह भी सम्भव है कि इस प्रकारकी रचनाएँ, जो तत्कालीन अपभ्रंश काव्यधाराकी प्रमुख प्रवृत्ति समझी जाती रही हों, और जिसका पूर्वविकास हमें हिन्दीके महाकवि सूरमें दिखाई देता है । इससे यह न माननेका कोई कारण नहीं कि गोइन्दने कृष्ण गोपालपर अपभ्रंशमें कोई काव्य लिखा होगा । राधाके सौन्दर्यपर गोइन्दका निम्न छन्द स्वयंभूने उद्धृत किया है—

सव्व गोविउ जइवि जोएइ, हरि सुट्ठवि आयरेण,
देइ दिट्ठी जहिं कहिं वि राही ॥
को सक्किवि संवरेवि दड्ढवयण णेहें पलोट्टउ ॥

कृष्ण सभी गोपियोंको समान आदरसे देख रहे थे, पर नजर उनकी वहीं टिकती थी, जहाँ राधा थी । नेहसे छकी हुई आँखोंको, भला कौन रोक सकता है ।

प्रस्तुत अवतरण हेमचन्द्रके शब्दानुशासनमें भी अवतरित है, राधा-कृष्णके वैयक्तिक प्रेमका सूचक सम्भवतः यह सबसे पहला साहित्यिक अवतरण है। कवि गोइन्दने गोधनका भी सुन्दर शब्दचित्र दिया है—

ठाम ठामहिं घास संतट्ठ रत्तिहिं परिसंठिआ
रोमंथता वस चलिअ गंडिआ
दीसन्ति धवलुज्जला
जोन्हा णिहाण गोहना

ठाम-ठाम घास रखा है। रातमें बैठी हुई गायें जुगाली कर रही हैं। जुगालीमें मस्त उनके गण्डस्थल हिल-डुल रहे हैं। एक दम धौरी और उजली वे ऐसी जान पड़ती हैं मानो चाँदनी ही छिटकी हो।

इन इतिवृत्तात्मक अवतरणोंके अतिरिक्त बहुत-से मुक्तक अवतरण भी हैं, जिनमें प्रेम-सौन्दर्य, वीरत्व और सामन्त युगोचित ओज व्यंजित है। विषय और शिल्पकी दृष्टिसे इन अवतरणोंमें लोक और शास्त्रका मेल है। गाँवकी गोरीका यह रूप चित्र, अपनी सहजतामें मोह लेता है—

गोरी अंगणे सुप्पन्ति दिट्ठा।
चन्दहो उप्परि जोण्ह विउच्छट्टा॥

गोरी अपने आंगनमें सो रही है मानो चाँदने चाँदनी बखेर दी हो। एक और ग्रामीणा अपनी विवशता माँको कह रही है।

काइं करउं हउं माए पिउ ण गणइ लग्गी पाए।
मण्णु धरन्त हो जाइ कठिण अंतरंग मणाइ॥

माँ मैं करूँ भी तो क्या? मैं पैरों पड़ती हूँ, पर वह (प्रिय) मानता ही नहीं। वह मनमें रूठकर चला जाता है। प्रेमको वैयक्तिक निष्ठापर कवि गोइन्द कहते हैं—

कमलह कुमुदह एक्कहिं उप्पत्ति।
ससि तो वि कुमु आयरइ॥
देइ सोक्खु कमलह दिवाअरु।
पाविज्जइ अवस फलु॥
जेण जस्स पासे ठवेइउ॥

कमल और कुमुद एक जगह उत्पन्न होते हैं। पर चन्द्र कुमुदोंको सुख देता है और सूर्य कमलोंको। जो जिसका होकर रहता है, वह उसका फल अवश्य पाता है।

चन्द्रमाके उदयका भी एक दृश्य है—

ससि उग्गमउ ताम जेण यह अंगसा मंडिअउ।
णं रइ रहचक्क दीसइ अरुणें छड्डिअउ॥

इतनेमें चन्द्रमा ऊग आया। आसमान सौन्दर्यसे खिल उठा। वह ऐसा लगता है मानो अरुणने रतिका चक्र चलाया हो।

कवि शुद्धशीलने वर्षाका बहुत ही स्वाभाविक चित्रांकन किया है।

पहु सकद्दमु णहु सकोअ, महि सरस, सलिल सरस
सरव मेह, दिसि बहल विज्जुल
पहिअ-जण-मण-मोह-अरु सवरि चारु पाउसु॥

रास्ता कीचड़-भरा है और आसमान गुस्सेसे भरपूर। धरती सरस है और सलिल भी। मेघ गरज रहे हैं, दिशाएँ बिजलियोंसे भरी हैं। पथिकोंके मन झूम उठे हैं। सुहावनी वर्षा ऋतु आ गयी है।

बसन्तमें खिले हुए टेसूके फूलके माध्यमसे कामदेवकी यह गवेषणा भी द्रष्टव्य है।

णव फग्गुणे, गिरि सिहरोवरि फुल्लपलासु।
को डड्ढु मे को ण डड्ढु जोइवि हुआसु॥

फागुनका नया-नया महीना। पहाड़की चोटीपर फूला हुआ टेसूका फूल। मानो उसके बहाने कामदेव देख रहा है कि उससे कौन जला है और कौन नहीं जला।

जिस युगकी अपभ्रंश कविताकी झलक यहाँ दी जा रही है, भारतीय इतिहासका वह सिद्ध सामन्त युग था। यह युग राजपूतोंके आपसी द्वन्द्व और अरबोंकी घुस-पैठका युग था। इस युगके प्रमुख आदर्श थे, शौर्य आतंक और सौन्दर्य भोग। जो ऐसा करनेमें समर्थ नहीं था, उसका न होना ही अच्छा था।

ते जाए कवणु गुणु वद कुमारी बिम्ब फल वंचिउ।
किं तणस्स जेण जाएण पअपूरणपुरुसेण॥

जिसके होनेसे शत्रु काँपा नहीं, जो सुन्दरियोंके कटाक्षोंसे वंचित रहा; उस बेटेके होनेसे क्या, और न होनेसे क्या?

भक्तिपरक कविता भी इस युगकी अपनी विशेषता है। निम्नलिखित अवतरणमें भक्तिका लक्ष्य स्वयं भक्ति है—

जइवि ण रूसइ जइवि ण तूसइ जइवि ण दय करइ ।
सो वि मराला जिणवर हिअए खव न वीसरइ ॥

वस्तुतः भक्तिका मुख्य प्रयोजन चित्तकी शुद्धि है । अतः भगवान्‌को याद रखना जरूरी है ? किसलिए ? इसका उत्तर है कि मनुष्य कभी यदि अपनी क्षुद्र सीमाओंसे ऊपर उठेगा तो शायद प्रभुकी यादके द्वारा ही । इसी तरह नाम महत्त्व और अनन्य निष्ठाके भी अवतरण संग्रहीत हैं ।

इस प्रकार, प्रस्तुत विवेचनके साक्ष्यपर यह सिद्ध है कि स्वयंभू युग—अपभ्रंशका एक फला-फूला युग था । उसमे सब रंगके फूल थे । भारतीय काव्यकी सारी प्रवृत्तियाँ अपने युगकी छापके साथ उसमें विद्यमान हैं ।

१२. सन्देशरासक और रासोकाव्य

'सन्देशरासक' शीर्षकसे स्पष्ट है कि यह विप्रलम्भकी रचना है । 'सन्देश' 'विरह' का सूचक है, और 'रासक' उसके शिल्पका । 'रासक' मध्ययुगके साहित्य-शिल्पका एक विवादग्रस्त शब्द है । हरिवंशपुराण और श्रीमद्‌भागवतमे 'रास' गीत नृत्यके लिए प्रयुक्त हुआ है । धनंजयने 'देश-रूपक' में रासकको रूपकका एक भेद माना है । सरस्वतीकण्ठाभरणमें भी इस शब्दकी चर्चा है : वाग्भट्ट और हेमचन्द्र भी इसका उल्लेख करते हैं । स्वयंभूने रासाबन्धका उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त रासा जातिके छन्द भी होते है । इन सब तथ्योंके विश्लेषणसे यही लगता है कि प्रारम्भ-में 'रास' एक सामूहिक गीत-नृत्य रहा होगा । बादमे उसका गेय रूपकके रूपमें विकास हुआ । और तब प्रबन्ध शैलीके रूपमे । बारहवीं सदीमें रासाकाव्यकी इस प्रकार, कई शैलियाँ निखार पा चुकी थीं । डॉ० भायाणी रासकको एक काव्यात्मक रचना मानते है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसका एक अर्थ, मनोरंजन या खेल किया है । दूसरी ओर वही, अपने हिन्दी साहित्यमें 'सन्देशरासक' को गेय मानते हैं । प्रस्तुत तथ्योंके साक्ष्यपर यही कहा जा सकता है कि 'रासा' दुहरी भूमिका अदा करता रहा । लोक-परम्परामें वह गेय और नाट्यका प्रतिनिधित्व करता था और साहित्यिक परम्परामे प्रबन्ध काव्यका । अतः इस नामको लेकर, एक निश्चित साहित्यिक विधाकी कल्पना करना ठीक नहीं । यही कारण है कि डॉ० द्विवेदीने पहले इसे 'गेयकाव्य' माना था, पर अब वे उसे क्षीणप्रबन्धधर्मा (देखिए सन्देशरासकका अनुवाद) मानने लगे

हैं। 'रासक' प्रबन्ध काव्य भी हो सकता है और खण्ड-काव्य भी। उसकी एक गेय शैली भी थी, जो छोटी रचना होती थी। 'रासो' या रासकके सम्बन्धमें विषय और रसकी सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। हमारा अनुमान है कि अपभ्रंश कालमें ऐहिक व्यक्तियोंपर जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये, उन्हें प्रायः 'रासोकाव्य' कहा गया, वस्तुशिल्प आदिमें ये अपभ्रंश चरित काव्योंके काफ़ी निकट हैं, अपभ्रंश चरित काव्य, आध्यात्मिक और पौराणिक पुरुषोंके कथानकको लेकर चलते हैं, जब कि ये रासोकाव्य लौकिक समकालीन इतिवृत्तोंको। अतः सन्देशरासक खण्ड काव्य है न कि गेय काव्य।

१३. रामकथाकी दो धाराएँ

जैन साहित्यमें रामकथाकी दो धाराएँ हैं—एक विमल सूरिकी और दूसरी आचार्य गुणभद्रकी। पहली कथाका अनुकरण रविषेण और स्वयंभूने किया है। यह आदिकविकी रामकथाके बहुत निकट है। दूसरी कथाका अनुसरण पुष्पदन्तमें है। इसके अनुसार, राजा दशरथ काशीके राजा थे। उनकी तीन रानियाँ थीं। सुबालासे राम, कैकेयीसे लक्ष्मण, और साकेतपुरीकी रानीसे भरत एवं शत्रुघ्न, ये चार पुत्र उन्हें हुए। सीता, मन्दोदरीकी लड़की थी। अनिष्टकी आशंकासे, रावणने मंजूषामें बन्द कर उसे मिथिलामें गड़वा दिया। वह कन्या जनकके हाथमें पड़ी। यज्ञकी रक्षाके लिए जनकने राम-लक्ष्मणको बुलवाया। राम और सीताका विवाह हो गया। दशरथकी आज्ञासे दोनों भाई काशीका राज्य देखने लगे। यज्ञमें आमन्त्रित न होनेसे, रावण जनकसे नाराज़ था। इधर नारदने जाकर, रावणसे सीताके रूपकी प्रशंसा कर दी। वह मारीचकी सहायतासे सीता देवीको छलकर ले गया। इस समय राम चित्रकूटमें वनविहार कर रहे थे। रामने हनुमानकी सहायतासे सीतादेवीका पता लगा लिया। लंकापर चढ़ाई करके लक्ष्मण रावणका वध कर देते हैं। अयोध्या वापस आकर वे ऐश्वर्यका उपभोग करते हैं। रामकी ८ हज़ार रानियाँ थीं और लक्ष्मणकी १६ हज़ार। भरत और सीता निर्वासनकी घटनाएँ इसमें नहीं हैं। किसी असाध्य रोगसे लक्ष्मणकी मृत्यु हो जाती है। रामने उसके पुत्र पृथ्वीसुन्दरको राजपाट दिया। और अपने पुत्र अजितंजयको युवराज बनाया। संन्यास लेकर रामने मोक्ष प्राप्त किया। उनकी रानियोंने भी दीक्षा स्वीकार की।

■

सहायक ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

१. पउम चरिउ (भाग १, २, ३) : सम्पादक डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथम संस्करण १९५३ ई० ।

२. महापुराण (भाग १, २, ३) : कवि पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० पी० एल० वैद्य, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण क्रमशः १९३७, १९४०, १९४१ ।

३. जसहर चरिउ : पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० पी० एल वैद्य, कारंजा जैन सिरीज, प्रथम संस्करण १९३१ ।

४. णायकुमार चरिउ : पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, बलात्कारगण ग्रन्थ प्रकाशक मण्डल, कारंजा, प्रथम संस्करण, १९३३ ।

५. भविसयत्त कहा : कवि धनपाल, सम्पादक स्व० सी० डी० दलाल, स्व० पाडुरंग दामोदर गुणे, सेण्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा, प्रथम संस्करण १९२३ ई० ।

६ पउम सिरि चरिउ : कवि धाहिल, सम्पादक श्री मधुसूदन चि० मोदी, श्री हरिवल्लभ चु० भायाणी, सिं० जै० शा० शि० पीठ, भा० वि० भ० बम्बई, प्रथम संस्करण १९४८ ।

७. करकण्ड चरिउ : मुनि कनकामर, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी (बरार), प्रथम संस्करण १९३४ ।

८. सन्देश रासक : अब्दुल रहमान, सम्पादक मुनि जिनविजय, डॉ० भायाणी, सि० जै० शा० शि० पीठ, भा० वि० भ०, बम्बई, १९४५ ई० ।

९. अपभ्रंश काव्यत्रयी : जिनदत्त सूरी, सम्पादक लालचन्द भगवानदास गान्धी, जैन पण्डित ओरिएण्टल इस्टीच्यूट बड़ौदा, १९२७ ई० ।

१०. बौद्ध गान औ दोहा : विविध, सम्पादक म० म० हरप्रसाद शास्त्री, वंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, द्वितीय संस्करण ।

११. प्राकृत पैंगल : विविध, सम्पादक चन्द्रमोहन घोष एम० बी० बी० ए०, एसियाटिक सोसाइटी, ५७ पार्क स्ट्रीट, प्रथम संस्करण १९०१, १९०२।

१२. सावयधम्म दोहा : सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, का० जै० प० सो०, १९३२ ई०।

१३. पाहुड़ दोहा : मुनि रामसिंह, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, का० जै० प० सो०, प्रथम संस्करण १९३३ ई०।

१४. परमात्म प्रकाश और योगसार : जोइन्दु, सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण १९३७ ई०।

१५. प्रबन्ध चिन्तामणि: मेरुतुंगाचार्य, सम्पादक मुनि जिनविजय, प्रथम संस्करण १९३३।

१६. कुमारपाल प्रतिबोध:सम्पादक मुनि जिनविजय, भा० वि० म०।

१७. पुरानी हिन्दी : सम्पादक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ना० प्र० सभा, काशी।

सहायक ग्रन्थ

१८. हिन्दी साहित्यका आदिकाल : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन् १९५२।

१९. नाथ सम्प्रदाय : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, सन् १९५०।

२०. कबीर : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हि० ग्र० र० का० बम्बई, सन् १९५३।

२१. हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सन् १९५२।

२२. हिन्दी साहित्यका इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, सन् १९९९।

२३. चिन्तामणि : रामचन्द्र शुक्ल।

२४. जायसी ग्रन्थावली।

२५. रामचरित मानस : सं० २२, गीताप्रेस गुटका।

२६. वीर काव्य : डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।

२७. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर बनारस, सन् १९४८।

२८. मराठी सन्तोंका सामाजिक कार्य : डॉ० विष्णु, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-४, सन् १९५४।
२९. विश्वधर्म दर्शन : सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, सन् १९५३।
३०. रीतिकालकी भूमिका : डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली, सन् १९४९।
३१. परिमल : सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, सं० २००७।
३२. रत्नाकर : सं० ४ सेनापति, हिन्दी परिषद्, प्रयाग वि० विद्यालय।
३३. आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा, साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
३४. आधुनिक कवि : सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३५. गीतकार विद्यापति : राम वशिष्ठ, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सन् १९५४।
३६. चौलुक्य कुमारपाल : लक्ष्मीशंकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४।
३७. संस्कृत साहित्यका इतिहास : बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, सन् १९४२।
३८. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी, हि० ग्रं० र० का० बम्बई, सन् १९४२।
३९. सिद्धान्त और अध्ययन : गुलाबराय एम० ए०, आत्माराम एण्ड सन्स।
४०. बौद्धगान और दोहा : श्री राहुल सांकृत्यायन।
४१. प्राकृत व्याकरण : त्रिविक्रम, सम्पादक श्री पी० एल० वैद्य०।
४२. भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान : डॉ० हीरालाल जैन।
४३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी : सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
४४. प्राकृत-भाषा : डॉ० प्रबोध पण्डित, जैनाश्रम बनारस, सन् १९५५।
४५. प्राचीन भारत : गोरखनाथ चौबे, सन् १९५०।
४६. श्री जैनसिद्धान्त भास्कर : जैन सिद्धान्त भवन, आरा।
४७. अनेकान्त : वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।

४८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका : ना० प्र० सभा काशी ।
४९. धर्म और दर्शन : बलदेव उपाध्याय ।
५०. अर्थशास्त्र : कौटिल्य, अनु० पं० गंगाधर, गीताप्रेस शामली, (वि० २०१०)
५१. नाट्यशास्त्र : भरत मुनि, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९२९ ।
५२. कामसूत्र वात्स्यायन : वि० वि० प्रे० बनारस, सन् १९२९ ।
५३. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, अनु० शालिग्राम शास्त्री, द्वि० सं०, वि० सं० १९९१ ।
५४. काव्यालंकारसारसंग्रह : उद्भट, नारायण दशरथ, बनहट्टी, सन् १९२५ ।
५५. काव्यालंकार सूत्राणि : निर्णयसागर प्रेस, सं० ४, सन् १९५३ ।
५६. काव्यानुशासन : हेमचन्द्राचार्य, निर्णयसागर, सन् १९३४ ।
५७. प्राकृत व्याकरण : ले० प्र० वही ।
५८. रघुवंशमहाकाव्यम् : पं० पुस्तकालय, काशी ।
५९. विश्वलोचन कोश : श्रीधरसेनाचार्य, प्रकाशन सन् १९१२ ।
६०. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन : वासुदेवशरण अग्रवाल, सन् १९५३ ।
६१. काव्यमीमांसा : राजशेखर, अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, वि० रा० भा० प० पटना, सन् १९५४ ।
६२. अलंकार सर्वस्व : शारदा ग्रन्थमाला, काशी ।
६३. काव्यादर्श : दण्डी, अनु० व्रजरत्नदास, काशी ।
६४. काव्यालंकार : भामह, वि० वि० प्रेस, काशी, सन् १९८५ ।
६५. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर : कृष्णकान्त हान्दिकी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, सन् १९४९ ।
६६. हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत लिटरेचर : बेरिडेल कीथ, ऑक्सफ़ोर्ड यू० प्रेस ।
६७. संस्कृत साहित्यका इतिहास : डॉ० कीथ, अनुवादक डॉ० मंगलदेव शास्त्री ।
६८. ए हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ् अपभ्रंश : गजानन वासुदेव तगारे ।

६९. ऐंसिएण्ट इण्डिया : आर० सी० मजूमदार, एच० सी० राय चौधरी, कालिका दत्त, सन् १९५१ ।
७० प्री हिस्टोरिक ऐंसिएण्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया : आर० डी० बनर्जी ।
७१. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, डिपार्ट (१९५०)।
७२. दी जैनस् इन दी हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर : डॉ० बिटरनित्स, जिनविजय ।
७३. मिडिवल जैनिज्म : सोलेटोर ।
७४. रामकथा : श्री बुल्के, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, नवम्बर १९५० ।
७५ मानसकी रामकथा : परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, सन् १९५३ ।
७६. घनानन्द : श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, बनारस ।

■